प्रकाशक
हिंदी-साहित्य-कुटीर
बनारस

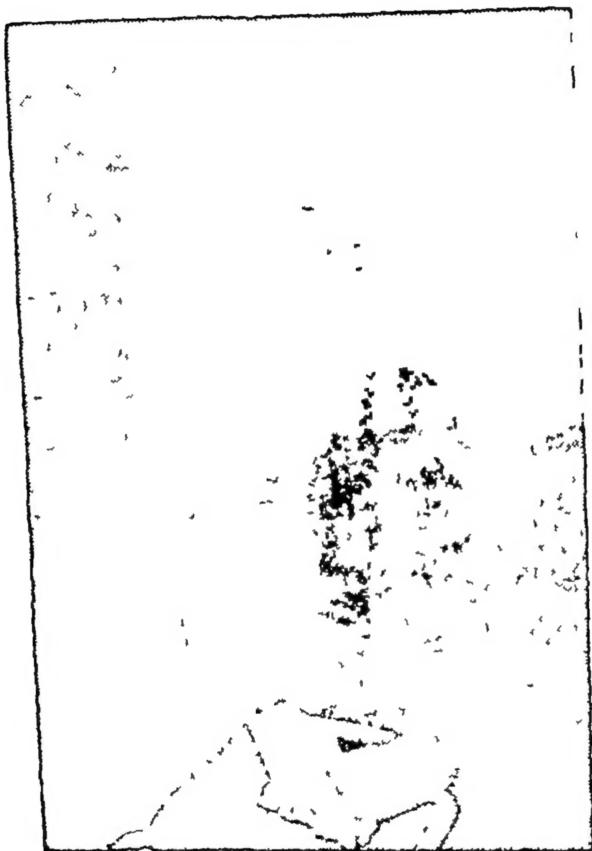
[५८-५१]

मुद्रक—
ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस काशी

प्रकाशक
हिंदी-साहित्य-कुटीर
बनारस

[५८-५१]

मुद्रक—
ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस काशी



ग्रन्थकार—

साहित्यवाचस्पति, साहित्यरत्न, कविसम्राट्

स्व० प० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

विशेष वक्तव्य

'रसकलस' का जन्म देना सामयिक है या नहीं, इसका विचार
सिक वृंद करें। मुझे जो निवेदन करना है, उसे निवेदन करता हूँ।
ह सच है कि व्रजभाषा का वह आदर अब नहीं रहा, किंतु यह भी
त्य है कि जबतक वह बोलचाल की भाषा है, तबतक उसमें जीवन
। उसकी पद अर्चना करनेवाले आज भी पर्याप्त संख्या मे मौजूद हैं,
ौर उस समय तक उपस्थित रहेंगे, जबतक उसके बोलनेवाले धराधाम
र विद्यमान रहेंगे। भारतवर्ष की जितनी प्रांतिक भाषाएँ मरहठी,
गला, पंजाबो और गुजराती आदि हैं, उन सबमें रचनाएँ हो, भोज-
ुरी और मैथिली जैसी बोलियो में कविताएँ लिखी जावें, किंतु व्रज-
ाषा का ही सह स्वत्व छीन लिया जावे, ऐसा कहना न्यायसंगत नहीं।
ो जिसका प्राकृत अधिकार है, उससे उसको वंचित करना टेढ़ी खीर
ै, यह किसी के बूते की बात नहीं। इसलिये यह कहना कि अब व्रजभाषा
ें कविता करना झख मारना और समय-प्रवाह के विरुद्ध चलना है,
दि प्रमाद नहीं तो अज्ञान अवश्य है। रही शृंगार रस की बात, इस
िषय में मुझे यह कहना है, कि क्या शृंगार रस की रचनाएँ इस योग्य
ै कि उनको वक्र दृष्टि से देखा जावे, और उनकी कुत्सा की जावे।
दापि नहीं, शृंगार रस ही साहित्य का शृंगार है, जिस दिन वह इस
ौरव से वंचित होगा, उसी दिन उसका सौंदर्य नष्ट हो जावेगा।
ृंगार रस पर जो खड्ग-हस्त हैं, वे उसका मर्म जानते ही नहीं; वे अमृत
ो विष समझ रहे हैं। अश्लील शृंगार रस अवश्य निंदनीय है, फिर
ी उस निंदा की सीमा है, जहाँ वह किसी कला का अंग होगा, वहाँ
सको उसी दृष्टि से ग्रहण करना होगा। जिन्होंने शृंगार रस की कुत्सा
रने का बीड़ा ले रखा है वे कलेजे पर हाथ रखकर बतलावें कि क्या

वे सचमुच हृदय से उसे कुत्सा योग्य समझते हैं, या अंध-परंपरा में पड़े हैं। यदि वास्तव में हृदय से उसे ऐसा समझते हैं, तो उनकी रचनाओं में उसका स्रोत क्यों वह रहा है ? और वे क्यों उसकी सरसता, मोहकता और व्यापकता पर लट्टू हैं। समझ लेना चाहिये नायिका भेद की रचनाएँ ही शृंगार रस नहीं हैं। जिन निरूपणों में प्रेम का आभास है, जिन कविताओं में प्रकृति की छटाओं का वर्णन है, जहाँ मधुरता, सरलता, हृदयग्राहिता, और सौंदर्य्य है, वहीं शृंगार रस विराजमान है।

मैं वह स्वीकार करता हूँ कि प्राचीन प्रणाली का अनुकरण ही आजकल भी अधिकाश वर्त्तमान व्रजभाषा के कवि कर रहे हैं, निस्सदेह यह एक वहुत वड़ी त्रुटि है। समय को देखना चाहिये, और सामयिकता का अपनी कृति में अवश्य स्थान देना चाहिये। देश-संकटों की उपेक्षा देश-द्रोह है, और जाति के कष्टो पर दृष्टि न डालकर अपने रग मे मस्त रहना महान् अनर्थ। मातृभूमि की जिसने उचित सेवा समय पर न की वह कुल-कलक है, और जिसने पतित समाज का उद्धार नहीं किया वह पामर। यह विचार कर ही प्राचीन प्रणाली के कवियो की दृष्टि इधर आकर्पण करने के लिये 'रसकलस' की रचना की गई है। आजतक जितने 'रस-ग्रथ' वने हैं, उनमें शृंगार रस का ही अयथा विस्तार है, और रसो का वर्णन नाम मात्र है। इसके अतिरिक्त संचारी भावो के उदाहरण भी प्राय. शृंगार रस के ही दिये गये हैं, ऐसा न करके अन्य विपयों का उदाहरण भी उनमें होना चाहिये था। 'रसकलस' में इन सब बातों का आदर्श उपस्थित किया गया है, और वतलाया गया है कि किस प्रकार अन्य रसों के वर्णन का विस्तार किया जा सकता है, और कैसे जाति, देश और समाज सशोधन सवंधी विपयों को उनमें और सचारी भावों मे स्थान दिया जा सकता है। इस ग्रंथ में देशप्रेमिका, जातिप्रेमिका और समाजप्रेमिका आदि नाम देकर कुछ ऐसी नायिकाओं की भी कल्पना की गई है, जो विल्कुल नई है, परंतु समाज और

साहित्य के लिये वड़ी उपयोगिनी है। इस समय देश मे जिन सुधारों की आवश्यकता है, जिन सिद्धांतो का प्रचार वांछनीय है, उन सवो पर प्रकाश डाला गया है, और उनके सुंदर साधन भी उसमे वतलाये गये हैं। पाश्चात्य विचारो के प्रवाह मे पड़कर देश की कुलांगनाओं में, अंध अनुकरणकारियो एवं विदेशी भावो के प्रेमियों में जो दोप आ रहे हैं, उनका वर्णन भी उसमें मिलेगा, साथ ही उनकी भर्त्सना भी। नव रसो मे शृंगार रस प्रधान है, इसलिये ग्रंथ मे उसके सव अंगों का वर्णन है, किंतु कविता की भापा संयत है। कुछ अत्यंत अश्लील विपयों को छोड़कर शृंगार रस-संवंधी सव विपय मैंने ले लिये हैं, और सव का वर्णन यथास्थान किया है; केवल इस उद्देश्य से कि जिसमें यह वतलाया जा सके कि जहाँ अश्लीलता की संभावना हो, वहाँ संयत और गूढ भापा लिखकर किस प्रकार उसका निवारण किया जा सकता है। संभव है कहीं मैं अपने इस उद्देश्य मे पूर्णतया सफल न हो सका होऊँ, परंतु ऐसे स्थल को अधिकांश कविताओं को विचारपूर्वक पढ़ने से प्रत्येक सहृदय पुरुपों पर प्रकट हो जावेगा कि मैंने इस विपय में कितना परिश्रम किया है और कितनी सावधानी से काम लिया है। मैं ऐसे कुछ और विपयों को भी छोड़ सकता था, परंतु ऐसा करने पर मेरे उद्देश्य में व्याघात होता, अतएव मैं उन्हें न छोड सका। व्रजभापा में 'रसविलास' 'रसराज' और 'जगद्विनोद' आदि ऐसे वड़े अपूर्व 'रसग्रंथों' के होते, 'रसकलस' की रचना की कोई आवश्यकता नहीं थी, और न मैं ऐसा करता, यदि इन उद्देश्यो से मैं प्रेरित न होता, और यदि प्राचीन प्रणाली के कवियों की दृष्टि को सामयिकता और देश-प्रेम की ओर आकृष्ट करना इष्ट न होता। मैं नहीं कह सकता कि अपने उद्देश्य में मुझको कितनी सफलता मिली, परंतु वास्तविक वात का प्रकट करना आवश्यक था। सहृदय विवुध समाज मेरे कथन को कहाँ तक स्वीकार करेगा, यह समय वतलावेगा।

इस समय हिंदी ससार के कुछ विद्वानों की शृंगार रस पर बड़ी कड़ी दृष्टि है, सभव है ग्रथ में कुछ ऐसा स्थान या अंश पाया जावे, जो उन्हें अश्लील ज्ञात हो। ऐसी दशा में उन सज्जनों से मेरा निवेदन यह है कि ग्रथ के कुछ अशों अथवा विशेष स्थानों के आधार से उसके विषय में कोई सिद्धात निश्चित करना युक्ति-सगत न होगा। ग्रंथ के अधिकांश स्थानों को देखकर ही मेरे उद्देश्य की उचित मीमांसा हो सकेगी। दूसरी बात यह कि अश्लीलता का निर्णय उचित दृष्टि से ही करना पड़ेगा, दोष-प्रदर्शन की दृष्टि से नहीं। आलोचक को न्याय तुला हाथ में रखना चाहिये और आवेश में न आना चाहिये, अन्यथा सत्य का अपलाप होगा। प्राय. देखा गया है कि एक विद्वान् जिसे अश्लील नहीं मानता, दूसरा उसी को अश्लील मानकर वाद करने के लिये कमर कस लेता है। इसका हेतु रुचिवैचित्र्य अथवा मत-भेद है—जो सर्वत्र दृष्टिगत होता है। दोनों आलाचना-विचार के उत्पादक हैं, किंतु अविवेक उन्हें उत्पीड़क वना देता है। मैं अश्लीलता के विषय में पहले बहुत कुछ लिख चुका हूँ, इससे इस विषय में यहाँ विशेष लिखना पिष्ट पेषण मात्र होगा। परतु इतनी प्रार्थना अवश्य है कि अश्लीलता की मीमासा के समय अपने पक्ष को न देखकर दूसरे के पक्ष को भी देखना चाहिये। शरीर में ऐसे अनेक पदार्थ हैं, जो उससे अलग होकर अश्लीलतम बन जाते हैं, परतु अपने स्थान पर उनकी उपयोगिता असदिग्ध है। मेरे कथन का यह प्रयोजन नहीं कि ग्रथ के गुण दोष की आलोचना न की जावे, और जहाँ जहाँ वास्तव में अश्लीलता हो, उससे मुझे अभिज्ञ न किया जावे। प्राय: मनुष्य अपने दोषों के विषय मे अधा होता है, इसलिये यदि बंद आँखें खोल दी जावें, इससे बढकर दूसरी कौन कृपालुता होगी? आँखें खुल जाने पर अथवा अपना दोष जान लेने पर मैं सावधान तो हो ही जाऊँगा, दूसरे सस्करण मे ग्रंथ के सशोधन की भी चेष्टा करूँगा। इसलिये जिस मार्ग से ऐसे दो महान् कार्य्य हो सकें उसको रोकने की चेष्टा में

क्यों करूँगा ? केवल विद्वज्जन से इतनी ही प्रार्थना है, कि विचार के समय उचित विवेक दृष्टि से ही काम लिया जावे।

इस ग्रंथ को, विशेषकर भूमिका के लिखने में मुझको जितने ग्रंथों से सहायता मिली है, उनकी एक तालिका ग्रंथ में लगा दी गई है। मैं इन सब ग्रंथो के रचयिताओं को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, और उनका बहुत बड़ा आभारी हूँ। क्योकि मेरे ग्रंथ में जो कुछ विभूति है, वह सब उन्हीं के विशद ग्रंथो अथवा उन्हीं के ग्रंथो से उद्धृत विशेष अंशो का प्रसाद है। मैं क्या और क्या मेरी प्रतिभा, यदि इन ग्रंथो का अवलंबन न होता, तो शायद मैं इस ग्रंथ की रचना में समर्थ न होता। भूमिका मे मैंने 'साहित्यदर्पण' और 'रसगंगाधर' से बहुत अधिक सहायता ली है। 'साहित्य-दर्पण' की साहित्याचार्य्य श्रीमान् पं० शालिग्रामशास्त्री विरचित 'विमला' नाम्नी हिंदी टीका, और श्रीमान् पंडित पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी के 'हिंदी-रसगंगाधर' से मुझको संस्कृत के वाक्यों और अवतरणो का हिंदी अनुवाद प्राप्त करने में बहुत बड़ी सहायता मिली है, मैंने प्रायः यथातथ्य उन्हीं के हिंदी अनुवाद को अपने ग्रथ में रख दिया है, अतएव मैं इस विषय मे उन दोनों सज्जनो का विशेष ऋणी हूँ। मैंने रसो अथवा संचारी भावादि के लक्षण स्वयं लिखे हैं, किंतु कहीं-कहीं किसी-किसी ग्रंथ के लक्षणों को ही उत्तम समझकर अपने ग्रथ मे उठाकर रख दिया है; मैं इसके लिये उन ग्रंथों के रचयिताओं का भी कम उपकार नहीं मानता।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

२-८-३१

प्राक्कथन

अत्यंत प्रसन्नता का अवसर है कि इधर हमारी भाषा और हमारे साहित्य की उत्तरोत्तर श्रीवृद्धि होती जा रही है, प्रत्येक विद्वान् और सुयोग्य महानुभाव इनकी उन्नति के लिये अनुदिन तन, मन, धन से प्रयत्नशील हो रहा है। नये-नये सुंदर-सराहनीय ग्रंथ-रत्नों से भाषा-भंडार के भरने का स्तुत्य कार्य किया जा रहा है। विशेष प्रसन्नता होती है यह देखकर कि अब हमारे विद्वज्जन स्थायी साहित्य के निर्माण में भी नवीन विधानों के साथ, वैज्ञानिक ढंग से, अपनी सुरुचि दिखलाने लगे हैं और ऐसे-ऐसे ग्रंथ-रत्न उपस्थित करने लगे हैं जिन पर वास्तव में हिंदी-भाषा-भाषियों को गर्व हो सकता है और जो अन्य भाषाओं के रत्नों की श्रेणी में रखे जाकर भी निस्संकोच भाव से मूल्यवान् कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ-रत्न 'रसकलस' इसी प्रकार का एक परम मूल्यवान् , नया अथच न्यारा रत्न है। हम मुक्तकंठ से कहते हैं कि यह ग्रंथ हिंदी-साहित्य की रीति-ग्रंथ-माला में सुमेरु के समान ही सर्व-शिरोमणि है। रस-सिद्धांत पर इधर वैज्ञानिक विवेचन की शैली से कोई भी सुंदर सर्वांगपूर्ण ग्रंथ न लिखा गया था, अतएव इस प्रकार के एक ग्रंथ की महती आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति श्री० उपाध्यायजी ने इस ग्रंथ-रत्न के द्वारा करके हिंदी-साहित्य तथा तत्प्रेमियों का चिर-स्मरणीय हित किया है। प्राचीन कवियों में से कुछ ने इस विषय पर अपने रीति ग्रंथों में प्रकाश डाला है अवश्य, किंतु बहुत ही सूक्ष्म रीति से। उनका प्रधान उद्देश्य अपने काव्य एवं कवित्व का प्रदर्शन करना मात्र था, वे वास्तव में कवि-कर्म-कुशल कलाकार थे, काव्य-शास्त्र-सुधा-रसाम्बुधि-सिद्धांत-तरंगस्नात आचार्य न थे। इसीलिये उन्होंने केवल मूल बातें देकर उनकी उदाहरण-रचना को ही अपना अभीष्ट लक्ष्य रखा था

और तदनुसार आचरण भी किया था। उनके ग्रंथों में सिद्धांत-समीक्षा या मीमांसा तो एक प्रकार से गौण और उदाहरण-रचना-कौशल का प्रदर्शन ही प्रधान है। इसके साथ ही कुछ कवियों ने तो रस सिद्धांत का पूरा प्रदर्शन भी नहीं किया, उसके किसी एक विशेष अंग पर ही प्रकाश डाला है। नखशिख-वर्णन और नायक-नायिका का भेद ही प्रायः रचना के लिये प्रधान विषय रहे हैं, जगद्विनोदादिक पुस्तकें इसके उदाहरण हैं। तात्पर्य यह है कि इस विषय की मार्मिक तथा विस्तृत विवेचना को ओर हमारे विद्वानो ने कोई विशेष ध्यान न दिया था।

यद्यपि इस समय इस विषय की दो-चार पुस्तकें हिंदी-साहित्य-सद्म में उपस्थित हैं, जिनमें से श्री० अयोध्या-नरेश कृत "रस-कुसुमाकर", "हिंदी-काव्य में नव रस" एवं "काव्य-प्रभाकर" अति प्रधान और प्रचलित मानी जाती हैं, किंतु वास्तव में ये सब पुस्तके सर्वांगपूर्ण, सुव्यवस्थित तथा वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से संतोषप्रद नहीं सिद्ध होतीं। इस अभाव की ऐसे सुंदर ग्रंथ के द्वारा स्तुत्य पूर्ति करने के लिये श्री० उपाध्यायजी को जितना भी साधुवाद दिया जाय, थोडा ही है। इस ग्रंथ-रत्न से उपाध्यायजी कवि-काव्याचार्य-श्रेणी में उच्चस्थान प्राप्त कर अमर यश के भव्य भाजन होते हुए शाश्वत स्मरणीय हो गये हैं।

यथार्थ मे काव्यशास्त्र के ऐसे गूढ़ और जटिल विषयों पर प्रकाश डालने के लिये कमनीय कवि-कर्म-कौशल, काव्य-कला-कोविदत्व और विशद विद्वत्ता की आवश्यकता है। केवल कवि-प्रतिभा ही न तो इसके शास्त्रीय विवेचन में सफल और समर्थ सिद्ध होती है और न केवल विद्वत्ता या आचार्य्यता ही सर्वथा पर्याप्त हो सकती है। वस्तुतः काव्य-शास्त्र के मार्मिक विवेचन के लिये कवि-प्रतिभा और विद्वत्ता दोनों की समान रूप से आवश्यकता है। कहा भी गया है—

"कविः करोति काव्यानि मर्म जानाति पंडितः"—तथा—

"अपूर्वो भाति भारत्या काव्यामृतफले रसः"
"चर्वणे सर्वसामान्यं स्वादवित्केवल कवि."।

कहना न होगा कि श्री० उपाध्यायजी में दोनों गुण सुंदर रूपों में विद्यमान हैं। आप उच्चकोटि के "कवि-सम्राट" भी है और प्रशस्त काव्याचार्य भी हैं, इसीलिये आप काव्य-कला के सभी प्रकार मान्य, मर्मज्ञ और काव्य-कौशल-तत्वज्ञ हैं। हो सकता है कि कुछ लोग हमारे इस कथन पर किसी कारण कुछ किंतु-परंतु करते हुए नाक-भौं सिकोड़ें, किंतु न्याय के लिये हम उसकी सर्वथा उपेक्षा ही करते हैं। "सत्ये नास्ति भय क्वचित्" पर विश्वास रखकर हम स्पष्टवादिता तथा सत्य-प्रियता को ही महत्त्व देते हुए उपाध्यायजी को वर्तमान समय का एक मात्र महाकवि तथा प्रशस्त अचार्य कहने में रचक भी नहीं हिचकिचाते।

यदि सत्य और न्याय को हृदय में रखकर देखा और कहा जाय तो उपाध्यायजी का स्थान इस समय हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में सर्वोच्च सिद्ध होता है। भाषा के समस्त प्रधान और साहित्यिक रूपों पर—चाहे वह खड़ी बोली हो, चाहे ठेठ हिंदी या कथित (So called) हिंदुस्तानी (चलती हुई बामुहावरा साधारण हिंदी), चाहे व्रजभाषा हो और चाहे अवधी, सभी पर आपको असाधारण और पूरा अधिकार प्राप्त है। उनके सब रूपों की समस्त उत्कृष्ट और साधारण शैलियो के सुप्रयोग मे भी आप सर्वथा सफल और प्रशस्तरूपेण पटु सिद्ध हुए है। आपके 'प्रिय प्रवास, चोखे चौपदे, बोलचाल, ठेठ हिंदी का ठाठ, कबीर-वचनावली की भूमिका, सभापति के रूप में दिये गये भाषण' आदि रचनाओं से आपकी खड़ी बोली के विविध रूपो और ढंगों में प्रकामाभिराम पटुता तो हिंदी-ससार को प्रकट हो ही चुकी है, अब इस "रस-कलस" के द्वारा आप की व्रजभाषा-मर्मज्ञता का भी यथेष्ट परिचय प्राप्त हो जायगा। वास्तव में ऐसी बहुमुखी प्रतिभा तथा पांडित्य-परिपुष्ट काव्य-कला-कुशलता के साथ भाषा-भांडार-भांडारिता विरले ही महापुरुषों के

सौभाग्य मे देखी जाती है। हम कह सकते हैं कि न केवल इस वर्त्तमान समय में ही उपाध्यायजी हिंदी-साहित्य-क्षेत्र मे सर्वोच्च कवि-कीर्ति की कल कमनीय-कांति-कौमुदी के कलित कलाधर हो रहे हैं, वरन् इसी प्रकार चिरकाल तक बने रहेंगे।

हिंदी-साहित्य के इतिहास से यह सर्वथा स्पष्ट है कि हिंदी-साहित्य के अलकृत या कला-काल मे रीति-ग्रंथो की रचना करने की एक परिपाटी चल पड़ी थी, जो लगभग दो सौ वर्ष तक बड़ी प्रवलता और प्रचुरता के साथ साहित्यागार को रुचिर रीति-ग्रंथों से सुसज्जित करती रही। इसी परिपाटी या प्रणाली के प्रावल्य-प्रभाव से प्रेरित होकर आचार्य महाकवि केशव, मतिराम, भूषण, देव, दास, पद्माकर आदि कविवरो ने अलंकार एवं रसादि-संबंधी कतिपय सुंदर ग्रंथ रचे थे। इस परंपरा को १८०० ई० के लगभग से शिथिलता प्राप्त हो चली और धीरे-धीरे वर्त्तमान समय मे इसका एक प्रकार से लोप-सा हो गया। इधर की ओर कुछ महानुभावो ने देश-काल के अनुसार रीति-ग्रंथों की रचना-शैली मे कुछ रूपांतर उपस्थित करने का सफल प्रयास किया और दोहा आदि छंदों मे न देकर गद्य में ही अलंकारादि की परिभाषाएँ देने तथा उनकी मार्मिक विवेचना करने की नवपद्धति चलाई। परंतु प्रायः विद्वानो ने अलंकार-विवेचन पर ही विशेष ध्यान दिया था, रस-सिद्धान्त के विवेचन की ओर वे अग्रसर न हुए थे। सच पूछिये तो रस, नायक-नायिका-भेद तथा नख-शिख-वर्णन वाली परंपरा की इस नव युग मे एक प्रकार से इतिश्री ही हो गई थी। परंतु श्री० उपाध्यायजी ने इस परंपरा को भी ठीक उसी प्रकार नये जीवन का दान दिया, जिस प्रकार आपने अपने परम प्रशस्त "प्रिय-प्रवास" के द्वारा कृष्ण-काव्य की परंपरा को विशेपत्व प्रदान किया है। कृष्ण-काव्य की रचना-परंपरा मे व्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा है क्योंकि वह उस व्रज की मंजु-मधुर भाषा है जहाँ व्रज-विपिन-विहारी ने अपनी अति प्रियशीला ललित लीला की थी। उपाध्यायजी ने उसमे

खड़ी बोली का संचार कर युगांतर ही उपस्थित नहीं कर दिया, वरन् खड़ी बोली को भी कृष्ण-लीला के सुधारस से सिंचित कर सजीवन रस प्रदान किया है। इतना ही नहीं, खड़ी बोली की कविता-कामिनी को भी उन्होंने सुधेय गेय गोविंद-पदारविंद-मकरंदानंद - सेविनी मलिंद-महिषी होने का सुअवसर दिया और इस प्रकार उसे सौभाग्य शालिनी भी बनाया है। संस्कृत सरस पद-विन्यास संयुक्त, भावमय, सु-प्रवृत्ति-संपन्न, सुवर्ण-वृत्तालंकृत और मोहन-मन-मोहिनी बनाकर उन्होंने सदा के लिये उसे जिस सरस सुमनासन पर बिठला दिया है वह भी सर्वसुलभ नहीं।

जिस प्रकार "प्रिय-प्रवास" के वाणी-विलासकर अनुपम आवास में आपने लोकोपकारादि अन्य, स्वभावजन्य, गेय गुणों को, विशद विकाश-प्रकाश देनेवाले, नये न्यारे रम्य रंगों से अनुरंजित, विविध विचार-विधि-व्यंजित, ब्रजेश के विचित्र चारु-चित्र चित्रित कर, समया-नुकूल मंजु-मौलिकता दिखलाई है, उसी प्रकार इस "रसकलस" में भी देश-कालोपयुक्त, युक्ति-युक्त, पाश्चात्य दुर्गुण-विमुक्त आर्यावर्तीय सभ्यता-संस्कृति-सुकृति सूचक, ध्रुवधार्य, आर्य कार्य के आदर्श उपस्थित कर, ब्रजभाषा को प्राचीन रचना - परंपरा में, भव्य रूपेण नव्य-मौलिकतामयी जीवन स्फूर्ति के द्वारा उसकी अपूर्ति में पूर्ति के लाने का भी सफल प्रयास किया है। कतिपय नई नायिकाओं की भी आपने देश-कालानुकूल मौलिक कल्पना की है—यथा देश-प्रेमिका, जाति-सेविका आदि, जो सराहनीय एवं अनुकरणीय है।

नायक-नायिका-भेद जैसे विषय पर रचना करते हुए भी आपने शिष्टता (श्लीलता) का सर्वत्र सुंदर और सराहनीय निर्वाह किया है। वस्तुत यह बड़ा ही कठिन कार्य है और आप ही जैसे सुयोग्य महाकवि का काम है। सर्वत्र भव्य भारतीय नव्य भावनाओं की ही गहरी छाप है, अपने ही समाज के सुंदर-स्तुत्य आचारों-विचारों की महत्ता-सत्ता

स्थान-स्थान पर दिखलाई गई है। दूर से देखने पर दिव्यदामाभिराम पाश्चात्य देशों के उन दुर्गुणों की मिथ्या मनोहरता के बड़ी युक्ति तथा मार्मिकता से दिखलाने की चेष्टा की गई है, जिनकी वहिरंग-रंग रुचिरता स समाकृष्ट हो, भ्रांत नवयुवक मृगतृष्णा में भूले-भटके तथा तंग आये कुरंग-वृंद-से पथ-भ्रष्ट अथच ताप-तप्त वन पश्चात् पश्चात्ताप करते फिरते हैं। यही उपाध्यायजी का कवि-संदेश देश के लिये जान पड़ता है। रचना का एक दूसरा प्रधान उद्देश्य भी यही प्रतीत होता है। वास्तव में प्रत्येक लेखक एवं कवि का यही मुख्य कर्तव्य-कर्म तथा परिपालनीय धर्म है कि वह अपनी रचना के द्वारा अपने देश तथा समाज की समय-संमानित सभ्यता-संस्कृति का संरक्षण करता हुआ प्राचीन परंपरा का यथेष्ट (यथावश्यकता) परिमार्जन एवं परिशोधन कर अपने वास्तविक धर्म-कर्म का प्रचार करे, और पर-प्रभाव-प्रभावित एवं भ्रम-भूल से भूले हुए नवयुवकों को सत्पथ पर अग्रसर कर देश-जाति के हित-संपादन में लगे-लगाये। जो लेखक या कवि अपने ऐसे उत्तरदायित्व को नहीं समझते और देश-जाति के हिताहित का ध्यान नहीं रखते या परखते वे वास्तव में रचयिता-राजि-भूषण होकर भी देश-दूषण ही ठहरते हैं। उनकी अमूल्य रचनाएँ भी विना मूल्य हो लुप्त होती हुई अपने साथ समय के गुप्त-गह्वर में उन्हें भी सदा के लिये सुप्त कर देती हैं। कोई भले ही इस प्रकार के कवि को उपदेशक तथा समाज-सुधारक कहता हुआ उसके स्थान को कुछ दूसरा दिखलाने का प्रयत्न करे और उसे कुछ कम महत्त्व दे—यद्यपि वास्तव में इन गुणों के कारण उसका स्थान एवं महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है—किंतु ऐसा समझदार संसार उस व्यक्ति के ऐसे कथन को ही महत्त्व न देगा जो यह जानता है कि कवि ही वह व्यक्ति है जो देश-जाति को उन्नत एवं अवनत करने, बनाने-बिगाड़ने, योग्यायोग्य पद देने में समर्थ होता है। कवि तो वस्तुतः सृष्टि का स्रष्टा है ("कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूः"—वेद) वही अखि-

लेश है, किंतु हो वह सच्चा कवि। जितने भी सच्चे कवि हुए हैं, सभी ने समाज-हित के लिये अपनी रुचिर रसना से सुधार-रस-धारा प्रवाहित की है, सभी ने उचित उन्नतिकारी, उपकारी उपदेश देश-समाज को दिये हैं। यही कार्य उपाध्यायजी ने भी किये हैं।

"रस-कलस" शब्द ही ग्रंथ के वर्ण्य विषय को स्पष्ट रूप से प्रकट कर देता है, इसलिये इस संबध में यहाँ केवल इतना ही कहना सर्वथा अलम् है कि इस ग्रंथ में काव्य के शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्साद्भुत और शान्त नामक नवो रसों, उनके ९ स्थायी और ३३ सचारी भावों, विभावों (आलंबन—जिसके अतर्गत है, समस्त नायक नायिका-भेद और उनका नख-शिख-वर्णन, और उद्दीपन—जिसके अदर आते हैं सखा-सखी भेद और कर्म, समय, स्थान, प्रकार तथा षट्ऋतु-वर्णन) और ४ प्रकार के अनुभावों (जिनके अदर अंगज, अयत्नज और स्वभावज हाव-भावादि अलकार आ जाते हैं) का यथोचित और यथाक्रम सर्वांग-पूर्ण सुदर और सराहनीय विशद वर्णन किया गया है। सर्वत्र उदाहरण मंजु, मृदु, मधुर और मौलिक दिये गये हैं। प्राय. अन्य रस-ग्रंथों मे शृंगार रस का ही विस्तार दिखलाया जाता है और विभावानुभावादि सबधी उदाहरणो में भी इसी रस को प्रधानता दी जाती है, तथा अन्य रसों का केवल सूक्ष्म परिचय मात्र दे दिया जाता है जिससे वाचक-वृंद को यथेष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। यह ग्रथ इस न्यूनता से सर्वथा मुक्त होकर समस्त रसों के विशद वर्णन से संयुक्त हो अधिक उपयुक्त बन गया है। शृगार रस चूँकि सर्व-रस-प्रधान रसराज तथा साहित्य-शिरमौर माना गया है, इसलिये उसके समस्त अंग-प्रत्यंग का नवरग ढग-रंजित तथा विविध-विचार-व्यंजित विमल-वासना-वलित, सुकल्पना-कलित, अति ललित वर्णन किया गया है। केवल कुछ ऐसे ही विषय छोड़ दिये गये हैं जो इतने अश्लील हैं कि उनका सर्वथा सुशिष्ट और सुरुचिमिष्ट बनाना असंभाव्य ही सा ठहरता है, जहाँ तनिक भी ऐसे

विषय अपने साधारण रूप में भी आ गये हैं वहाँ उनके अनीप्सित प्रभाव के अभाव को दूर करने के लिये भाषा दुर्बोध, गूढ़ तथा कुछ जटिल कर दी गई हैं, जिससे उस प्रसंग का अंतरंग, अंग उन्हीं सज्जन वाचक-वृंद को अवगत हो सके जो कला-कौशल-प्रेमी और नीति-रीति नेमी होकर सत्सार-सराहक और गुण ग्राहक हैं और जिनके विद्या-व्रत-स्नात वर-विवेक-जन्य-विचार उनके मनोविकार पर पूर्णतया प्रभाव डाल कर उन्हें स्वच्छंद छल-छंद की ओर नहीं दौड़ने देते। वास्तव में यही सत्कवि का कर्तव्य-कर्म और रचना-रस-रंग के नैर्मल्य का मुख्य मर्म है।

प्रायः यह देखा जाता है कि कवि लोग किसी एक विशेष रस (प्रायः शृंगार, वीर, करुण) में रचना करने का अभ्यास कर लेते हैं और इसी-लिये उस रस में वे चोखी तथा कभी-कभी अनोखी रचना भी करते हैं। किंतु अन्य रसो की रचना करने में वे प्रथम तो समर्थ ही नहीं होते और यदि कुछ होते भी हैं तो सर्वथा सफल नहीं होते। यह परम-प्रखर-पांडित्य-पूर्ण, पटु-प्रतिभावान् सत्कवि-महान् का ही कार्य होता है कि वह प्रत्येक रस में सराहनीय सफलता से सुंदर, सुखद और रोचक रचना कर ले। महाकवि का यह एक प्रधान और विचक्षण लक्षण है। श्री० उपाध्यायजी में भी यह लक्षण आकर उन्हें महाकवि मानने के लिये पाठकों को उसी क्षण प्रेरित करता है जब वे उनकी विलक्षण रचना का सम्यक् समावलोकन कर चुकते हैं। इस ग्रंथ में जिस रस के जो उदाहरण दिये गये हैं उन सब में उस रस का यथोचित परिपाक पाया जाता है, जिससे उनमें सरसता के साथ ही साथ सफल सार्थकता तथा स्वाभाविकता-सी मिलती है। साकारता और सजीवता तो कहीं भी किसी प्रकार कम हुई ही नहीं। इन उदाहरणों में भी उपाध्यायजी ने बड़ी मार्मिक, धार्मिक, उपयुक्त तथा उपादेय बातें कही हैं। अद्भुत रस के उदाहरणों में आपने "रहस्यवाद" के सच्चे स्वरूप और उसके गूढ़-गहन, मोहन, मर्म अथवा रुचिर-रोचक रहस्य का चारु

चित्रण सहज, सूक्ष्म किंतु मूल-मंत्र सूचक रूप से किया है और इस प्रकार रहस्यवादियों को भी सच्चे रहस्यवाद की पथरीली राह को रसीली करके दिखलाया है। यों ही अन्यत्र कतिपय स्थानों पर भी उन्होंने कितनी ही आवश्यक समस्याओं के सुलझाने, समझने तथा समझाने की ओर न्याय-निकेत सुदर सकेत दिये है।

ग्रंथ की रचना-वस्तु-सबंधी इन अवश्य अवलोकनीय और अनिवार्य रूपेण प्रशसनीय मौलिक विशेषताओ की ओर सूक्ष्मतया इस प्रकार सकेत करके यहाँ हम इस ग्रथ की भाषा के सबध मे भी सक्षेप से प्रकाश डालना उचित समझते हैं, क्योंकि भाषा की महत्ता भाव-सत्ता के समुख यदि अधिक नहीं तो न्यून भी कदापि नहीं है। कह भी सकते हैं कि रचना-क्षेत्र मे भावों की अपेक्षा भाषा का ही महत्त्व अधिक प्रवल और प्रधान है। यद्यपि भाषा को भावो का परिधान-सा कहा जाता है तथापि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो परिधान होते हुए भी यही प्रधान, भाव-प्रभाव-निधान और विचार-विधान विधायक ठहरती है। बिना भाषा के विचारो या भावों का विकास तथा विद्या-बुद्धि-विलास का प्रकाश हो ही नहीं सकता। भाव चाहे कितने ही अच्छे क्यो न हो—यदि वे अच्छी भाषा में अच्छे ढग और रुचिर रचना रंग के साथ व्यक्त न किये गये तो वे सर्वथा अरोचक और अन्यथा ही से हो जाते हैं। चारु चोखी भाषा और अनोखी रीति-नीति से प्रकट किये गये विचार साधारण होते हुए भी असाधारण से होकर धारणा में धारण करने के योग्य और मनोज्ञ हो जाते हैं। इसलिये भाषा को रचना-कला में विशेष महत्त्व देकर सुसज्जित तथा वैचित्र्य-विनिमज्जित करके मृदु, मधुर, मनोहर वनाने के विविध विधान भाषा-भाव-भूषण के रूपो मे वनाये गये हैं, अस्तु।

उपाध्यायजी ने इस ग्रथ की रचना उस परम प्रशस्त परंपरा-प्रचलित सुललित व्रजभाषा मे की है जो अपने मार्दव, माधुर्य आदि गेय गुणों

की गरिमा के कारण, काव्य की एकमात्र उपयुक्त भाषा के रूप में साहित्य-स्रष्टा कवि-राज-समाज में सर्व साधारण द्वारा अनुमोदित होकर धारण की गई है, उसी के लोक-प्रिय अनुपम आलोक से साहित्यादित्य* आलोकित होकर अद्यापि अवलोकित होते हैं। आपने अपनी रचना में व्रजभाषा का तो प्रयोग किया है, किंतु यह व्रजभाषा अन्य साधारण कवियों की-सी नहीं, वरन् अपने रंग-ढंग की विशेष व्रजभाषा है। कहा जाता है कि भारतेंदु बाबू ने व्रजभाषा तथा उसकी रीति-नीति में देश-कालानुसार नवीन विशेषताओं का संचार किया था, कुछ अंशों में यह ठीक है। किंतु यदि विचारपूर्वक एक निष्पक्ष न्याय-पोषक निरीक्षण की भाँति सूक्ष्म और विचार-पूर्ण दृष्टि से देखा जाय तो वास्तव में व्रजभाषा को नवीन रूप से परिमार्जित और संस्कृत करने का स्तुत्य कार्य इस काल में विशेषतया श्री० स्व० 'रत्नाकर' जी ने ही किया है। उन्होंने साहित्यिक व्रजभाषा का एक रूप निश्चित कर उसे परिष्कृत तथा परिपुष्ट कर प्रचलित किया है, आजन्म उन्होंने इसी भाषा की पूरी देख-भाल और सेवा की, और तब उसे अपने अनुकूल चलाने में समर्थ हो सके। श्री० 'रत्नाकर' जी ने व्रजभाषा को साहित्यिक सौष्ठव एवं स्थैर्य के साथ एक निश्चित रूप से परिष्कृत तो किया किंतु उसे रखा प्राचीन ही रंग-ढंग में, उन्होंने उसे निखारने का ही सफल सराहनीय प्रयास किया। श्री० उपाध्यायजी ने व्रजभाषा में दूसरे प्रकार की विशेषताओं के निखारने का प्रयत्न किया है और अपने इस प्रशंसनीय प्रयास में वे सफल भी हुए हैं।

सब से बड़ी विशेषता, जो आप की व्रजभाषा में स्पष्ट रूप से दृष्टि-गोचर होती है, यह है कि आपने अपनी भाषा में नवीन भावों को व्यंजित करने की क्षमता उद्दीप्त कर दी है, इसके लिये कहीं-कहीं उन्हें उसे विशेष रूप से चलाना भी पड़ा है। आपने प्रायः पुराने घिसे-घिसाये और प्रयोगच्युत ऐसे शब्दों के निराकरण या दूरीकरण से भाषा को

*साहित्य-सूर्य = सूरदास।

स्वच्छ करने का प्रयत्न किया है जिसका प्रयोग केवल परम्परागत रूढ़ियों की प्रेरणा से ही प्रायः प्राचीन परम्परानुयायी कवि किया करते हैं, जिनके प्रयोग, अर्थ आदि से जनता अब परिचित नहीं रह गई और जो भाषा की दुरूहता के ही कारण होते हैं। आपने कतिपय शब्द अपने नवीन भावों के लिये संस्कृत से लेकर बड़ी कुशलता से प्रयुक्त कर भाषा की शब्द-राशि को बढ़ाते हुए भाव-व्यंजकता भी बढ़ा दी है। वास्तव में किसी कवि का यह कार्य विशेष महत्ता एवं सत्ता सूचित करता है। जो कवि जितने ही नये, निराले शब्द एवं प्रयोग (मुहावरे) कल्पित कर इस प्रकार प्रयुक्त करता है कि उनसे भाषा की भाव-व्यंजक क्षमता, शब्द-राशि तथा विचित्रता बढ-चढ़ जाती और उसमें विलक्षणता भी आ जाती है वह उतनी ही उत्कृष्ट श्रेणी का कवि माना जाता है। प्रत्येक महाकवि अपनी प्रतिभा के प्रभाव से अपनी एक विशेष भाषा तथा शैली (रीति-नीति) लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होता और जीर्ण शीर्ण प्रयोग-परिचय-च्युत रूढ़िगत शब्दादिकों के चर्वित चर्वण-प्राबल्य से समुत्पन्न अनिष्ट अजीर्ण को अपने अजीर्ण (नये निराले) शब्दादिकों से दूर करने का प्रयत्न करता है। दूसरे लोग फिर उसी का अनुकरण या अनुसरण करते हैं और उसे अपना पथ-प्रदर्शक और प्रधान प्रवर्तक मानने लगते हैं। उपाध्यायजी को भी हम इसी श्रेणी का महाकवि कह सकते हैं।

भाषा आपकी सर्वथा सुव्यवस्थित, संयत और सुगठित है, शब्दावली सब प्रकार भावानुकूल, रसपरिपोषक और सबल है। कोई भी शब्द शिथिल, अनावश्यक और केवल छंद या पाद का परिपूरक नहीं है। प्राय. आपने एक प्रधान और भावपूर्ण शब्द को लेकर उसी से बननेवाले अन्य कई प्रकार के शब्दों का यथावश्यकता चारु चमत्कार-चातुर्य के साथ प्रयोग करके एक विशेष प्रकार का कौशल दिखलाया है। सर्वत्र पद-मैत्री और वर्ण-मैत्री अपने सुंदर रूपों में पाई जाती है। शब्दों के

उक्त विशेष प्रयोग से बड़ी विलक्षणता एवं विचक्षणता अनुप्रासों के रूपों में प्रतिभात होती है।

शब्दों के भिन्न-भिन्न प्रकाराकार वाले प्रयोगों से रचना-कला में रचयिता की प्रकामाभिराम पटुता प्रकट होती है। यह दिखलाने का भी पूरा प्रयत्न किया गया है कि शब्द कितने भिन्न-भिन्न अर्थों में कितने भिन्न-भिन्न रूपों या आकारों-प्रकारों से प्रयुक्त किया जाता या जा सकता है, इस कार्य में सफलता भी बहुत हुई है। भाषा को मुहावरेदार रखने का भी अच्छा प्रयत्न किया गया है। इससे भाषा में लालित्य के साथ ही साथ प्रसादगुण की भी वृद्धि हो गई है। शब्द-संचयन और संगुंफन भी बड़ा ही संयत और सराहनीय है, जिससे प्रकट होता है कि उपाध्यायजी ने शब्द-संग्रह में बड़ा स्तुत्य श्रम किया है। वस्तुतः ऐसे ही उच्चकोटि के कवियों का यह काम है जो अगाढ़ पांडित्य और भाषाधिपत्य के सूचित करने में सर्वथा समर्थ होते हैं। कवि, यदि यथार्थ कहा जाय, एक कुशल शब्द-संग्रहकार है, शब्दों में ही उसकी शक्ति*, अनुरक्ति और भक्ति रहती है, और रहना भी चाहिए। जितनी ही सफलता उसे शब्द संग्रह में प्राप्त होगी उतनी ही सफलता उसे रचना-कार्य में भी प्राप्त हो सकेगी। कुछ लोगों का कहना है कि शब्दों के चुनाव और कला कौशल के साथ सगठित करने से रचना की उस स्वाभाविकता को, जो प्रधान और मुख्य है, धक्का पहुंचता है और वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। कहीं किसी अंश में यह ठीक हो सकता है, किन्तु सर्वत्र इसे चरितार्थ मानना वास्तव में रचना-कला (काव्य-कला) और कवि कर्म-कौशल के मर्म का न समझना ही है। काव्य में वैचित्र्य या वैलक्षण्य का ही पूरा ध्यान रखकर शब्द-चयन और पद-संगुंफन अथवा वाक्य-विन्यास के संगठन का कार्य करना चाहिए। हम कह सकते हैं कि जैसी स्तुत्य एवं चिरस्मरणीय तथा

* 'कविहिँ अरथ आखर बल साँचा'—तुलसीदास।

अनुकरणीय सफलता उपाध्यायजी को खड़ी बोली के प्रयोग में मिली है, प्राय: वैसी ही व्रजभाषा के प्रयोग में भी प्राप्त हुई है। सच्ची कवि-प्रतिभा वही है कि जो समान सफलता के साथ काव्य-कला के भिन्न-भिन्न अंगों में पृथक् पृथक् रीति-नीति (शैली) और भाषा के द्वारा कृतकार्य हो सके।

सारांश यह है कि भाषा, भाव, कला-कौशल आदि सभी दृष्टियों से उपाध्यायजी का यह ग्रंथ-रत्न वस्तुत: अपने रंग-ढंग का अप्रतिम और परम प्रशंसनीय ठहरता है। संभव है कि किसी को इसके मयंक-अंक में कहीं कुछ कालिमा भी दिखलाई पड़े, किंतु यह इसकी कमनीय-कौमुदी-कांति के समक्ष निष्पक्ष रूप से देखने पर क्या होगी? कुछ नहीं, केवल दृष्टि-भ्रांति। हाँ, जलौका-प्रवृत्ति वाले भले ही व्यर्थ के लिये छिद्रान्वेषण कर सकते हैं और नीरस जन स्वार्थ आदि किसी विशेष कारण से निन्दा तक कर सकते हैं, इसके लिये स्वयं उपाध्यायजी ही ने कह दिया है—

'हरिऔध' कैसे 'रसकलस' रुचैगो ताहि,
जाको उर रुचिर रसन तें न सोहैगो।

मूलग्रंथ पर इस प्रकार विहंगम-दृष्टि के द्वारा प्रकाश डाल चुकने पर हम ग्रंथ के पूर्वार्द्ध का भी, जो भूमिका के रूप में है, कुछ संक्षिप्त परिचय दे देना चाहते हैं। यह पूर्वार्द्ध भी अपनी विशिष्ट महत्ता और सत्ता रखता है और अनिवार्य रूप से अवलोकनीय, विचारणीय और ग्रहणीय या अनुसरणीय है। इसमें व्रजभाषा तथा उसके काव्य पर प्राय: जो अनर्गल आक्षेप किये जाते हैं और जिन्हें प्रमादिक, तर्क-प्रमाण-शून्य, ईर्षा द्वेष-जन्य तथा निराधार या निरर्थक समझ कर व्रजभाषा-प्रेमी विद्वान् उपेक्षा के ही साथ देखते-सुनते आये हैं उनके उत्तर बड़ी ही सतर्कता, योग्यता और गंभीरता से दिये गये हैं और व्रजभाषा की महान् महत्ता-सत्ता का पांडित्यपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। बड़ी ही न्यायप्रियता, निष्पक्षता तथा युक्ति के साथ उसके पक्ष का विपक्ष-वृंद

कृत वितंडावाद के समक्ष समर्थन भी किया गया है। इससे खड़ी बोली के विद्वान् विधायक आचार्य उपाध्यायजी का ब्रजभाषा में विशद एवं मार्मिक अध्ययन तथा ज्ञानानुभव स्पष्टतया प्रकट होता है। इसी प्रकार इसी भूमिका में आपने शृंगार रस पर किये जानेवाले कड़े कटाक्षों की भी निस्सारता और निर्मूलता दिखलाई है और उसे सतर्क रसराज सिद्ध किया है। ऐसा करके वस्तुतः उपाध्यायजी ने भूले हूए नवयुवकों की आँखें खोल दी हैं और उन्हें ब्रजभाषा तथा उनके शृंगारात्मक काव्य-कौशल का सच्चा मर्म समझा दिया है, अब कोई समझे, या न समझे, माने चाहे न माने।

मूलग्रंथ, चूँकि रीति-ग्रंथों की परम्परागत रचना-शैली से लिखा गया है, इसलिये उसमें रस-सिद्धांत से संबंध रखनेवाले विविध मत-मतांतरों, उनके आधार पर होनेवाले क्रमिक विकास आदि की सम्यक् समीक्षा या मीमांसा नहीं की गई और इस प्रकार विषय-विवेचन का एक अत्यंत आवश्यक या अनिवार्य अंग रह गया था। अतएव उपाध्यायजी ने अपनी भूमिका में (जिसका कार्य वस्तुतः विषय में प्रवेश कराना और उसके संबंध की अन्य आवश्यक बातों का यथेष्ट निरूपण या स्पष्टीकरण करते हुए समुचित परिचय देना है) इन सब बातों का बड़ा ही मार्मिक और पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है और इस न्यूनता की परमोपयोगी तथा परमावश्यक पूर्ति कर दी है। भूमिका के इस अंश से उपाध्यायजी के प्रगाढ़ पांडित्य, विस्तृताध्ययन तथा पूर्ण ज्ञान का स्पष्ट रूप से पता चलता है।

इस प्रकार रस-सिद्धांत के हिंदी मे एक सर्वोपरि, सर्वमान्य तथा सर्वथा श्लाघनीय ग्रंथ के उपस्थित करने पर हम उपाध्यायजी को सहर्ष हृदय से बधाई देते हैं और मुक्तकंठ से उनके सफल श्रम की प्रशंसा करते हैं। हमें सुदृढ़ विश्वास है कि समस्त सहृदय तथा सुयोग्य समाज

हमारे ही समान उपाध्यायजी को इस महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये हृदय खोल कर बधाई देता हुआ इस ग्रथ-रत्न का समुचित समादर करेगा।

इस ग्रंथ-रत्न में हमारी समझ से यदि रसों एवं भाव-भावनाओं (Feelings and Emotions) का मनोवैज्ञानिक (Psychological) विवेचन भी और जोड़ दिया जाय (चाहे वह परिशिष्ट के ही रूप मे रखा जाये) तो अत्युत्तम होकर सोने और सुगधि की कहावत को चरितार्थ कर दे। इसी के साथ यह भी दिखला देना उपयुक्तोपादेय सिद्ध होगा कि रस-सिद्धात नाटक-रचना से प्रारभ होकर अर्थात् नाटकों के ही आधार पर प्रथम उठाया और उन्हीं के लिये आवश्यक ठहराया जाकर क्यो, कब और कैसे काव्य-शास्त्र के अदर प्राधान्य प्राप्त कर सका। इस संस्करण में इन बातों के दिये जाने की कठिनाई को देखते हुए हम उपाध्यायजी से दूसरे सस्करण में इनके देने का अनुरोध करते हैं, और इसलिये यह साग्रह कहते है जिससे यह ग्रथ सर्वांग-पूर्ण होकर अपने रगढग का अकेला ही रहे और चिरस्थायी बन जावे।

अन्त मे हम फिर उपाध्यायजी को इस ग्रंथ-रत्न के सफलता-पूर्वक प्रणयन करके तथा हिंदी-साहित्य में काव्य-शास्त्र के इस अग की प्रशसनीय पूर्ति करने के लिये सहर्ष हार्दिक साधुवाद देते हैं और विश्वास रखते हैं कि भावुक कवि-समाज, सहृदय वाचक-वृद तथा सुयोग्य समालोचक-समुदाय इसको समुचित समादर देते हुए अनुराग के साथ अपनायेगा। तथास्तु।

विद्वज्जन कृपाकांक्षी

रमेश-भवन
प्रयाग

रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'
एम० ए०

भूमिका की सूची

भूमिका

रस-निर्देश

रस शब्द अनेकार्थक है, व्युत्पत्ति इसकी 'रस्यते इति रसः' है, जिसका अर्थ यह है कि जो चखा जावे अथवा जिसका स्वाद लिया जावे वह 'रस' है। जब हम कहते है, 'इनके गले मे अथवा इनकी बातो मे बड़ा रस है' तो उस समय इसका अर्थ मधुरता और मिठास होता है। जब राका-मयंक को देखकर हम कहने लगते हैं, 'वह रस बरस रहा है' उस समय इसका अर्थ आँखो को तर करनेवाला कोई पदार्थ होता है, चाहे उसको सुधा कहें या और कुछ। जब आम-अंगूर खाते हैं, ईख को चूसते हैं और उस समय यह कह उठते हैं कि इनका रस कितना अच्छा है तब रस का अर्थ वह तरल पदार्थ होता है जो उनमे भरा मिलता है। हरे पत्तो को निचोड़ने पर उनमे से हरे रंग का पानी की तरह का एक पदार्थ निकलता है उसको भी रस कहा जाता है, जैसे, आम अथवा सुदर्शन के पत्ते का रस। खट्टा, मीठा खारा. कड़ुआ, तीखा, कसैला—इन प्रसिद्ध छः रसो को कौन नहीं जानता? ये भी अपनी अलग सत्ता रखते हैं। वैद्यक के रस भी विशेष अर्थ के द्योतक हैं, कभी उनका प्रयोग एक शरीर-संबंधी धातु के विषय में होता है, कभी रासायनिक रीति से तैयार हुई कुछ औषधो के लिये। जब रहीम खाँ खानखाना के इस दोहे को पढ़ते हैं—

'कहु रहीम कैसे निभै केर-बेर को संग ?
वे डोलत रस आपने उनके फाटत अंग ॥'

तो ज्ञात होता है कि रस का अर्थ उमंग और मौज भी है। वेद मे

परमात्मा को रस कहा गया है, जैसे 'रसो वै स'। जल को भी रस कहते हैं, इस तरह रस का प्रयोग बहुत अर्थों में देखा जाता है।

जैसे रस शब्द अनेकार्थक है उसी प्रकार उसकी रसन-प्रणाली भी भिन्न-भिन्न है। कान ने जैसे मधुर बातों को सुना, आँखों ने जिस प्रकार मयक को रस बरसते देखा, जीभ ने जिस प्रकार फलों के अथवा खट्टे-मीठे पदार्थों के रस को चखा—उन सब का प्रकार एक नहीं अलग-अलग है। इससे आस्वादन-प्रणाली की भिन्नता स्पष्ट है। साहित्य मे जैसे रस शब्द का ग्रहण इन सबों से भिन्न दूसरे ही अर्थ मे होता है उसी प्रकार उसकी व्यापकता भी अधिक है और उसके आस्वादन का ढंग भी विलक्षण।

रस के साधन

शब्द दो प्रकार का होता है, ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। जिस समय विमुग्धकरी वशी वजती रहती है अथवा कोई सुकठ पक्षी गान करता रहता है उस समय भी हमारे कानों तक उनकी लहर पहुँचती रहती है, परन्तु उनमें झकार मात्र होती है, वर्णविन्यास नहीं होता। अतएव ऐसे शब्द को 'ध्वन्यात्मक' कहते हैं, क्योंकि वह ध्वनि पर ही अवलम्बित होता है। दूसरा वर्णात्मक शब्द वर्ण-विन्यास-युक्त होता है। एक वर्ण-विन्यास व्यक्त और दूसरा अव्यक्त होता है। जैसे आँय, वाँय, साँय—शब्द वर्ण-विन्यास-युक्त हैं, किन्तु इनका कोई अर्थ नहीं, अतएव ये अव्यक्त हैं। जब हम कहेंगे 'आप कृपा करके आइये' तो यह व्यक्त हो जावेगा, इसलिये कि इसके वर्णों का कुछ अर्थ है। ध्वन्यात्मक शब्दो से व्यक्त वर्णात्मक शब्द अधिक प्रभावशाली और उपयोगी होता है।

ध्वन्यात्मक शब्दों में कितना आकर्षण है यह अविदित नहीं। वाद्यों का मधुर वादन, पक्षियों का कलकूजन, कमनीय कंठों का स्वर, कितना हृदय-विमोहक है, यह सब जानते हैं। शेख सादी कहते हैं—

वेहज रूयज़ेवास्त आवाजे खुश।
कि ईं इज़्जे नफसस्त वीं क़ूत रूह।

सुन्दर मुख से मधुर ध्वनि कहीं उत्तम है। वह आनंदित करता है और इससे प्राणों की पुष्टि होती है। जिस समय बाजे मधुरता से बजते रहते हैं क्या उस समय वे उन्मादक नहीं होते? क्या कामिनी-कंठ लोगों पर जादू नहीं करता? बालकों के कंठ की कूक क्या स्वर्गीय सुधा नहीं बरसाती? मुरलीमनोहर की मुरली क्या पादप एवं लता-बेलियों तक को स्तम्भित नहीं करती थी? श्रीमद्भागवतकार लिखते हैं—

वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि।
वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म॥

—श्रीमद्भागवत, १०।३५।८, ९

भगवान् जब वन में प्रवेश कर पहाड़ में विचरनेवाली अपनी गायों को वेणु बजाकर बुलाते हैं तब पुष्प-भारनम्र लताएँ अपनी आत्मा में परमात्मा का अनुभव करती हुई स्नेह से परिपुष्ट हो तरुसमूह के साथ फूल-फल से मधुधारा की वर्षा करने लगती हैं। कविवर सूरदासजी क्या कहते हैं उसे भी सुनिये—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर नर नाग निरंतर ब्रज बनिता सब धाई।
जमुनातीर प्रवाह थकित भयो पवन रह्यो उरझाई।
खग मृग मीन अधीन भये सब अपनी गति बिसराई।
द्रुमबल्ली अनुराग पुलक तनु ससि थक्यो निसि न घटाई।
सूरस्याम वृंदावन बिहरत चलहु चलहु सुधि पाई॥

यदि भगवान् श्रीकृष्ण की मुरली के विषय में कुछ 'इदं कुतः' हो और उसके वर्णन को रंजित समझा जावे तो लोक की घटनाओं पर ही दृष्टि डाली जावे। क्या नट की तुमड़ी का नाद सुनकर सर्प विमुग्ध

नहीं हो जाता ? क्या बधिक की वीणा पर हरिण अपने प्राण उत्सर्ग नहीं कर देता ? वास्तविक बात यह है कि ध्वनि अपार शक्तिमयी है, अतएव ध्वन्यात्मक शब्द भी प्रभावशालिता में कम नहीं। परन्तु वर्णात्मक शब्द उससे भी लोकोत्तर है। वेद भगवान् जिस ज्ञान का महत्त्व इन शब्दों में प्रकट करते हैं—'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति', बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती, उस ज्ञान का आधारस्तम्भ वर्णात्मक शब्द है। संसार का साहित्य, जो समस्त सभ्यताओं का जनक है, वर्णात्मक शब्दों की ही विभूति है। इसीलिये ध्वन्यात्मक से वर्णात्मक शब्दों का महत्त्व अधिक है और निम्नलिखित श्लोक में संगीत से साहित्य का स्थान प्रथम।

साहित्यसंगीतकलाविहीन: साक्षात्पशु: पुच्छविषाणहीन:।

'साहित्य-संगीत-कला-विहीन जन बिना सींग पूँछ का पशु है।'

तैत्तिरीय उपनिषद् में लिखा है—

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति, धर्मेण पापमपनुदति, धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम् तस्माद् धर्मं परमं वदन्ति"

धर्म सारे जगत् की प्रतिष्ठा है, लोक में धर्मिष्ठ पुरुष की ओर प्रजा जाती है, धर्म से पाप कटता है। सब कुछ धर्म पर प्रतिष्ठित है, इसीलिये धर्म को सब से बढ़कर कहा गया है।

जिस धर्म की ऐसी महत्ता है उसके आधार संसार के धर्मग्रन्थ हैं और धर्मग्रंथों के अवलम्बन वर्णात्मक शब्द। मन्त्र की महिमा को कौन नहीं जानता। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—'मन्त्र परम लघु जासु बस, विधि हरि हर सुर सर्व'। मन्त्रों के विषय में ऋग्वेद की यह आज्ञा है—

"मन्त्रो गुरु (१।१६७-४), सत्यो मन्त्र (१, १, ५२, २), मन्त्रेभिः सत्यैः (१, ६७, ३), तमिद्वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम् (१, ४०, ६)।

मन्त्र गुरु है, मन्त्र सत्य हैं, हे देवतो, हम यज्ञों में उन सच्चे मन्त्रों को कहें जो सुख देनेवाले और पाप से बचानेवाले हैं।

ये मन्त्र क्या है ? वर्णात्मक शब्दों के समूह मात्र। इससे अधिक

वर्णात्मक शब्दों की महत्ता और क्या बतलाई जा सकती है। व्यवहार में देखा जाता है कि जिसकी वाचाशक्ति जितनी बढ़ी और सुसंगठित होती है संसार में उसको उतनी ही सफलता मिलती है। 'बात की करामात' प्रसिद्ध है और इस कहावत को कौन नहीं जानता—'बातै हाथी पाइये बातै हाथी-पाँव'। मनुष्य के हृदय पर अधिकार करने की शक्ति जितनी इसमें है, अन्य किसी दूसरी वस्तु में नहीं। जहाँ वचन-रचना और ध्वनि दोनों मिल जाती हैं, वहाँ मणिकांचन योग हो जाता है और असंभव संभव होता है। भाव और विचारों को इनके द्वारा वह सहायता मिलती है कि उनकी सफलता की पराकाष्ठा हो जाती है। जैसा इनके द्वारा बाह्य जगत प्रभावित होता है वैसा ही अन्तर्जगत् भी।

बाजा कितनी ही मधुरता से क्यों न बजता हो, किन्तु उसमें वह तन्मयता नहीं होती जितनी उस समय होती है जब उसके साथ मधुर संगीत भी होता हो। यदि यह मधुर संगीत भावमय हो तो क्या कहना! वह तो बिल्कुल तन्मय कर देता है। उस समय देहाध्यास तक जाता रहता है। ऐसा क्यों होता है? मैं यह बतलाने की चेष्टा करूँगा।

ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्दों के प्रभाव के विषय में ऊपर लिख आया हूँ। जिस समय कोई सुंदर बाजा बजता रहता है अथवा कोई कल ध्वनि वायु में ध्वनित होती रहती है उस समय उसको कान आस्वादन करता है और उसके साहचर्य से हृदय में आनंद की एक लहर-सी उठती रहती है, किंतु उसमें सोचने, समझने, विचारने एवं मनन करने की कोई बात नहीं होती। न तो उनको सुनकर कोई विशेष भाव हृदय में उत्पन्न होता और न धीरे-धीरे बढ़कर वह प्रगाढ़ ही बनता है। समय की कोमलता, मधुरता, सरसता, रूक्षता और तीव्रता की दृष्टि से जितनी राग-रागिनियों की कल्पना हुई है उनके स्वरों में निस्सन्देह ऐसा विकास मिलता है जो हृदय में अनेक सामयिक भावों को उदित करता है। वंशी की ध्वनि जितनी विरागमयी है, वीणा की

ध्वनि उतनी ही उल्लासकरी। रण-वाद्य जैसा उत्तेजक है, मृदंग वैसा ही मानस-विमोहक। जब कोकिल बोलता है तो ज्ञात होता है कि उन्माद हृदय का आलिंगन करता है, किंतु चातक के स्वर मे यह बात नहीं पाई जाती, उसको सुनकर चित्त किसी मर्म-पीड़ा का अनुभव करने लगता हैं। किसी-किसी पक्षी का स्वर इतना मधुर और मोहक होता है कि वह प्रकृति-वधूटी का वसुन्धरा-विमुग्धकर कोई अलौकिक आलाप जान पड़ता है। यद्यपि इन बातों से हमारी मानसिक स्थिति और संस्कृति का बहुत कुछ संबध है तथापि स्वरो और ध्वनियों की भाव-प्रवणता अस्वीकार नहीं की जा सकती। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि वचन-रचना उससे अधिक प्रभावमयी है। व्यापकता में चाहे वह उसका सामना न कर सके, किंतु प्रभावशालिता में उसको अवश्य उत्कर्ष है। आप लोगों ने व्यासासन पर से यदि किसी सुवक्ता को किसी विषय का निरूपण करते सुना होगा अथवा किसी 'हॉल' में बैठकर किसी प्रसिद्ध वाग्मी का भाषण श्रवण किया होगा तो आप लोगों से यह छिपा न होगा कि वचन-रचना में कितनी शक्ति होती है। जनता को हँसा, देना, रुला देना, उत्तेजित कर देना, उसके मन को अपनी मुट्ठी मे कर उससे मनमानी करा लेना उनके बाएं हाथ का खेल होता है। भगवान् बुद्ध, महात्मा ईसा और हज़रत मुहम्मद ने अपनी विचित्र वाक्य-रचना-शक्ति से संसार मे जो चमत्कार कर दिखलाया वह लोकोत्तर और अभूतपूर्व है। कोई मधुर ध्वनि और मनोहर निनाद आज तक वह कार्य न कर सका। कालान्तर में भी न कर सकेगा। 'सरगम' का समादर है, परंतु क्या उतना ही जितना भावमय गान का? हारमोनियम की स्वर-लहरी विमुग्ध करती है, किंतु क्या फोनोग्राफ के इतना ही? कनसर्ट का कमाल आप लोगों ने देखा होगा, अनेक सम्मिलित स्वर किस प्रकार उसमे आकर्षण उत्पन्न करते हैं, जिसने उसको सुना होगा वह इस बात को भली भाँती जानता

है। किंतु गाना आरंभ होने दीजिये। फिर देखिये, वह किस प्रकार इन समस्त स्वर लहरियों पर अधिकार कर लेता है। उसके एक-एक भावमय पदों को स्पष्ट सुनाई देने के लिये किस प्रकार स्वर-लहरियों को संयत होना पड़ता है और फिर वह किस प्रकार सहृदय जनों को विमुग्ध करके भावमत्त बनाता और उनके आनंद को द्विगुण-त्रिगुण करता रहता है, यह अविदित नहीं। कभी-कभी तो एक-एक पद पर लोग लोटपोट हो जाते और तत्संबंधी अन्य पदों को सुनने के लिये इतना उत्कर्ण हो उठते है कि क्षण-भर का विलम्ब भी असह्य हो जाता है। यदि आप लोगों ने कव्वाली सुनी होगी अथवा किसी संत-समाज में बैठकर भजन-गान होते देखा होगा तो आप लोगों को श्रोताओं की तल्लीनता अविदित न होगी। उस समय की वहाँ की उत्सुकता और उस समय का वहाँ का भावावेश विलक्षण होता है। यह ज्ञात होता है कि चारों ओर से अपूर्व आनंद का समुद्र उमड़ रहा है और उसमें लोग मग्न हो रहे है, हाथ-पाँव मार रहे हैं, उछल रहे हैं और जितना ही अलौकिक रस का पान कर रहे हैं उत्तरोत्तर उनकी तृषा उतनी ही बढ़ती जा रही है। कितना ही मधुर बाजा बजे, कितनी ही मुग्धकरी ध्वनि क्यों न हो, उसके द्वारा प्रायः ऐसा भावावेश नहीं होता, क्योंकि उसका रस उतना प्रगाढ़ नहीं हो सकता। भावमय शब्दों को कान सुन सकते हैं, यदि वे शब्द मधुर कंठ से निकले हैं तो उसकी मधुरता का आनंद वे प्राप्त कर सकते हैं, किंतु उनमें जो लोकोत्तर अथवा अपूर्व भाव है उसके ग्रहण करने की शक्ति उनमें नहीं होती, अतएव भावमय शब्द-प्रसूत-विह्वलता वे उत्पन्न नहीं कर सकते। यह कार्य हृदय का है और हृदय के भाव-विह्वल होने पर ही, इस प्रकार का भावावेश देखा जा सकता है।

कंठस्वर, मधुरध्वनि और वचन-रचना के अतिरिक्त वेशविन्यास भावभंगी, कथन-शैली इत्यादि का प्रभाव भी हृदय पर पड़ता है। इनकी

सहकारिता से वचन-रचना अपने भावों को अधिकाधिक पुष्ट कर सकती है। कर-संचालन, अग-सचालन, अथच अंगुलि-निर्देश से अनेक अस्पष्ट भाव स्पष्ट हो जाते हैं और कितनी ही अव्यक्त बातें व्यक्त बनती हैं। नृत्त अथवा नृत्य एवं अभिनय के ढंग की अनेक कलाएँ भी यथावसर भावपुष्टि का साधन बनती रहती हैं। अतएव इनकी उपयोगिता भी अल्प नहीं। जब ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्द अग-सचालनादि अन्य साधनों और कलाओं के आधार से किसी भाव को पुष्ट करते हैं उसकी वास्तविक पुष्टि उसी समय होती है और साहित्य के उस रस की यथार्थ उत्पत्ति भी प्राय तभी होती है, जो सहृदय-हृदय-सवेद्य माना जाता और जिसका सुख ब्रह्मानंद समान कहा जाता है। इसीलिये प्राय दृश्य-काव्यों-द्वारा ही साहित्यिक रस की मीमांसा की गई है क्योंकि उसमें प्राय सभी साधनों का समीकरण होता है।

रस की उत्पत्ति

यह स्वाभाविकता है कि मनुष्य मनुष्य के सुख से सुखी और उसके दुःख से दुखी होती है। सवध-विशेष होने पर इसकी मात्रा मे तारतम्य हो सकता है, किंतु यह असभव है कि एक मानव के हृदय का प्रभाव दूसरे मानव के हृदय पर न पड़े। सस्कृति, विचार-विभिन्नता और विरोध अतर डाल सकते हैं, किंतु यह अपवाद है, साधारण नियम नही। जब हम किसी को रोते देखते हैं तो हमारा दिल पिघल जाता है और हम भी उसके दुःख का अनुभव करने लगते हैं और जब किसी को प्रफुल्ल देखते हैं तो हम भी प्रफुल्ल हो जाते हैं और उसके हृदय का आनद हमारे हृदय मे भी प्रवेश करता है। वास्तव मे प्राणी-मात्र का हृदय एक है और एक गुप्त तार सदा उसको मिलाये रहता है, यह दूसरी बात है कि कोई प्रतिबध बीच-बीच में उसको तोड़ता रहे। एक भूखा हमारे सामने आकर जब पेट दिखा और आँसू बहाकर कुछ माँगता है तो

उसका यह कारुणिक भाव हमारे हृदय में करुणा उत्पन्न किये विना नहीं रहता। हमने एक बंगाली को देखा कि जब मधुर स्वर में वह वेला बजाने लगता तो आप भी मस्त हो जाता और अपने मधुर-वादन और भावभंगी द्वारा अन्धों को भी कुछ-न-कुछ मस्त बना देता। जो कवि कविता पढ़ते-पढ़ते स्वयं मुग्ध हो जाता है वह दूसरों को भी मुग्ध बनाये विना नहीं छोड़ता। भजनानंदी औरों को भी आनंदित कर लेता है। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है कि एक सरस हृदय से निकले हुए प्रभावजनक भाव अन्य हृदय को सरस बनाये विना नहीं छोड़ते। यह हुई साधारण अवस्था की बात और जब प्रगाढ़ होकर यह अवस्था उन्नतर हो जाती है तभी रस की उत्पत्ति होती है। नाट्यशास्त्रकार महामुनि भरत लिखते है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति.'

विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। काव्य-प्रकाशकार इसकी टीका यों करते हैं—

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृत।"

लोक में रति आदिक स्थायी भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं नाटक और काव्य में वे ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी—क्रम से—कहलाते हैं। इन विभावादि की सहायता से व्यक्त स्थायी भाव की रस संज्ञा होती है।

अब यहाँ प्रश्न यह होगा कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी अथवा संचारी भाव किसे कहते हैं। इस विषय में साहित्य-दर्पणकार यह लिखते हैं—

१—विभाव—'रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः'

लोक में जो रति आदिक के उद्बोधक हैं वे ही काव्य और नाटकों में 'विभाव' कहलाते हैं, इसकी व्याख्या ग्रन्थकार ही यों करते हैं—

"ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्त. विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्या क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा. एभिः इति विभावा उच्यन्ते।"

"लोक मे सीता आदिक जो रामचंद्रादि की रति आदि की उद्बोधक प्रसिद्ध हैं वे ही यदि काव्य और नाटक में निवेशित किये जावें तो 'विभाव' कहलाते हैं, क्योंकि वे सहृदय द्रष्टा तथा श्रोताओं के रत्यादिक भावों को विभावित करते हैं अर्थात् उन्हें रसास्वाद की उत्पत्ति के योग्य बनाते हैं।"

विभाव के दो भेद हैं—पहला आलम्बन और दूसरा उद्दीपन। रति आदिक स्थायी भावों के आधार नायक-नायिका 'आलम्बन' और उनके उद्दीप्त करनेवाले चद्र, चाँदनी, मलय-पवन आदि 'उद्दीपन' कहलाते हैं। साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं—

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्।
उद्दीपनविभावास्ते रसामुद्दीपयन्ति ये।

२—अनुभाव—'अनुभावयन्ति इति अनुभावा'।

रति आदिक स्थायी भावो का जो अनुभव कराते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। अमरकोशकार लिखते है—'अनुभावो भावबोधक.'।

३—व्यभिचारी अथवा सचारी भाव—

साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

'स्थिरतया वर्त्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादय. प्रादुर्भावतिरोभावाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिता. कथ्यन्ते'।

रति आदिक स्थायी भाव मे आविर्भूत और तिरोभूत होकर जो

निर्वेद आदि भाव अनुकूलता से व्याप्त रहते हैं उन्हें विशेष रीति से संचरण करते देखकर संचारी कहा जाता है।

मानव के हृदय में वासना अथवा संस्कार-रूप से अनेक भाव सदा उपस्थित रहते हैं, वे किसी कारण-विशेष द्वारा जिस समय व्यक्त होते हैं उसी समय उनकी उपस्थिति का पता चलता है। इन भावों में जिनमें अधिक स्थिरता और स्थायिता होती है, जो किसी भी काव्य-नाटकादि में आद्योपान्त उपस्थित रहते हैं, प्रधानता और प्रभावशालिता में औरों से उत्कर्ष रखते हैं, साथ ही जिनमें रस-रूप में परिणत होने की शक्ति रहती है, उनको स्थायी भाव कहा जाता है। यथा—

रसावस्थः परंभावः स्थायिता प्रतिपद्यते।

जो भाव रस-अवस्था को प्राप्त हो, वही स्थायी होता है। रसगंगाधर में स्थायी भाव के विषय में यह लिखा गया है—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्याशु स स्थायी लवणाकरः॥
चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते॥
सजातीयविजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान्।
यावद्रसं वर्त्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः॥

जो भाव विरोधी एवं अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होता, किन्तु विरुद्ध भावों को भी शीघ्र अपने रूप में परिणत कर लेता है, उसका नाम स्थायी है, उसकी अवस्था लवणाकर के समान होती है, जो प्राप्त समस्त वस्तुओं को लवण बना लेता है॥ १॥ जो भाव बहुत समय तक चित्त में रहते हैं, विभावादिकों से सबंध करते हैं, और रस-रूप बन जाते हैं, वे स्थायी कहलाते हैं॥ २॥ जो मूर्तिमान् भाव सजातीय और विजातीय भावों से तिरस्कृत न किया जा सके और जब तक रस का आस्वादन हो तब तक वर्त्तमान रहे, उसे स्थायी भाव कहते हैं॥ ३॥

भरत मुनि कहते हैं—

यथा नराणा नृपति शिष्याणा च यथा गुरु ।
एव हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥

जैसे मनुष्यो में राजा, शिष्यो में गुरु, वैसे ही सब भावों में स्थायी भाव श्रेष्ठ होता है ।

काव्यप्रकाशकार पहले अष्ट रसों का नाम वतलाते हैं । वे ये हैं—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका. ।
वीभत्साद्भुतसञ्ज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥

फिर कहते हैं—'एषां स्थायी भावानाह' ।

अव इनके स्थायी भावो को वताता हूँ । उनके नाम सुनिये—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावा. प्रकीर्तिता ॥

अंत मे लिखते हैं—निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस. ।

इन पक्तियो के पठन करने से यह स्पष्ट हो गया कि शृंगार, हास्य, करुण आदि नव रसो के जनक रति, हास, शोक आदि नव स्थायी भाव हैं । इन स्थायी भावो मे से कोई एक जव विभाव, अनुभाव और सचारी भाव की सहायता से लोकोत्तर आनद रूप में परिणत होकर व्यक्त होता है, तव उसकी 'रस' सज्ञा होती है ।

मान लीजिये कि कहीं कोई रामलीला-मडली आई है और किसी सुसज्जित स्थान पर रामलीला हो रही है । मधुर स्वर से वाजे वज रहे हैं, कमनीय कठ से रामायण का गान हो रहा है, और अपार जनता वहाँ एकत्र है । इतने मे जयध्वनि हुई, और एक रमणीय वाटिका मे किशोर-वयस्क भगवान् रामचद्र अपने प्रिय अनुज के साथ पुष्पचयन करते दिखाई पड़े । फिर ककण-किंकिणी की ध्वनि हुई और मदगति से श्रीमती जनकनदिनी का सखियो समेत उसमें प्रवेश हुआ । धीरे-धीरे पुष्पवाटिका की लीला का समा वॅधने लगा और चारो ओर

आनंद का समुद्र उमड़ पडा। अनेक भावुक भक्तजनो की तल्लीनता बढ़ गई, और वे परमानंद-पयोधि मे ऐसे मग्न हो गये कि सब कुछ भूल गये। कभी वे शिर हिलाते, कभी झूमते, कभी वाह-वाह करते और कभी युगलमूर्त्तियो की छवि को एकटक देखते रह जाते।

इस दृश्य मे भावुक भक्तजनों की रति स्थायी भाव है, क्योंकि रसत्व उसको ही प्राप्त है। भगवान् रामचंद्र और श्रीमती जानकी आलम्बन-विभाव हैं, क्योंकि उनकी रति अर्थात् प्रेम के आधार वे ही है, और वे ही उसको विभावित करते हैं। तरंगायमान स्वरलहरियो का प्रसार, भाव-मय रामायण की चारु चौपाइयो का गान, युगलमूर्त्तियों का शृंगार आदि उद्दीपन विभाव हैं, क्योंकि वे ही रति के उद्दीप्त करने के कारण है। भक्तजनो का शिर हिलाना, झूमना आदि अनुभाव हैं, क्योंकि वे ही रति-भाव के बोधक हैं। उत्सुकता और उत्फुल्लता आदि संचारी हैं, जो रति-भाव मे समय-समय पर संचरण करके उसको उत्तरोत्तर वर्द्धित करते रहते है। स्थायी भाव के कारण को विभाव, कार्य को अनुभाव और सहकारी को संचारी भाव कहते है। मैं समझता हूं, जो उदाहरण मैंने उपस्थित किया है, उससे यह बात भली भाँति समझ मे आ गई होगी। फिर भी इसको और स्पष्ट किये देता हूं। भक्तजन के स्थायी भाव रति के कारण-भूत कौन है? युगलमूर्त्ति और उनके शृंगारादि। अतएव आलम्बन और उद्दीपन विभाव दोनो इसमे आ गये। रति के कार्य उनमे किस रूप मे प्रकट हुए, झूमने और एक-टक अवलोकन करने आदि मे, ये ही अनुभाव है। रति को अपने कार्य मे किससे सहायता मिलती रही उत्सुकता और उत्फुल्लता आदि से, ये ही संचारी भाव है। इसलिये विभाव का कारण, अनुभाव का कार्य और सहकारी का संचारी होना स्पष्ट है।

रसास्वादन प्रकार

आप लोगो को इसका अनुभव होगा कि रामलीला के दृश्यो का

सब के हृदय पर समान प्रभाव नहीं पडता। कोई उनको देखकर अत्यन्त विमुग्ध होता है, कोई अल्प और कोई नाम-मात्र को। कुछ लोग वहाँ ऐसे भी दिखलाई देते हैं, जिनका हृदय रामलीला देख प्रभावित होकर भी प्रभावित नहीं होता। इससे यह जाना जाता है कि रस का अधिकारी सब का हृदय नहीं होता। जिसमें भावुकता नहीं—जिसकी वासना रस-ग्रहणाधिकारिणी नहो—और जिसकी संस्कृति मे रसानुकूल साधनाये नहीं, उनके हृदय में रस की उत्पत्ति नहीं होती। साहित्य-दर्पणकार ने इस बात के प्रमाण मे एक विद्वान् का यह वचन उद्धृत किया है—

सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥

"वासनायुक्त सभ्यों को ही रसास्वाद होता है। वासना-रहित पुरुष तो नाट्य-शाला में काठ, पत्थर और दीवाल के समान ही जड बने रहते हैं।'

प्रयोजन यह कि समस्त साधनों के उपस्थित होते भी जिसके हृदय का स्थायी भाव यथातथ्य व्यक्त नहीं होता, उसके हृदय मे रस की उत्पत्ति होती ही नहीं। रस की उत्पत्ति तभी होगी जब स्थायी भाव व्यक्त होकर विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के साथ सर्वथा तल्लीन हो जायगा। साहित्य-दर्पणकार कहते हैं—

ननु तर्हि कथं रसास्वादे तेषामेकः प्रतिभास इत्युच्यते—
प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः सम्मिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्।
प्रपानकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्।

यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपानकरसे संजायते विभावादिसम्मेलनादिहापि तथेत्यर्थः।

"अच्छा तो फिर रसास्वाद में उन सब विभावादिको का एक प्रति-

भास अर्थात् एकरस के रूप में परिणाम कैसे होता है ? भिन्न-भिन्न कारणों से भिन्न-भिन्न काय ही होने चाहिएँ। इसका समाधान करते हैं। पहले विभावादि पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं, उसी समय उन्हें हेतु कहा जाता है, इसके अनंतर भावना के बल से और व्यंजना की महिमा से आस्वाद्यमान सब सम्मिलित विभावादिक सहृदयों के हृदय में प्रपानक रस की भाँति अखंड एकरस के रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे किसी प्रपानक रस में खाँड़, मिर्च, जीरा, हींग आदि के सम्मेलन से एक अपूर्व उन सब के पृथक्-पृथक् स्वाद से विलक्षण आस्वाद पैदा होता है, उसी प्रकार विभावादि के सम्मेलन से एक अपूर्व रसास्वाद पैदा होता है, जो विभावादिकों के पृथक्-पृथक् आस्वाद से विलक्षण होता है।"—विमलार्थदर्शिनी

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि स्थायी भाव के व्यक्त होने का क्या अर्थ ? दूसरी बात यह कि सब दर्शकों के रति भाव को रसता क्यों नहीं प्राप्त होती ?

जितने स्थायी अथवा संचारी भाव हैं वे वासना-रूप से सदैव मानवमात्र के हृदय में वैसे ही विद्यमान रहते हैं जैसे पृथ्वी में गंध। कहा गया है कि 'गंधवती पृथ्वी'; किन्तु पृथ्वी की गंध, वृष्टि होने पर ही विदित होती है। इसी प्रकार भावोदय भी विशेष कारणों से होता है। जिस समय कोई भाव हृदय में उदित होकर कार्यकारी बनता है, उसी समय उसकी प्रतीति अनुभावों द्वारा होती है। आदि में लहरें समुद्र में अव्यक्त अवस्था में रहती हैं, बाद को वे व्यक्त होती हैं। इस व्यक्ति का भी अनेक रूप होता है, कभी यह रूप बहुत साधारण होता है और कभी बहुत व्यापक, विशाल और अचिंतनीय! यही अवस्था हृदय और भावों की है। आप हृदय को समुद्र और भावों को लहरें समझें, भावोदय के कारणों को विविध समीर। कैसे अव्यक्त भाव व्यक्त होकर कार्यकारी हो जाता है, तरंगों की स्थिति और उनकी

गति-विधि पर विचार करने से यह बात भी स्पष्ट हो जावेगी। अब रही दर्शको के रति भाव की बात।

मैं पहले कह आया हूँ कि लीला देखने में सब दर्शको की तल्लीनता समान नहीं होती, ऐसी अवस्था में सब के हृदयो मे रति भाव का उदय एक रूप में न होगा, उसमे तारतम्य होगा। कहीं वह तरलातितरल, कहीं तरल, कहीं प्रगाढ़ और कहीं उससे भी प्रगाढ़ होगा। कोई बाजो का अनुरागी होता है, कोई गाने का, कोई वेषभूषा का, कोई स्वाभाविक दृश्यो का, कोई रामायण सुनने का, कोई उसकी भावमय कविताओ का, कोई उसके शब्द-विन्यास का, कोई हाव-भाव-कटाक्ष का, कोई नाच-रग का और कोई वार्तालाप का, कोई स्वरूपो को साधारण मनुष्य समझेगा, कोई राजकुमार और कोई अवतार। इस दृष्टि से उनमे किसी की रति सामान्य होगी, किसी की उससे अधिक और किसी की अगाध। कोई इनमे से दो-दो तीन-तीन बातो के प्रेमी मिलेंगे, कोई कई एक के और कोई सभी बातो के। जिसकी जैसी रुचि होगी, उसी के अनुसार उसकी भावग्राहिता होगी और उसी के परिणाम से उसकी रति तरल, प्रगाढ़ अथवा अधिक प्रगाढ़ होगी। मैं पहले गान, वाद्य अभिनय इत्यादि साधनों के प्रभाव का विस्तृत वर्णन कर आया हूँ। यह भी बतला चुका हूं कि सब साधनो का सम्मिलित प्रभाव जितना हृदय-ग्राही, विमुग्धकर और व्यापक होता है, उतना किसी एक अथवा दो-चार का नहीं। ऐसी अवस्था में आप यह सोच सकते हैं कि किसके हृदय का रति-भाव किस अवस्था में किस कोटि का होगा। केवल दूध-दही, घी शहद, मीठे को अलग-अलग अथवा इनमें से किसी दो-तीन-चार को एक साथ आस्वादन करनेवाला पचामृत के स्वाद का आनद नहीं प्राप्त कर सकता और न अनेक सुदर और स्वादिष्ट पेय पदार्थों से बने हुए प्रपानक रस पान का परमानद वह पा सकता है, जिसने उनमे से किसी एक-दो पेय वस्तुओ

का ही स्वाद चखा है। आशा है, इतना निवेदन करने के बाद यह बात समझ मे आ गई होगी कि सबके रति-भाव को रसता क्यो नहीं प्राप्त होती। वास्तविक बात यह है कि परमानंद प्राप्ति का अधिकारी पूर्ण ज्ञान-प्राप्त, उदात्त और भावुक हृदय ही होता है और उसी के रति-भाव को रसता प्राप्त होती है। अपनी भावना के अनुकूल थोड़ा-बहुत आनंद लाभ करनेवाले की रति का ऐसा सौभाग्य कहाँ? भगवान् मरीचिमाली की किरणे अनेक वस्तुओ पर प्रतिफलित होती हैं, किन्तु हिमाचल के हिम-धवल शृंगो का गौरव किसे प्राप्त होता है?

यहाँ पर मै यह भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि जितने स्थायी भाव हैं, अनेक अवस्थाओ मे वे संचारी ही रहते हैं, विशेष अवस्था मे ही उनको रसत्व प्राप्त होता है। रति अथवा अनुराग की भी यही अवस्था है। साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं—

अत्र च रत्यादिपदोपादानेन स्थायित्वे प्राप्ते पुन. स्थायिपदोपादान रत्यादीनामपि रसान्तरेऽस्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। ततश्च हासक्रोधादयः शृंगारवीरादौ व्यभिचारिण एव।

भावार्थ इसका यह है, 'जो रति आदि एक रस के स्थायी हैं, वे ही दूसरे रस मे जाकर अस्थायी हो जाते हैं, अत. शृंगार-वीरादि रसो मे हास, क्रोध आदि जो हास्य और रौद्रादि रसो के स्थायी हैं, संचारी (अस्थायी) हो जाते हैं।

'रत्नाकर'-कार भी यही कहते हैं. जिसका प्रतिपादन रसगंगाधर-कार भी करते हैं—

रत्यादय. स्थायिभावा. स्युर्भूयिष्ठविभावजा.।
स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः॥

'अधिक विभावादिकों से उत्पन्न हुए रति आदि स्थायी भाव होते हैं और वे ही जब थोड़े विभावादिकों से प्रसूत होते हैं तो व्यभिचारी कहलाते हैं।'

—हिन्दी रसगंगाधर

इससे क्या प्रतिपादित हुआ ? यही न कि जिन दर्शकों के हृदय में रति-भाव सचारी-भाव के रूप में प्रकट होगा, उसमें उसको रसता नहीं प्राप्त हो सकती। रसता उसी के हृदय के रति-भाव को प्राप्त होगी, जिसमें उसका आविर्भाव स्थायी रूप में होगा। ऐसे भावुक अल्प होते हैं, यही आचार्यों की सम्मति भी है। साहित्य-दर्पण में इसका यह प्रमाण उठाया गया है—

'पुण्यवन्त. प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससततिम्' ।

'जैसे कोई-कोई विशिष्ट योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं, इसी प्रकार कोई-कोई पुण्यवान् अर्थात् वासनाख्य सस्कार से युक्त सहृदय पुरुष रस का आस्वाद लेते हैं'। —साहित्य-दर्पण

अब आप लोग समझ गये होंगे कि किस लिये अधिकाश दर्शकों की रति को रसता नहीं प्राप्त होती। वास्तविक बात यह है कि जिन हृदयो मे रति सचारी-भाव में ही परिणत हुई, उनमें तो उसको स्थायी भाव का पद भी नहीं प्राप्त हुआ, फिर उसको रसता कैसे मिलती ? वसतागम से जो उन्माद कोकिल के हृदय में उत्पन्न होता है, जलदागम से जो प्रगाढ प्रेम पपीहा के हृदय में उदय पाता है, उसके अधिकारी अन्य पक्षी नहीं हो सकते। श्रावण के मेघ को उपादेयता क्वार के श्वेत बादलों में नहीं मिलती।

साहित्य में रस किसे कहते हैं, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? उसका अधिकारी कौन है ? प्राय अधिकाश दर्शकों के भावों को रसता क्यों नहीं प्राप्त होती ? इन विषयों पर मैं अपना विचार प्रकट कर चुका। रस-सबधी कुछ और बातें भी सुनिये।

रस का इतिहास

काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य। जो काव्य केवल श्रवण किया जा सकता है, उसको 'श्रव्य' कहते हैं, जैसे महा-

भारत, रामायण आदि; और जो काव्य रंगमंच पर खेलकर दिखलाया जाता है, उसे 'दृश्य' कहते हैं, जैसे शकुन्तला और उत्तररामचरित आदि। पहले मैं इस बात का प्रतिपादन कर आया हूँ कि रस-उत्पत्ति के लगभग समस्त साधन दृश्य काव्य में पाये जाते हैं। इसलिये पहले-पहल दृश्य काव्य के आधार से ही रस की ओर विबुधों का विचार आकर्षित हुआ। जिस समय रंगमंच का अभिनय देखकर लोग पुलकित होते थे और तरह-तरह के भावों से उनका हृदय गद्गद होता था, साथ ही जब विचारशील अपने साथ अन्यों को भी आनंदस्रोत में बहते देखते तो उनको यह विचार होता कि जिस रस की प्राप्ति से दर्शक-मंडली इस प्रकार विमुग्ध होती है, उस रस का आधार कौन है? और वह कैसे उत्पन्न होता है? स्मरण रहे, यहाँ पर रस से उस तरल रस और साधारण आनंद से ही प्रयोजन है, जो अभिनय के समय प्राय सब दर्शकों को प्राप्त होता है। उस परमानंद अथवा प्रगाढ़ रस से नहीं, जिसका निरूपण बाद को गम्भीर गवेषणा के उपरान्त साहित्य-सर्मज्ञों ने किया। हृदय में तर्क उपस्थित होने पर सहृदयों ने उसपर विचार आरंभ किया और अनेक सिद्धांतों पर पहुँचे। रसगंगाधरकार ने उसका बड़ा सुंदर वर्णन किया है, उन्हीं के ग्रंथ के आधार पर मैं इस विषय में यहाँ कुछ लिखता हूँ।

आप लोग जानते हैं कि नाटकों में जनता की दृष्टि को अपनी ओर अधिक आकर्षण करनेवाले, उसके पात्र ही होते हैं। अभिनेता में ही यह शक्ति होती है कि अपने अभिनय और कलाकौशल से वह दर्शकों के हृदय में स्थान ग्रहण कर लेवे। अतएव पहल-पहल कुछ लोगों का यह विचार हुआ कि 'भाव्यमानो विभाव एव रस.'। नाटक-पात्रों के वेष में आकर जो अभिनेता हमारे सामने तत्संबंधी प्रेममूलक अथवा अन्य मनोभावों से सम्पर्क रखनेवाले कार्य-कलाप करता एवं नाना प्रकार की लीलाओं और हाव-भाव-कटाक्ष से हम लोगों को विमुग्ध

बनाता है, मूर्तिमान् रस वही है। क्योकि नाटक-पात्रों के समस्त भावों और व्यापारा का आधार अथवा आलबन वही होता है।

अनेक विचारशीलो को यह बात न जची। उन्हाने सोचा, अभिनेताओं मे यों तो कोई आकर्पण होता नहीं, जब वे विशेष वेषभूषा में रगमच पर आते हैं और अपनी अगभगी, चेष्टाओ और रागरग से लोगो को विमुग्ध करते हैं तभी दर्शको को आनद प्राप्त होता है। अतएव रस चेष्टाओ और अगभगी आदि ही मे रहता है, अभिनेताओं मे नहीं। उनके इस विचार को रसगगाधरकार ने इन शब्दो मे प्रकट किया है 'अनुभावस्तथातथेतरे'। भाव इसका यह है कि कुछ लोगो की यह सम्मति है कि 'अनुभावों' में रस रहता है।

कतिपय भावुको के मन मे यह बात भी न जमी। उन्होने कहा, 'चेष्टाऐं और अगभगी आदि अनुभाव किसी मानसिक भाव के परिणाम होते हैं, इसलिये रस रह सकता है तो उसी में रह सकता है, क्योंकि कारण का गुण ही कार्य मे होता है' अतएव उनके मुख से यह बात निकली—'व्यभिचार्येव तथातथा परिणमति', अर्थात् हृदय के व्यभिचारी भाव ही रस-रूप मे परिणत होते हैं।

ज्यो-ज्यो इस विषय मे तर्क आगे बढा और विचार होने लगा, त्यो त्यो नई-नई धारणाएं हुई और एक के बाद दूसरे मत प्रकट होने लगे। किसी ने कहा, 'विभावादयस्त्रय समुदितोरसा', विभाव, अनुभाव और सचारी भाव तीनो मिलकर इसकी सृष्टि करते हैं, क्योकि वे परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। किसी ने कहा—'त्रिपु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा तु त्रयोऽपि नैव' 'तीनो मे जो चमत्कारी होगा, उसी की रस-सज्ञा होगी, अन्यथा किसी की नहो।' जिस समय यह विवाद चल रहा था, उसी समय महामुनि भरत ने यह व्यवस्था दो 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्तिः।' विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। किंतु यह उन्होनें नहीं बतलाया कि इन तीनो का सयोग

किसके साथ होने से, परस्पर होने से अथवा किसी अन्य के साथ होने से। मेरा विचार है, नीचे के वार्तिक मे उन्होने इस बात को भी स्पष्ट कर दिया है। उक्त सूत्र लिखकर वे स्वयं प्रश्न करते हैं—को दृष्टान्त. इसका क्या दृष्टान्त है ? फिर स्वयं उत्तर देते हैं—

'यथा हि—गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनोपधिभिश्च षाडवादयो रस निर्वर्तन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति'।

जिस प्रकार गुड़ादिक द्रव्य व्यंजनो और औषधियो से विविध प्रकार के पानक रस बनते हैं, वैसे ही अनेक भावो से युक्त होकर स्थायी भाव भी रसत्व को प्राप्त होते हैं।

'नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति' का 'स्थायिनो भावाः' किस भाव का व्यंजक है ? इसी भाव का कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावो का जब स्थायी भावो से संयोग होगा, तभी रस की उत्पत्ति होगी। रस किस मे और कैसे उत्पन्न होता है, इस बात का निर्णय महामुनि भरत ने अपने उल्लिखित सूत्र मे स्पष्टतया कर दिया है। किंतु उसके अर्थ मे ही मतभिन्नता हो गई, इसलिये विवाद कुछ दिन और चला, भट्ट लोल्लट आदि विद्वानो ने कहा—

यह स्वीकार कर लिया जाता है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रति आदिक स्थायी भाव को रसत्व प्राप्त होता है। किंतु यह रति आदिक भाव किनके होते हैं ? उन लोगो का कथन है कि वे रति आदिक भाव नाटक-पात्रो के होते हैं, चाहे वह नायक-नायिका हो, अथवा कोई और अपेक्षित पात्र। यहाँ यह प्रश्न होगा कि वे पात्र तो अतीत के गर्भ मे होते हैं, अथवा कल्पना-संसार मे विचरण करते रहते हैं, उनके रति आदिक स्थायी भावो से दर्शक-समुदाय कैसे प्रभावित होगा और यदि प्रभावित नहीं होगा, तो उनके करुण, निर्वेद, हास्य और आनन्दादि का क्या हेतु होगा ? वे लोग कहते हैं, अभिनेताओ पर वे उन पात्रो का आरोप कर लेते हैं, अर्थात् वेष-भूषा और कार्य-कलाप द्वारा

दर्शक लोग उस समय अभिनेताओं को ही नाटक-पात्र मान लेते हैं और उनका यह ज्ञान ही उनके सुख-दु ख अथवा आनंद का कारण होता है।

शंकुक कहते हैं कि आरोप कर लेने में अवास्तविकता है। यदि आरोप करने के स्थान पर अनुमान कर लेना कहा जावे तो अधिक सगत होगा।

भट्टनायक ने आरोप अनुमान की बात नहीं मानी। उन्होंने कहा— 'अभिनय देखने के समय जो आनद का प्रवाह बहता है, अथवा करुण आदि रस जिस भाव का विस्तार करते हैं, वे मोहक और व्यापक होते हैं। इसलिये उस समय दर्शक यह अनुभव नहीं कर पाते कि जिन रात आदिक भावो के आधार से वे रस विशेप का आस्वादन कर रहे है, उनके हैं, अथवा किसी नाटकीय पात्र के। वास्तव में उस समय वे बिल्कुल निरपेक्ष होते हैं।

काव्य-प्रकाशकार को किसी की सम्मति पसन्द नही आई, उन्होने स्पष्ट कहा—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण।
व्यक्त स तैर्विभावाद्यै· स्थायी भावो रस स्मृत·॥

लोक मे रति आदिक स्थायी भावो के जो कारण, कार्य और सहकारी होते है, नाटक और काव्य मे ही विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी क्रम से कहलाते हैं। इन विभावादि की सहायता से व्यक्त स्थायी भाव की रस-सज्ञा होती है।

इसके आगे वे लिखते हैं 'अभिव्यक्त· सामाजिकानाम् वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको . ..अलौकिकचमत्कारकारी शृ गारादिको रस।'

किस व्यक्त स्थायी भाव की रस-सज्ञा होती है, इस वार्तिक मे यह स्पष्ट हो जाता है। उन्होने बतलाया कि सामाजिको (दर्शको) के हृदय

में वासना रूप में स्थित स्थायी, रति आदिक भाव को ही रसत्व प्राप्त होता है। मैं समझता हूं, निम्नलिखित वार्तिक में इसी बात को नाट्य-शास्त्रकार भरत मुनि उनसे भी पहले कह चुके हैं—

"नानाभावाभिनयव्यञ्जितान्वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकास्तस्मान् नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याता.।"

नाना भावाभिनय से व्यंजित वचनावली और अंगभंगी द्वारा दर्शक लोग मन में स्थायी भावों के रस का आस्वादन करते हैं इसी-लिये नाटकों में 'रस' माना गया है।

लगभग यही सम्मति अभिनव गुप्ताचार्य की है, वरन् वास्तविक बात तो यह है कि काव्यप्रकाशकार का विचार उसके प्रभाव से प्रभावित है। साहित्य-दर्पणकार का भी यही मत है और कुछ शाब्दिक परिवर्तन से इसी सिद्धांत को पंडितराज जगन्नाथ भी स्वीकार करते हैं। बीच-बीच में और तर्क-वितर्क भी हुए हैं, परंतु इस समय सर्व-मान्य सिद्धान्त यही है।

हिंदी शब्दसागर के रचयिता विबुधजन इस विषय में जो लिखते हैं, उसे भी देखिये—

"हमारे यहाँ के आचार्यों में इस विषय में बहुत मतभेद है कि रस किसमें तथा कैसे अभिव्यक्त होता है। कुछ लोगों का मत है कि स्थायी भावों की वास्तविक अभिव्यक्ति मुख्य रूप से उन लोगों में होती है, जिनके कार्यों का अभिनय किया जाता है। (जैसे राम, कृष्ण, हरि-श्चन्द्र आदि) और गौण रूप से अभिनय करनेवाले नटों में होती है, अत: इन्हीं में लोग रस की स्थिति मानते हैं। ऐसे आचार्यों का मत है कि अभिनय देखनेवालों या काव्य पढ़नेवालों के साथ रस का कोई संबंध नहीं है। इसके विपरीत अधिक लोगों का यह मत है कि अभिनय देखनेवालों तथा काव्य पढ़नेवालों में ही रस की अभिव्यक्ति होती है। ऐसे लोगों का कथन है कि मनुष्य के अन्तःकरण में भाव

पहले से ही विद्यमान रहते हैं और काव्य पढ़ने अथवा नाटक देखने के समय वही भाव उद्दीप्त होकर रस का रूप धारण कर लेते हैं और यही मत ठीक माना जाता है। तात्पर्य यह कि पाठकों या दर्शकों को काव्यों अथवा अभिनयों से जो अनिर्वचनीय और लोकोत्तर आनंद प्राप्त होता है, साहित्य-शास्त्र के अनुसार वही 'रस' कहलाता है।"

—हिंदी शब्दसागर, पृष्ठ २९०८

रस का विषय बड़ा वादग्रस्त है, कुछ मर्मज्ञ विद्वानों की धारणा है कि अब तक रस की उचित मीमांसा नहीं हुई। जो हो, किंतु मैं यह कहूँगा कि उसका शास्त्रार्थ जिस विस्तृत रूप से ग्रंथों में लिपिबद्ध है, वह साहित्य की बहुमूल्य और मननशीलता की अद्भुत सम्पत्ति है। वह अगाध समुद्र है, डूबने पर उसमें बहुमूल्य रत्न प्राप्त होते हैं, किंतु येह कार्य है, बड़ा उद्वेगजनक और दुस्तर। मैंने थोड़े में जिन बातों का परिचय दिया है, वह कहाँ तक यथातथ्य है, यह कहना कठिन है। जहाँ शब्दों की ही पकड है और बात-बात में तर्क-वितर्क होता है, वहाँ निश्चित रूप से किसी सिद्धांत का सन्निप्तीकरण सुलभ नहीं। किंतु यह दुस्साहस मैंने किया है, आशा है पाठकों को इससे रस का इतिहास जानने में कुछ सुविधा अवश्य होगी।

सस्कृत को छोड़कर रस की कल्पना और किसी भाषा मे नहीं हुई। अँगरेजी, अरबी, फारसी और उर्दू में भाव के ही पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, रस के नहीं। रस का विवेचन जितना ही विमुग्धकर है, उतना ही पाडित्यपूर्ण।

रस की आनंदस्वरूपता

काव्यप्रकाशकार लिखते हैं—

'पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः'।

'पानक रस के समान जिनका आस्वाद होता है, जो स्पष्ट झलक जाते, हृदय में प्रवेश करते, व्याप्त होकर सर्वांग को सुधारस-सिंचित बनाते, अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते और ब्रह्मानंद के समान अनुभूत होते हैं, वे ही अलौकिक चमत्कारसम्पन्न शृंगारादि रस कहलाते हैं।

यह हुई शृंगारादिक रस की परिभाषा। यहाँ प्रश्न यह होता है कि करुण, भयानक आदि रसों में, जिनके स्थायी भाव शोक, जुगुप्सा और भय आदि हैं, इस परिभाषा की सार्थकता कैसे होगी? क्योंकि वे तो दुःखमय होते हैं।

इसका उत्तर साहित्य-दर्पणकार इस प्रकार देते हैं—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्॥
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किंच तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः॥

नहि कश्चित् सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात्सुखमयत्वमेव।

'करुण आदि रसों में भी जो परमानंद होता है, उसके लिये सहृदयों का अनुभव ही प्रमाण है। यदि करुणादि रसों में दुःख होता हो तो करुणादि रस-प्रधान काव्य नाटकादि के श्रवण, दर्शन आदि में कोई भी प्रवृत्त न हो क्योंकि कोई भी समझदार अपने दुःख के लिये प्रवृत्त नहीं होता; परन्तु करुण रस के काव्यों में सभी लोग आग्रहपूर्वक प्रवृत्त होते हैं, अतः वे रस भी सुखमय ही हैं। —विमलार्थदर्शिनी।

यह कहकर स्वयं तर्क करते हैं, दुःख के कारण से सुख की उत्पत्ति कैसे होगी? उत्तर देते हैं—

'लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते, इति लोक एव प्रतिनियमः, काव्ये पुनः सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते।'

'शोक के कारणों से शोक के उत्पन्न होने और हर्ष के कारणों से

हर्ष के उत्पन्न होने का नियम लोक में ही होता है, (काव्य और नाटकों मे) विभावादिको से सुख ही मिलता है।'

फिर स्वय तर्क करते हैं—

'कथ तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनश्रवणाभ्यामश्रुपातादयो जायन्ते।'

यदि सुख ही होता है तो हरिश्चद्र आदि के करुणरसमय चरित को काव्य एव नाटको मे देखने-सुनने से अश्रुपातादि क्यो होते हैं ?

उत्तर देते है—

'अश्रुपातादयस्तद्वद्द्रुतत्वाच्चेतसो मत '।

चित्त के द्रवित होने के कारण से, प्रयोजन यह कि चित्त दु ख मे ही द्रवित नहीं होता आनद मे भी द्रवित होता है और उस समय भी अश्रुपातादि होते हैं।

साहित्य-दर्पणकार ने जो कुछ कहा है, सूत्र रूप से कहा है। मैं यथामति उसकी व्याख्या करके उसको स्पष्ट करना चाहता हूँ। मानव-समाज के कुछ सस्कार सार्वभौम हैं, किसी देश अथवा किसी जाति का प्राणी क्यो न हो, गुणो का आदर और दुर्गुणो का अनादर अवश्य करेगा। मानस के जो उदात्त और महान् भाव हैं, उसकी पूजा सब जगह सभी करता है, इसी प्रकार उसके जो कुत्सित, घृणित एव निन्दनीय विचार हैं, उनको हेय, अनत् और तिरस्कार योग्य कौन नहीं मानता ? सती स्त्री जैसे ससार मे वन्द्य है, असती स्त्री वैसे ही अक्षम्य। सदाचारी पुरुष सब स्थानो मे देवता समझा जाता है और दुराचारी पुरुष वसुधरा भर मे दानव। जहाँ किसी शिष्ट, उदारचेता, धर्मप्राण, पुरुष को देखकर हृदय प्रफुल्ल और कृतकृत्य होता है, वहाँ दुष्ट उत्पीड़क एव धर्मच्युत जन को देख क्रुद्ध और सतप्त बन जाता है। प्रायः देखा गया है कि नरपिशाचो का नाश, दमन और उत्पीडन देखकर समाज हर्ष-विह्वल हो जाता है और वही महात्माओ की कदर्थना देखकर

कलेजा थाम लेता है। जब यह संसार मनुष्य मात्र का है, वह भी एक-देशी नहीं, सर्वदेशी तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि काव्य-श्रवण अथवा नाटक-दर्शन के समय भी वह जैसा का तैसा रहेगा, उसमें यदि कारण विशेष से किसी काल में कुछ परिवर्तन होगा, तो नाम मात्र का। अपवाद की बात और है, वह कहाँ नहीं होता?

जितने साहित्यिक ग्रंथकार और नाटककार होते हैं, सबका उद्देश्य सदादर्श-प्रचार होता है। प्राय अधिकांश ग्रंथ इस उद्देश्य से लिखे जाते हैं कि उनके द्वारा जाति, देश और समाज का उत्थान हो और उनमें ऐसे भावों का प्रचार हो जिससे उनके सुख-शांति की वृद्धि हो। लक्ष्य सबका यही होता है, लिखने की प्रणाली में भिन्नता हो सकती है। इस सूत्र से नाटक-आदि में भले-बुरे सभी प्रकार के पात्र होते हैं। भले को भलाई और बुरे को बुराई दिखलाकर एक का उत्कर्ष और दूसरे का पतन दिखलाया जाता है। इसलिये कि जिसमें दर्शकों के हृदयों में भलाई करने और बुराई न करने की रुचि उत्पन्न हो। अपने उद्देश्य की सिद्धि में जिस ग्रंथकार अथवा नाटककार की लेखनी जितनी ही विलक्षण होती है, जितनी ही उसमें मार्मिकता होती है, जितनी ही सुंदरता से वह सूक्ष्म मानसिक भावों का चित्रण कर सकती है, उसकी रचना उतनी ही अपूर्व मनोहारिणी और प्रभावजनक होती है। इसी प्रकार इन भावों का अभिनेता अपने कार्य में जितना ही दक्ष, पटु और भावुक होता है, जितनी ही सहृदयता से भावों का व्यंजन कर सकता है, उसका अभिनय उतना ही सफल होता है, और उतना ही वह दर्शक-जन के हृदय को आकर्षित कर उसे विमुग्ध और आनंदित कर सकता है।

मान लीजिये, रंगालय में जनता समवेत है, रामलीला हो रही है, वनवास प्रकरण है, और चारों ओर करुण-रस प्रवाहित है। सामने न तो महाराज दशरथ हैं, न कौशल्या देवी, न कैकेयी, न मथरा, न

बिच्छू निकालकर कहता—'क्या डंक मरवा दूं', तब उसकी नानी मर जाती और वह इतना डर जाता कि 'ओ ओ.' छोड़कर उसके मुह से सीधी बात न निकलती। जब उसकी देह में वह लोहे के कॉटे चुभो देता, या नुकीली छुरी या कोई हथियार गड़ा देता, या यह कहता कि यह अगीठी तुझ पर उलट दूँ, तब वह इतना डर जाता और उसकी घिग्घी ऐसी बँध जाती कि वह मौत को सामने देखने लगता और ऐसी चेष्टाएं करता कि मानो अब मरा। पर दर्शक उसकी यह दशा देखकर कभी हसते, कभी तालियाँ बजाते, कभी कहते, 'अच्छे से पाला पड़ा।' इसी को कहते हैं, 'इस हाथ दे उस हाथ ले।' एक ओर भयानक रस का उग्र रूप और दूसरी ओर था मूर्तिमान् आनद। यह विपर्यय क्यो? केवल संस्कार-वश।

प्राय देखा जाता है कि जब रगमच पर किसी बड़े अत्याचारी की यातना आरम्भ होती है, लहूपिपासितों का लहू बहाया जाता है और दूसरों की नाक काटनेवालो की नाक काट ली जाती है, जब देश-हितैपियो के गले पर छुरा चलानेवालो, पेट मे कटार भोंकनेवालों का लहू पान किया जाता है, अथवा देशद्रोहियो का शिर गेंद बनाया जाता है, उनके मास के लोथड़े उछाले जाते हैं, और उनकी अँतडी चबाई जाती है तो यह वीभत्स कांड देखकर दर्शक-मडली के रोंगटे नहीं खडे होते और न उनके हृदय मे कुछ दुख ही होता है। वरन् वे जितना छटपटाते हैं, जितना रोते कलपते हैं और जितनी हाय-हाय करते हैं, उतनी ही वह हर्पित होती और उल्लास प्रकट करती है। क्यों? इसलिये कि नाटककार की लेखनी के कौशल से अत्याचारियो, देश-द्रोहियो और उत्पीडकों के प्रति उनके हृदय में इतनी घृणा जाग्रत् रहती है कि उनको उनकी नाटकीय यातना देखकर ही सुख मिलता है। दूसरी बात यह कि मनुष्य का सस्कार बडा प्रबल होता है, वही अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल उसके हृदय मे सुख-दुख, घृणा और प्रेम की सृष्टि करता

है। अत्याचारियों, देशद्रोहियों, मानव-उत्पीड़कों के प्रति मनुष्य मात्र का संस्कार द्वेष और घृणामय है। इसलिये जब वह उसकी दुर्गति होते देखता है तो संतोष तो लाभ करता ही है, यह सोचकर भी उत्फुल्ल होता है कि संसार-कंटकों की जितनी दुर्गति दिखलाई जावे, उतना ही उत्तम, क्योंकि उसी को देखकर जनता के नेत्र खुलते हैं, उन्मार्ग-गामियों को त्रास होता है और दुर्जनों से वसुधा सुरक्षित रहती है। नाटक देखने के समय एक भाव और सब दर्शकों के हृदय में जाग्रत् रहता है वह यह कि वे उसको खेल समझते हैं, तात्कालिक होनेवाली सत्य घटना नहीं। इसलिये रंगमंच के सुख दुःखमय दृश्यों का, अभिनेताओं के कौशल-मय अभिनयों का, रंगभूमि के गान-वाद्य और परदों के बहुरंजित सीन-सीनरी आदि का प्रभाव तो उनपर पड़ता है और वे प्रभावित भी होते हैं, परन्तु उनको वह शोक, मोह और क्षोभ नहीं सताता जो वास्तविक घटना के संघटित होने के समय प्रत्येक प्रत्यक्षदर्शी मानव-हृदय को कष्ट पहुँचाता है और इस प्रकार उस समय उनका चित्त उन स्वाभाविक आघातों से भी सुरक्षित रहता है, जो ऐसे अवसरों पर प्रत्येक मानव-हृदय पर साधारणतया होते रहते हैं।

अब तक जो मैंने निवेदन किया है, आशा है, उससे यह अवगत हो गया होगा कि किस प्रकार करुण-रस से भी सुख की प्राप्ति होती है, और कैसे भयानक रस और वीभत्स रस में भी हृदय में आनंद का संचार होता है। नाटकों में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के जिस व्यापार द्वारा इस प्रकार के रसों की उत्पत्ति, परिणति आदि होती है, उसको विभावन, अनुभावन और संचारण कहते हैं। साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं—

"विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम्। अनुभावनमेवंभूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम् सञ्चारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम्"।

और भावों का तिरोभाव हो जाता है। विभावादि जब स्थायी भावों के साथ मिलकर रस-रूप में परिणत होते हैं, उस समय भी केवल रस विकसित रहता है, और सब उसी में लीन हो जाते है, कहा भी है—'अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत्'। इसलिये वह ब्रह्मास्वाद सहोदर है, अथवा ब्रह्मास्वाद से उसकी समानता है।

२—कुछ विद्वानों का सिद्धात है, 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरं रसादिश्चात्मा' शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, और रस आत्मा। साहित्यदर्पण-कार लिखते हैं—'वाक्य रसात्मक काव्यम्' काव्य वह है जिसकी आत्मा रस है, इससे भी उसका ब्रह्म-स्वरूप होना सिद्ध है।

३—अग्निपुराण में लिखा है—

अक्षर परम ब्रह्म सनातनमज विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येक चैतन्य ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥

जिसको वेदांत में अक्षर, परब्रह्म, सनातन, अज, व्यापक, चैतन्य और ज्योतिस्वरूप कहा गया है, उसका सहज आनद किसो समय जब प्रकट होता है, तो उस अभिव्यक्ति को चैतन्य, चमत्कार अथवा रस कहा जाता है।

४—नाटकों में देखा जाता है कि रस का उद्रेक होने पर एक काल मे सहस्रो मनुष्य मन्त्रमुग्धवत् बन जाते हैं, एक साथ हॅसते-रोते और तालियॉ बजाते हैं, आनंद-ध्वनि करते हैं, शर्म-शर्म या थू-थू कहने लगते हैं और कभी-कभी अपने से बाहर हो जाते हैं। यह रस की अलौकिकता है, क्योंकि साधारणतया लोक में दो एक प्राणिविशेष में ही उसकी उपस्थिति देखी जाती है। दूसरी बात यह कि वह अपरिमित है, इसलिये कि अनेक श्रोताओं और दर्शको के हृदय में वह एक ही समय में उदित और विकसित होता है।

५—रस मे ज्ञानस्वरूपता और स्वयं प्रकाशता है। साहित्य-दर्पण-कार कहते हैं—

'अभिन्नोऽपि स प्रमात्रा वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन गोचरीकृत. इति च ? ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः।

'यद्यपि रस आत्मा के स्वरूप से अभिन्न है, चिन्मय है, तथापि अनादि वासना के द्वारा उपनीत अर्थात् ज्ञान मे प्रतिभासित जो रत्यादिक उनके साथ अभिन्न रूप से गृहीत होता है। इस प्रकार रस को ज्ञानस्वरूपता और उसके साथ रत्यादि का अभेद सिद्ध हुआ। ज्ञान स्वयं प्रकाश है, अतः रस भी स्वयंप्रकाश है। —विमलार्थप्रकाशिनी

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि क्या वास्तव में समस्त नाटक देखने और काव्य पढ़ने-सुननेवालों को ब्रह्मास्वाद की प्राप्ति होती है ? उत्तर यह है कि नहीं। जिसकी जैसी वासना होगी, भाव-ग्रहण की जैसी शक्ति होगी, जिसमे जैसी सहृदयता होगी, रस आस्वाद का वह वैसा ही अधिकारी होगा। रस की भी कोटि है, उसका सब से उच्च कोटि का स्वरूप ब्रह्मास्वाद है, उसके अधिकारी सर्वत्र थोड़े हैं। रस का साधारण रूप जो प्राय. उससे निम्नकोटि का होता है, वही सर्वसाधारण का उपभोग्य कहा जा सकता है, चाहे उसकी मात्रा मे कुछ तारतम्य भले ही हो। जिसने नाट्यशाला में बैठकर नाटक देखा होगा, किसी सुवक्ता का व्याख्यान किसी सभा मे सुना होगा अथवा किसी प्रसिद्ध संकीर्तन-मंडली का भक्तिमय कीर्तन श्रवण किया होगा, उसको इस बात का अनुभव स्वयं होगा। परमात्मा का नाम है सच्चिदानन्द। क्यो ? इस-लिये कि वह सत् है, चित है और आनंदस्वरूप है। तात्पर्य आनंद मात्र ईश्वर का स्वरूप है, परंतु इस सच्चे आनन्द के अधिकारी कितने हैं ? प्रत्येक प्राणी में, हरे-भरे वृक्षो में, विकसित सुमनो में, रस भरे नाना फलों में। प्रयोजन यह है कि जहाँ शिव है, सत्य है, सौंदर्य है, वहाँ ईश्वर की आनंदमयी सत्ता मौजूद है। परंतु उसका सच्चा उपभोग

करने वाले, कोई महान्‌हृदय महात्मा ही हैं। सर्वसाधारण अपने ज्ञान, विवेक, विचार और दृष्टि के अनुसार ही उनसे यथाशक्य थोड़ा या बहुत आनंद प्राप्त कर सकते हैं। यही अवस्था नाटक-दर्शकों अथवा काव्य आदि श्रवणकर्ताओं की भी समझनी चाहिये। किंतु इससे रस के ब्रह्मास्वाद होने में बाधा नहीं पड़ती, क्योंकि रस परिणति की अंतिम सीमा वही है।

विभावादिकों की रसव्यंजकता

आप लोग पढ़ते आये हैं कि विभाव, अनुभाव और सचारी भाव तीनों का सयोग जब रति आदिक स्थायी भावो से होता है, तभी रस की उत्पत्ति होती है। किन्तु देखा जाता है कि इनमे से किसी एक के द्वारा भी रस उत्पन्न हो जाता है, ऐसी अवस्था में इसकी मीमासा आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

'ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत्कथं तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेपि स स्यादित्युच्यते'।

'यदि विभाव, अनुभाव और सचारी इन तीनो के मिलने पर ही रसास्वाद होता है, एक दो से नहीं होता, तो जहाँ कहीं एक अथवा दो ही वर्णन है, वहाँ जो रसास्वाद दीख पड़ता है, सो कैसे होगा?'

उत्तर देते है—

'सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तथा दोषो न विद्यते॥'

'विभावादिकों में से दो अथवा एक के उपनिबद्ध होने पर जहाँ प्रकरणादि के कारण दोष का झट से आक्षेप हो जाता है, वहाँ कुछ दोष नहीं होता।'

—विमलार्थप्रकाशिनी

आक्षेप का अर्थ 'व्यंजनीय रस के अनुकूल शेष (अन्य) दो भावों का भी बोध करा देना।'

कुछ प्रमाण लीजिये—केवल विभाव द्वारा रस की अभिव्यक्ति—

दमदम दमकत दामिनी घहरत नभ घनघोर।
मान करत कत मानिनो मोर मचावत सोर ॥१॥

इस दोहे मे उद्दीपन विभाव का वर्णन है; न तो संचारी का है, न अनुभावो का। परंतु मानिनी का मानयुक्त होना, उसके हृदय का सामर्ष होना सूचित करता है, जो एक संचारी भाव है। जब वह मान दशा में है तो उसकी भौंहें अवश्य चढ़ी होगी, मुँह भी निस्संदेह बिगड़ा होगा, इसलिये अनुभाव भी उसमे मिले और तीनो के आधार से ही रस की सिद्धि हुई।

केवल अनुभाव द्वारा रसविकास—

टपटप टपकत सेदकन अंग अंग थहरात।
नीरजनयनी नयन में काहे नीर लखात ॥२॥

स्वेद बिंदु का टपकना, अंगो का कम्पित होना, आँखो मे जल आना अनुभाव है, और इन्हीं का वर्णन दोहे में है। किंतु कारण अप्रकट है, किसी विभाव के कारण ही ऐसा हो रहा है, चाहे वह आलंबन हो अथवा उद्दीपन, अतएव अनुभावों द्वारा ही विभाव की सूचना मिल रही है। किसी श्रम, आवेग, चिंता और शंका के द्वारा ही ऐसी दशा होने की संभावना है, अतएव संचारी का उद्बोध भी उससे हो रहा है।

केवल संचारी द्वारा रस का आविर्भाव—

करति सुधारस पानसी रस बस ह्वै सरसाति।
कत गयदगतिगामिनी उमगति आवति जाति ॥३॥

इस दोहे मे हर्ष और औत्सुक्य पूर्ण मात्रा में मौजूद हैं, जो कि संचारी हैं। वे ही उस विभाव की ओर भी संकेत कर रहे हैं जो उसके आधार हैं। उमग-उमग कर आना-जाना अनुभाव के अग्रदूत है।

इन उदाहरणो मे यह स्पष्ट है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तीनों के द्वारा ही रस की उत्पत्ति होती है, किसी एक के द्वारा नहीं।

जहाँ इनमे से कोई एक या दो होता है, वहाँ आक्षेप द्वारा शेष दो या एक का भी ग्रहण हो जाता है। यही बात पडितराज जगन्नाथ भी रसगगाधर मे कहते हैं—यथा

"एव च प्रामाणिके मिलितानां व्यञ्जकत्वे यत्र क्वचिदेकस्मादेवा साधारणाद्रसोद्बोधस्तत्रेतरद्वयमाक्षेप्यमनोनानैकान्तिकत्वम्" ।

"ऐसे स्थलो में अन्य दोनो का आक्षेप कर लिया जाता है, सो यह बात नहीं है कि रस कहीं सम्मिलितो से उत्पन्न होता है, और कहीं एक ही से, किंतु तीनों के सम्मेलन के बिना रस उत्पन्न होता ही नहीं।"

—हिंदी रसगंगाधर

इसके अतिरिक्त एक बात और है। वह यह कि यदि केवल विभाव या अनुभाव अथवा सचारी भाव से रस की उत्पत्ति होने लगे तो रस के निर्णय मे व्याघात उपस्थित होगा। कारण यह है कि एक विभाव अनेक रसो का विभाव हो सकता है, ऐसे ही एक अनुभाव अथवा सचारी भाव कई रसों मे पाया जाता है। काव्यप्रकाशकार लिखते हैं—

'व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्। अश्रुपाता दयोऽनुभावाः शृ गारस्येव करुणभयानकयो, चिन्तादयो व्यभिचारिण. शृ गारस्येव वीर-करुणभयानकानामिति, पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टा।'

"भयानक रस के विभाव व्याघ्र आदि वीर, अद्भुत और रौद्र रस के भी विभाव, शृगार रस के अनुभाव अश्रुपातादिक करुण और भयानक रस के भी अनुभाव और चिताढिक व्यभिचारी शृगार रस के अतिरिक्त वीर करुण और भयानकादि अन्य रसो के भी व्यभिचारी भाव हो सकते हैं। इसीलिये सूत्रकार भरत मुनि ने सूत्र मे इन सब के सम्मिलन से ही रस की उत्पत्ति मानी है, पृथकत्व से नही।"

—हिंदी रसगगाधर

ऐसी अवस्था मे यह स्पष्ट है कि विभाव अनुभाव और सचारी.

तीनों के संयोग से ही एक ऐसे रस की उत्पत्ति होगी, जो अन्य रसों से भिन्न होगा और जिसकी समता दूसरे से न हो सकेगी।

रस की कल्पना

रस की कल्पना संस्कृत में हुई है, अगरेजी अथवा अरबी-फारसी में इसका पर्यायवाची कोई शब्द नहीं। वास्तव मे परिपुष्ट भाव का ही नाम रस है, इसलिये भाव के पर्यायवाची शब्द ही अन्य भाषाओं मे मिलते हैं, अँगरेजी मे भाव को 'इमोशन' और फारसी मे 'जजबा' कहते हैं। अभिनय अवलोकन के समय जो तन्मयता दर्शकों में देखी जाती है, उसके आधार से ही रस की कल्पना हुई ज्ञात होती है, क्योंकि नाट्यशास्त्र मे ही पहले-पहल इसका नियमबद्ध उल्लेख हुआ है। महामुनि भरत कहते हैं कि 'द्रुहिण' नामक किसी आचार्य्य द्वारा इसका आविष्कार हुआ। वे लिखते हैं—'एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना' किंतु अग्निपुराण मे उसकी उत्पत्ति इस प्रकार लिखी गई है—

अक्षर परम ब्रह्म सनातनमज विभुम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोहङ्कार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेद समाप्त भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात्प्रजायते॥
वीरोऽवष्टम्भजः सङ्कोचभूर्बीभत्स इष्यते।
शृंगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः॥
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद्भयानक।

'जो अक्षर, परब्रह्म, सनातन, अज और विभु है, उसका सहज आनंद कभी-कभी प्रकट हो जाता है। यह अभिव्यक्ति चैतन्य, चम-

त्कार और रसमय होती है। उसके आदिम विकार को अहकार कहते हैं, उससे अभिमान (ममता) की उत्पत्ति हुई, जो भुवन में व्याप्त है। उस अभिमान (ममता) से रति उत्पन्न होकर परिपुष्ट हुई। बाद को राग (रति) से शृंगार की, तीक्ष्णता से रौद्र की, गर्व से वीर की और संकोच से बीभत्स की सृष्टि हुई। फिर शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक का आविर्भाव हुआ।

महामुनि भरत भी पहले चार रस की ही उत्पत्ति मानते हैं, और उनसे अन्य रसों की। वे लिखते हैं—'तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः शृंगारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति' 'उनके (रसों के) उत्पत्ति के हेतु चार रस हैं— शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स। इनके उपरांत वे यह कहते हैं—

शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥
शृंगारानुकृतिर्यातु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
बीभत्सदर्शनं यच्च ज्ञेयः स तु भयानकः॥

शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति हुई। शृंगार की अनुकृति हास्य का, रौद्र का कर्म्म करुण का, वीर का कार्य्य अद्भुत का और बीभत्स दर्शन भयानक का जनक है।

अग्निपुराण में रसों की उत्पत्ति जिस प्रकार दिखलाई गई है, वह बहुत ही स्वाभाविक है। ईश्वर रस स्वरूप है, श्रुतियों में उसको 'रसो वै सः', कहा गया है, इसलिये उसको रस का आधार कहना, अथवा उसके द्वारा रस का विकास दिखलाना, वास्तविकता पर प्रकाश डालना है। रस क्या है ? उसके आनंद की अभिव्यक्ति है। आनंद का यथार्थ उद्रेक ही रसत्व को प्राप्त होता है। आनंद का उपभोग अहभाव ही

व्यक्तित्व का आधार है। विना अहंभाव के व्यक्तित्व अस्तित्व में नहीं आता, अतएव जगदात्मा का आदिम विकार अहंभाव है। यह अहंभाव विश्व में व्याप्त होकर साभिमान हो जाता है, क्योंकि केन्द्रित होने पर उसमें ममत्व आ जाता है। ममत्व से ही रति की उत्पति होती है। जब तक किसी वस्तु अथवा व्यक्ति में किसी की ममता न होगी, तबतक उससे उसकी रति (प्रीति) न हो सकेगी। ममता ही प्रीति की जननी है। रति कहिये, चाहे प्रीति कहिये, चाहे प्रेम कहिये वह आनंद कामुक है, वह इस विषय में इतना तन्मय रहता है कि दृष्टिविहीन बनता है। दूसरों को नहीं देखता, अपने ही आनंद में निमग्न रहता है, यही शृंगार रस का रूप है। जब किसी कारण से आनंद-प्रवाह में व्याघात उपस्थित होता है, तो वह कुछ तीखा हो जाता है, उसमें कुछ तीक्ष्णता आ जाती है, उस समय रौद्र रस सामने आता है। रौद्र रस का स्थायी भाव क्रोध है, क्रोध और गर्व का घनिष्ट संबंध है। गर्व होने पर ममत्व व्याघात का सामना करने के लिये उत्साहित होता है, यही वीर रस है। सामना करने के समय ममत्व को यदि अपने अथवा व्याघात-कर्ताओं के प्रति कारण-विशेष से घृणा उत्पन्न हो जाती है तो वह संकुचित हो जाता है, यही बीभत्स रस है। ये ही चारों प्रधान रस हैं, जिनके आधार से शेष रसों की उत्पत्ति होती है।

अब देखिये, इन चार रसों से अन्य चार रसों की उत्पत्ति कैसे हुई? महामुनि भरत कहते हैं कि 'शृंगार रस की अनुकृति हास्य है।' अनुकृति का अर्थ है, अनुकरण, अथवा नकल करना। आप लोग जानते हैं, नकल हँसी की जड़ है। किसी की वेशभूषा, चाल-ढाल, बातचीत आदि की नकल जब विनोद के लिये की जाती है, तब उस समय हँसी का फव्वारा छूटने लगता है। शृंगार रस की सब बातों की नकल कितनी हास्य विनोदमय होगी, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं, हास्य में स्थायिता है। वह आकर्षक और व्यापक भी बहुत है,

इसलिये बाद को हास्य भी एक रस माना गया। क्रोध में आकर यदि कोई किसी को प्रहार कर बैठता है, अथवा किसी को लगती किंवा कटु बातें कहता है, तो वह व्यथित अथवा आहत हुए विना नहीं रहता, उसके हृदय मे शोक भी उत्पन्न हो जाता है, और वह अपने दुःखों का वर्णन कर के रोने कलपने लगता है, यही करुण रस है, जो रौद्र रस का कार्य है। इसीलिये करुण रस की उत्पत्ति रौद्र रस से मानी गई है। इसमे भी स्थायिता और व्यापकता है, अतएव धीरे-धीरे यह भी रस में परिगणित हो गया। यह कौन नहीं जानता कि वीर के कार्य्य आश्चर्य्य-जनक होते है, वीरपुंगव अंजनीनन्दन ने, महापराक्रमी भीष्मपितामह ने महाभारत विजयी धनंजय ने जो वीरता के कार्य कीये हैं वे किसको चकित नहीं बनाते। महाराणा प्रताप, वीरवर नैपोलियन के वीरकर्म भी लोक विश्रुत हैं, और सब लोग इनको अद्भुतकर्मा कहते हैं। इसलिये वीरता के कर्मों को अद्भुत रस का जनक माना गया है। रणभूमि को रक्ताक्त देखकर, मज्जा मेद मांस को जहाँ तहाँ खाते-पीते नुचते अवलोकन कर, कटे मुंडो पर बैठ काकों को आँखे निकालते, गीधों को अंतड़िया खींचते, शृगालों को लोथ घसीटते और कुत्तों को हड्डियाँ चबाते देख किसके हृदय मे भय का संचार न होगा। इसीलिये वीभत्स दर्शन से भयानक की उत्पत्ति मानी गई है। मेरा विचार है इस विषय मे जो सिद्धांत महामुनि भरत और अग्निपुराण के हैं, वे युक्तिसंगत और उपपत्तिमूलक हैं।

जैसे पहले चार रस, फिर आठ रस की कल्पना हुई, वैसे ही काल पाकर नवाँ रस शांत भी स्वीकृत हुआ। यद्यपि तर्क वितर्क इस विषय में भी हुए, परन्तु आजकल अधिक सम्मति से नव रस ही माने जाते हैं। रसगंगाधरकार लिखते हैं—

'यैरपि नाट्ये,शान्तो रसो नास्तीत्यभ्युपगम्यते तैरपि बाधकाभावान्महाभारतादि प्रबन्धाना शान्तरसप्रधानतया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवऽश्य

स्वीकार्यः। अतः एवाष्टौ नाट्ये रसा इत्युपक्रम्य शान्तोऽपि नवमो रस इति मम्मट-भट्टा अप्युपसमहार्षुः'।

'जो लोग नाटकों में शांत रस नहीं है, यह मानते हैं उन्हें भी किसी प्रकार की बाधा न होने के कारण एवं महाभारतादि ग्रंथों में शांत रस ही प्रधान है, यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध होने के कारण उसे काव्यों में अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। इसी कारण मम्मटभट्ट ने भी 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' इस तरह प्रारंभ करके 'शान्तोऽपि नवमो रस' इस तरह लिखकर उपसंहार किया है।' —हिंदी रसगंगाधर

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि शांत रस की कल्पना कैसे हुई? इसका उत्तर स्वयं काव्यप्रकाशकार देते हैं। वे लिखते हैं 'निर्वेदस्थायि-भावोऽस्त शान्तोऽपि नवमो रसः' जिसका स्थायी भाव निर्वेद है नवाँ वही शांत रस है। रसगंगाधरकार निर्वेद की व्याख्या यों करते हैं—

'नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः, गृह कलहादिजस्तु व्यभिचारी।'

"जिसकी उत्पत्ति नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार से होती है, जिसका नाम विषयों से विरक्ति है, उसे निर्वेद कहते हैं, वही निर्वेद यदि गृहकलहादि जन्य हो तो व्यभिचारी होगा।"

प्रदीपकार कहते हैं—

'शमोऽस्य स्थायी, निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः स च शमो निरीहावस्थायाम् आनन्दः स्वात्मविश्रामादिति।'

इसका (शांत रस का) स्थायी भाव 'शम' है, क्योंकि निर्वेद की गणना व्यभिचारी भावों में है। शम तृष्णा रहित अवस्था के उस आनंद को कहते हैं, जिसमें आत्म-विश्राम-प्रसूत सुख की प्राप्ति होती है—उसका वर्णन महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने यों किया है—

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयः सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥'

संसार में जितने कामप्रद सुख हैं, जितने दिव्य और महान् सुख हैं, वे तृष्णाक्षय सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।

पडितराज जगन्नाथ ने साधारण निर्वेद को व्यभिचारी माना है, और रस-अवस्था-प्राप्त को स्थायी। उसी को प्रदीपकार ने 'शम' कहा है। सिद्धांत दोनों का एक है। चाहे उसे शाम कहें या उच्च कोटि का निर्वेद—किंतु यह स्थायी भाव कितना महत्त्व रखता है, वह महर्षि द्वैपायन के कथन से प्रकट है। कोई समय था, जब भारतवर्ष में शांत रस की धारा बह रही थी, आज भी उसका प्रवाह बहुत कुछ सुरक्षित है। आर्य-संस्कृति में उसकी बड़ी महत्ता है, और इस जाति के समस्त महान् ग्रंथ उच्च कंठ से उसका यशोगान कर रहे हैं। मानव-जीवन में त्याग की बड़ी महिमा है और इसमें संदेह नहीं कि सच्ची शांति और परमानंद की प्राप्ति उसी से होती है। ऐसी अवस्था में उसका रस में न गिना जाना, असंभव था। काल पाकर मनीषियों की दृष्टि इधर गई और वह भी रसों में गिना गया। यहाँ तक कि नाटक में भी उसको स्थान मिला और इस रस का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक एक क्षमता-शालिनी लेखनी द्वारा निर्मित होकर संस्कृत-साहित्य में समादरणीय स्थान पा गया।

रस की संख्या नव तक आकर समाप्त हो गई, यह नहीं कहा जा सकता। अब भी नये-नये रसों की कल्पना हो रही है। वास्तविक बात यह है कि भाव ही उत्कर्ष पाकर रस का स्वरूप धारण करते हैं। काव्यप्रकाशकार कहते हैं—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः' 'भाव' प्रोक्त' देवादि (अर्थात् देव, मुनि, गुरु, नृप, पिता, ज्येष्ट भ्राता आदि गुरुजनों और लघु भ्राता एवं पुत्रादि की रति और व्यंजित व्यभिचारी की संज्ञा भाव है।) इस सिद्धांत के अनुसार देव भक्ति और वात्सल्य आदि भाव हैं, रस नहीं, किंतु कुछ आचार्यों ने इन्हें भी रस माना है। कुछ लोग सख्य को रस कहने लगे हैं। अतएव रस की संख्या कहाँ तक

पहुँचेगी, यह नहीं कहा जा सकता। किंतु आजकल सर्वसम्मत नव ही रस हैं। भाव और रस पर मेरा एक बृहत् विवेचन वात्सल्य रस शीर्षक आगे लिखे जानेवाले एक लेख में होगा। इसलिये इस अवसर पर रस और भाव पर अधिक लिखने की चेष्टा नहीं की गई।

कुछ लोग कहते हैं कि काव्यों में जो भाव व्यापक और अधिक प्रभावजनक पाये गये और जिनमें स्थायिता भी अधिक मिली, रंगशाला में अभिनय के समय जो मनोभाव आदि से अंत तक स्थिर और यथावसर अधिकाधिक प्रभाव विस्तारपटु और विशेष आकर्षक देखे गये, जिनकी प्रतीति काव्य और नाट्य में प्रायः अथवा लगातार होती है, जिनमें चमत्कार के साथ विमुग्धकारिता भी मिलती है— जब साहित्य-मर्मज्ञों की दृष्टि उनकी ओर विशेषतया आकृष्ट हुई, तब उन्होंने उनको विवेचनापूर्वक स्थायी भाव माना, और उन्हीं के आधार से फिर रस की कल्पना की। यह कार्य्य एक काल में नहीं, धीरे-धीरे क्रमशः हुआ। आज भी यह विचारपरम्परा अप्रतिहत है। रसगंगाधरकार इसी सिद्धांत के थे—वे लिखते हैं—

"तत्र आप्रबन्धस्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्। न च चित्तवृत्तिरूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्वं दुर्लभं वासनारूपतया स्थिरत्वं तु व्यभिचारिष्वति प्रसक्तमिति वाच्यम्। वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात् व्यभिचारिणां तु नैव तदभिव्यक्तेर्विद्युदुद्योतप्रायत्वात्"।

'ये रति आदिक भाव किसी काव्यादिक में उसकी समाप्ति पर्यंत स्थिर रहते हैं, अतः इनको स्थायी भाव कहते हैं। आप कहेंगे कि ये तो चित्त-वृत्ति स्वरूप हैं, अतएव तत्काल नष्ट हो जानेवाले पदार्थ हैं, इस कारण इनका स्थिर होना दुर्लभ है, फिर इन्हें स्थायी कैसे कहा जा सकता है? और यदि वासनारूप से इनको स्थिर माना जावे, तो व्यभिचारी भाव भी हमारे अंतःकरणों में वासनारूप से विद्यमान रहते हैं, अतः वे भी स्थायी भाव हो जावेंगे। इसका उत्तर यह है कि यहा

ससार मे जितने कामप्रद सुख हैं, जितने दिव्य और महान् सुख हैं, वे तृष्णाक्षय सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने साधारण निर्वेद को व्यभिचारी माना है, और रस-अवस्था-प्राप्त को स्थायी। उसी को प्रदीपकार ने 'शम' कहा है। सिद्धांत दोनों का एक है। चाहे उसे शाम कहें या उच्च कोटि का निर्वेद—किंतु यह स्थायी भाव कितना महत्त्व रखता है, वह महर्षि द्वैपायन के कथन से प्रकट है। कोई समय था, जब भारतवर्ष में शांत रस की धारा बह रही थी, आज भी उसका प्रवाह बहुत कुछ सुरक्षित है। आर्य-सस्कृति में उसकी बड़ी महत्ता है, और इस जाति के समस्त महान् ग्रंथ उच्च कंठ से उसका यशोगान कर रहे हैं। मानव-जीवन में त्याग की बड़ी महिमा है और इसमें सदेह नहीं कि सच्ची शांति और परमानन्द की प्राप्ति उसी से होती है। ऐसी अवस्था मे उसका रस में न गिना जाना, असंभव था। काल पाकर मनीपियो की दृष्टि इधर गई और वह भी रसों में गिना गया। यहाँ तक कि नाटक में भी उसको स्थान मिला और इस रस का 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक एक क्षमता-शालिनी लेखनी द्वारा निर्मित होकर सस्कृत-साहित्य मे समादरणीय स्थान पा गया।

रस की सख्या नव तक आकर समाप्त हो गई, यह नहीं कहा जा सकता। अब भी नये-नये रसों की कल्पना हो रही है। वास्तविक बात यह है कि भाव ही उत्कर्ष पाकर रस का स्वरूप धारण करते हैं। काव्यप्रकाशकार कहते हैं—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जित:' 'भावः प्रोक्त' देवादि (अर्थात देव, मुनि, गुरु, नृप, पिता, ज्येष्ठ भ्राता आदि गुरुजनो और लघु भ्राता एव पुत्रादि की रति और व्यंजित व्यभिचारी की सज्ञा भाव है।) इस सिद्धात के अनुसार देव भक्ति और वात्सल्य आदि भाव हैं, रस नहीं, किंतु कुछ आचार्यों ने इन्हें भी रस माना है। कुछ लोग सख्य को रस कहने लगे हैं। अतएव रस की सख्या कहाँ तक

पहुँचेगी, यह नहीं कहा जा सकता। किंतु आजकल सर्वसम्मत नव ही रस हैं। भाव और रस पर मेरा एक बृहत विवेचन वात्सल्य रस शीर्षक आगे लिखे जानेवाले एक लेख मे होगा। इसलिये इस अवसर पर रस और भाव पर अधिक लिखने की चेष्टा नहीं की गई।

कुछ लोग कहते हैं कि काव्यो मे जो भाव व्यापक और अधिक प्रभावजनक पाये गये और जिनमे स्थायिता भी अधिक मिली, रंगशाला मे अभिनय के समय जो मनोभाव आदि से अंत तक स्थिर और यथावसर अधिकाधिक प्रभाव विस्तारपटु और विशेष आकर्षक देखे गये, जिनकी प्रतीति काव्य और नाट्य मे प्राय अथवा लगातार होती है, जिनमे चमत्कार के साथ विमुग्धकारिता भी मिलती है—जब साहित्य-मर्मज्ञो की दृष्टि उनकी ओर विशेपतया आकृष्ट हुई, तब उन्होंने उनको विवेचनापूर्वक स्थायी भाव माना, और उन्हीं के आधार से फिर रस की कल्पना की। यह कार्य्य एक काल मे नहीं, धीरे-धीरे क्रमश. हुआ। आज भी यह विचारपरम्परा अप्रतिहत है। रसगंगाधरकार इसी सिद्धांत के थे—वे लिखते हैं—

"तत्र आप्रबन्धस्थिरत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्। न च चित्तवृत्तिरूपाणामेषामाशुविनाशित्वेन स्थिरत्व दुर्लभ वासनारूपतया स्थिरत्व तु व्यभिचारिष्वति प्रसक्तमिति वाच्यम्। वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात् व्यभिचारिणां तु नैव तदभिव्यक्तेर्विद्युदुद्योतप्रायत्वात्"।

'ये रति आदिक भाव किसी काव्यादिक मे उसकी समाप्ति पर्यंत स्थिर रहते हैं, अत इनको स्थायी भाव कहते हैं। आप कहेंगे कि ये तो चित्त-वृत्ति स्वरूप हैं, अतएव तत्काल नष्ट हो जानेवाले पदार्थ हैं, इस कारण इनका स्थिर होना दुर्लभ है, फिर इन्हे स्थायी कैसे कहा जा सकता है? और यदि वासनारूप से इनको स्थिर माना जावे, तो व्यभिचारी भाव भी हमारे अंतःकरणो मे वासनारूप से विद्यमान रहते हैं, अत. वे भी स्थायी भाव हो जावेंगे। इसका उत्तर यह है कि यहाँ

इन वासनारूप भावों का बार-बार अभिव्यक्त होना ही स्थिरपद का अर्थ है। व्यभिचारी भावों में यह बात नहीं होती, क्योंकि उनकी चमक विजली की चमक की तरह अस्थिर होतीहै'। —हिंदी रसगगाधर

रस की कल्पना कैसे हुई, इस विषय में जो ज्ञात हुआ, लिखा गया। भिन्न-भिन्न रसों का विशेप वर्णन मुख्य ग्रथ में किया गया है।

परस्पर विरोधी रस

कुछ रसों का कुछ रसों के साथ विरोध है। जिस रस का जिस रस से विरोध नहीं है उस रस का उसके साथ अविरोध माना जाता है।

साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः।
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक्।
करुणो हास्यश्रृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः॥
रौद्रस्तु हास्यश्रृङ्गारभयानकरसैरपि।
भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः॥
श्रृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः।
शान्तस्तु वीरश्रृङ्गाररौद्रहास्यभयानकैः॥
श्रृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता।

इन श्लोकों का यह अर्थ हुआ—

विरोध है—(१) शृंगार रस का करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर, भयानक के साथ।
(२) हास्य रस का भयानक और करुण के साथ।
(३) करुण रस का हास्य, शृंगार के साथ।
(४) रौद्र रस का हास्य, शृंगार और भयानक के साथ।
(५) भयानक रस का शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शांत के साथ।

(६) वीर रस का भयानक और शांत के साथ।

(७) शांत रस का वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक के साथ।

(८) वीभत्स का शृंगार रस के साथ।

साहित्यदर्पणकार ने शांत का विरोधी शृंगार, हास्य और रौद्र को माना है, परंतु इन तीनो का विरोधी शांत को नही माना। इसी प्रकार रौद्र का विरोधी हास्य को लिखा है, परंतु हास्य का विरोधी रौद्र को नहीं कहा। ऐसे ही वीर रस को शृंगार रस का विरोधी माना है, परंतु शृंगार को वीर रस का विरोधी नहीं लिखा। अन्य रसों मे यह बात नही पाई जाती, जैसे हास्य रस का विरोधी भयानक को लिखा है, तो भयानक का विरोधी हास्य रस को भी बताया है, इत्यादि। रसगंगाधरकार लिखते हैं—

"तत्र वीरशृंगारयोः, शृंगारहास्ययोर्वीररौद्रयोः, शृंगाराद्भुतयोश्चाविरोधः। शृंगारबीभत्सयोः, शृंगारकरुणयोर्वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृंगारयोश्च विरोधः" (पृ. ७२)

इसका यह अर्थ हुआ—

अविरोध है—(१) शृंगार का वीर, हास्य और अद्भुत के साथ।

(२) वीर का रौद्र के साथ।

विरोध है—(१) शृंगार का वीभत्स, करुण और शांत से।

(२) वीर का भयानक के साथ।

(३) रौद्र का शांत के साथ।

दोनो प्रसिद्ध विद्वानो के सिद्धांतों मे ये अन्तर है—

साहित्यदर्पणकार ने वीर को शृंगार रस का विरोधी माना है, परन्तु रसगंगाधरकार ने अविरोधी। रसगंगाधरकार ने शृंगार का विरोधी शांत को माना है, परंतु साहित्यदर्पणकार ने यह नहीं माना, यद्यपि उन्होने शांत का विरोधी शृंगार को लिखा है। रसगंगाधरकार

ने रौद्र का विरोधी शांत को लिखा है, परतु साहित्यदर्पणकार ने यह नहीं लिखा, यद्यपि शात का विरोधी रौद्र को स्वीकार किया है।

अद्भुत के विषय में साहित्यदर्पणकार बिल्कुल चुप हैं, किंतु रसगगाधरकार ने उसको शृगार और वीर दोनों का अविरोधी बतलाया है।

रसो के विरोध और अविरोध के विषय मे यद्यपि इस प्रकार की भिन्नता आचार्यों की सम्मतियों मे देखी जाती हैं, कितु मैं यह कहूँगा कि साहित्यदर्पण की सम्मति वहुत मान्य है, साथ ही अधिकतर निर्दोष और पूर्ण है।

रस-परिपाक के लिये आवश्यक है कि दो विरोधी रसो का वर्णन साथ साथ न किया जावे, क्योंकि इसका परिणाम यह होता है कि या तो वे परस्पर एक दूसरे के रस-विकास के बाधक होते हैं, जिससे रस-आस्वादन का आनंद कलुषित हो जाता है। अथवा यदि दोनो सबल हुए, तो सघर्ष उपस्थित होने पर दोनो का नाश हो जाता है, जिससे वह उद्देश्य विनष्ट होता है, जिसके लिये उनकी सृष्टि हुई।

रस-विरोध का परिहार

जब दो विरोधी रस एकत्र आ जावें, तो उस समय विरोध-परिहार का उद्योग करना चाहिये, ऐसा हो जाने पर रस-व्याघात की आशका दूर हो जाती है। विरोध-परिहार कैसे किया जावे, इस विषय मे काव्य-प्रकाश की यह सम्मति है—

आश्रयैक्ये विरुद्धो यः स कार्यो भिन्नसश्रय ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रस. ॥
स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षितः ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥

इन पक्तियो का अर्थ यह हुआ—

विरोध का परिहार हो जाता है—

(१) जब दो विरोधी रसो का आधार एक हो तो उनका आधार भिन्न-भिन्न कर देने से।

(२) दो विरोधी रसो के मध्य मे एक ऐसे रस को स्थापित कर देने से जो दोनो का अविरोधी हो।

(३) जब विरोधी रस का आधार स्मरण हो।

(४) जब दो विरोधी रसो में साम्य स्थापित कर दिया जावे।

(५) जब दो विरोधी रस किसी अन्य रस के अंगांगी भाव से अंग बन गये हो।

अब उदाहरण देता हू—निम्नलिखित दोहे को देखिये—

बान तानि कै कान लौं खैंचे कठिन कमान।
भभरि भभरि सारे सुभट भागे भीरु समान॥

वीर और भयानक एक दूसरे के विरोधी है, इसलिये किसी पद्य मे एक साथ नही आ सकते, परन्तु इस पद्य मे दोनो साथ आये है, फिर भी रसप्रवाह मे बाधा नही पड़ी, कारण यह है कि पहले चरण का आलंबन (आधार) वीर और दूसरे चरण का आलंबन (आधार) भयातुर सुभट हैं। यद्यपि दोनो रसो का आधार एक ही पद्य है, किंतु दोनो के दो आलंबन हो जाने के कारण वह बाधा दूर हो गई, जो एक ही आलंबन होने से उपस्थित होती, इसलिये रस का आस्वादन अबाध रहा। पद्य पढ़कर स्वयं आपको इसका अनुभव होगा। रस-परिहार के पहले नियम में यही बात कही गई है। अब दूसरे नियम का उदाहरण लीजिये—

का भो जो उर मैं भर्यो भव विराग दर चित्त।
भुवन-विमोहक माधुरी हरति न काको चित्त॥

बड़े-बड़े विरागियों के चित्त को भी अलौकिक लावण्य विचलित कर देता है, यह बात अविदित नहीं, इस दोहे में इसी बात का वर्णन

है। पहली पक्ति में विराग का निरूपण है, दूसरी पंक्ति के अत में माधुरी द्वारा चित्त का हरण होना, शृंगार गर्भित है, दोनो परस्पर विरोधी हैं, किन्तु मध्य के 'भुवन-विमोहक' वाक्य ने (जो अद्भुत रस की अवतारणा करता है) दोनो के विरोध का परिहार कर दिया है। भवविरागमूलक शात रस के उपासक के चित्त को कोई माधुरी कदापि आकर्षित नहीं कर सकती, क्योंकि विराग और आसक्ति परस्पर विरोधी हैं। परतु जो अद्भुत माधुरी भुवन-विमोहक है, उसका उसके चित्त को हरण कर लेना स्वाभाविक है। इसीलिये उसके द्वारा शात और शृंगार के विरोध का परिहार हुआ। दूसरे नियम का यही वक्तव्य था। अब तीसरे नियम का उदाहरण लीजिये—

सोहै, रुधिर भरो परो महि में सहि-सहि वार।
कबौं कान्तकर जो हुतौ कलित कठ को हार॥

किसी वीर रसिकशिरोमणि की भुजा को रुधिर भरी पृथ्वी पर पडी देखकर एक सहृदय का यह कथन है। उसकी भुजा को इस बुरी दशा में पाकर वह समय याद आ गया, जब वह सुदरी ललनाओं के कमनीय कठो में पडा रहकर किसी अपूर्व गजरे की शोभा धारण करता होगा, अतएव उसका शोक वढ गया और उसके हृदय का भाव दोहे के रूप में परिणत हुआ। यहाँ स्पष्ट शृंगार, करुण रस का सहायक है, वाधक नही, इसीलिये यह स्वीकार किया गया है कि स्मरण किये गये विरोधी रस से विरोध का परिहार हो जाता है। चौथे नियम का उदाहरण यह है—

काल विमुखता का कहौं मुख न कहत वर बैन।
रस वरसन पावत नहीं रस बरसनपटु नैन॥

यह एक प्रेमिक की उक्ति है, वह अपनी स्वर्गगता प्रेमिका के शरीर को सामने पडा देखकर भग्नहृदय है और प्रेम का उद्रेक होने से, अपने हृदय की वेदना को व्यथामय शब्दों में वर्णन कर रहा है। यहाँ प्रत्यक्ष

नायक का प्रेम (जो शृंगार रस का स्थायी है) शोक का अंग बन गया है क्योंकि वह उसकी वृद्धि कर रहा है। अतएव विरोधी होने पर भी वह रस का बाधक नहीं, वरन वर्द्धक है, इसलिये चौथे नियम का संगत होना स्पष्ट है। पाँचवें नियम का उदाहरण—

कहा भयो जीते समर लहे कुसुम सम गात।
बात कहत ही मनुज जो काल गाल में जात॥

इस पद्य के प्रथम चरण मे वीर रस और द्वितीय चरण में शृंगार रस विराजमान है। तीसरा-चौथा चरण शांत रस-गर्भित है। वीर और शृंगार परस्पर विरोधी है. किंतु वे दोनो शांत रस के अंग बन गये हैं। इसीलिये उनके पारस्परिक विरोध का परिहार हो गया है। शांत रस की प्रधानता ही पद्य से दृष्टिगोचर हो रही है. शेष दोनो रसों ने अंगांगी-भाव से उसमे अपने को विलीन कर दिया है. क्योंकि वे उसकी पुष्टि कर रहे है। इसलिये पंचम नियम की विरोध-परिहार-शक्ति स्पष्ट है।

रसगंगाधरकार कहते है—

"यत्र साधारणविशेषणमहिम्ना विरुद्धयोरभिव्यक्तिस्तत्रापि विरोधो निवर्त्तते"

'जहाँ एक से विशेषणों के प्रभाव से दो विरुद्ध रस अभिव्यक्त हो जाते हैं. वहाँ भी उनका विरोध-निवृत्त हो जाता है'—यथा

आहव में आरक्त है वहि यौवन मदभार।
कर आलिंगन अवनि को सोये सुभट अपार॥

इनकी यह सम्मति भी है—

"किं च प्रकृतरसपरिपुष्टिमिच्छता विरोधिनोऽपि रसस्य बाध्यत्वेन निबन्धन काम्यमेव, तथा हि सति वैरिविजयकृता वर्ण्यस्य कापि शोभा सम्पद्यते। बाध्यत्वं च रसस्य प्रबलैर्विरोधिनो रसस्याङ्गैर्विद्यमानेष्वपि स्वाङ्गेषु निष्पत्तेः प्रतिबन्धः"

"प्रकरण प्राप्त रस को अच्छी तरह पुष्ट करने के लिये विरोधी रस का बाधित करना उचित है. अतः उसका वर्णन अवश्य करना चाहिये,

क्योंकि ऐसा करने से, जिस रस का वर्णन किया जा रहा है, उसकी शोभा वैरी का विजय कर लेने के कारण अनिर्वचनीय हो जाती है। रस के बाधित किये जाने का अर्थ यह है कि विरोधी रस के अंगों के प्रबल होने के कारण, अपने अंगों के विद्यमान होने पर भी रस की अभिव्यक्ति का रुक जाना। अर्थात् किसी रस के अभिव्यक्त होने की सामग्री के होने पर भी, दूसरे रस की सामग्री के प्रबल होने के कारण, उसके अभिव्यक्त न होने का नाम है, रस का बाध्य होना।"

—हिंदी रसगंगाधर (पृ० १३७)।

रस-दोष

रस-दोष का वर्णन काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पण के रचयिता ने कविता-गत दोषों के साथ किया है, किंतु रसगंगाधरकार ने उसको रस के ही निरूपण में लिखा है। मैं भी इस विचार से इसका वर्णन यहाँ करता हूँ कि जिसमें रस-संबंधी सब बातें इस प्रकरण में आ जावें। साहित्यदर्पणकार ने निम्नलिखित रस-दोष बतलाये हैं। यही सम्मति काव्यप्रकाशकार की भी है—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि ॥
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।
अङ्गिनोऽननुसन्धानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ॥

ये सब रस के दोष हैं—

(१) किसी रस का उसके वाचक पद से अर्थात् सामान्यवाचक रस शब्द से या विशेषवाचक शृंगारादि शब्दों से कथन करना।

(२) स्थायीभाव और संचारिभावों का उनके वाचक पदों से अभिज्ञान करना।

(३) विरोधी रस के अंगभूत विभाव अनुभावादिकों का वर्णन करना।

(४) विभाव और अनुभाव का कठिनता से आक्षेप हो सकना।

( ) रस का अस्थान (अनुचित स्थान) में विस्तार या विच्छेद करना—बारबार उसे उद्दीप्त करना।

(६ प्रधान को भुला देना अर्थात् अंगी का अनुसंधान न करना।

(७) जो अंग नहीं है उसका वर्णन करना।

(८) अंगभूत रस को अति विस्तृत करना।

(९) प्रकृतियों का विपर्यास करना अर्थात् उन्हें उलट-पलट देना।

(१०) अर्थ अथवा अन्य किसी के औचित्य को भंग कर देना।

अब उदाहरण देकर प्रस्तुत विषय को स्पष्ट करता हूं।

१—सामान्य रस शब्द और विशेष शृंगार शब्द का शब्द-वाच्यत्व :

काके उर उपजत न रस मृगनयनी को चाहि।
बिधु-मुख-छबि शृंगार में मग्न करत नहि काहि॥

इस पद्य के प्रथम भाग में रस शब्द और द्वितीय भाग में शृंगार शब्द आया है पहला शब्द रस स्वयं अपना वाचक है, अतएव वह सामान्य है, दूसरा शृंगार शब्द रस का विशेष वाचक है अतएव पद्य में दोनों दोष उपस्थित हैं, इसलिये यह रचना सदोष है। प्रयोजन यह कि कविता में व्यंजना ही प्रधान होती है, जहां इस शक्ति से काम न लेकर अभिधा द्वारा काम निकाला जाता है, वहाँ कविता अपना महत्त्व खो देती है और उस पद से गिर जाती है, जो उसको महत्त्व प्रदान करता है, अतएव उसका सदोष होना स्पष्ट है। इस पद्य में अभिधा द्वारा काम लिया गया है, रस और शृंगार का नाम लेकर उसकी व्यंजना बिगाड़ दी गई है। उसको इतना खोल दिया गया है कि उसमें

व्यंजना का अवसर ही नही रहा। यदि 'काके उर उपजत न रस' के स्थान पर 'काको उर सरसत नहीं' अथवा 'काको उर उमगत नहीं' होता, और शृगार के स्थान पर 'आनद' रखा जाता, तो दोष दूर हो जाता। कविता की व्यजना द्वारा ही रस का ज्ञान होना चाहिये, यदि रस ने प्रकट होकर स्वयं अपना नाम बतलाया तो उसमे कवि-कर्म कहाँ रहा ?

२—स्थायीभाव का स्वशब्दवाच्यत्व—

'भई सचरित रति हिये छवि लखि बनी निहाल।'

सचारी भाव का स्वशब्द वाच्यत्व—

'लज्जावश नव बाल के भे कपोल युग लाल॥'

पहले चरण मे रति शब्द का और दूसरे चरण मे लज्जा का प्रयोग होने से पहले मे स्थायीभाव और दूसरे मे सचारी भाव अपने शब्दो मे ही प्रकट किया गया, इसलिये दोनो मे रस-दोष आ गया। इनमे भी वही बात है, जो ऊपर कही गई है, अर्थात जिस बात को व्यजना द्वारा प्रकट होना चाहिये था, उसे अभिधा द्वार सूचित किया गया है। रसगगाधरकार लिखते हैं—

"इत्थमविरोधसपादनेनापि निबध्यमानो रसो रसशब्देन शृगारादिशब्दैर्वा नाभिधातुमुचितोऽनास्वाद्यतापत्ते। तदास्वादश्च व्यञ्जनमात्रनिष्पाद्य इत्युक्तत्वात्। यत्र विभावादिभिरभिव्यक्तस्य रसस्य स्वशब्देनाभिधान तत्र को दोष इति चेत्, व्यङ्ग्यस्य वाच्यीकरणे सामान्यतो वमनाख्यदोषस्य वक्ष्यमाणत्वात्। आस्वाद्यतावच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनकतया रसस्थले वाच्यवृत्ते कापेयकल्पत्वेन विशेषदोषत्वाच्च। एवं स्थायिव्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्व दोष।"

"जिस रस का वर्णन किया जावे उसके रस शब्द अथवा शृगारादि शब्दो से बोल देना अनुचित है, क्योकि ऐसा करने से रस आस्वाद करने योग्य नहीं रहता, प्रकट हो जाने के कारण उसका मजा जाता रहता है, इसलिये पहले कह चुके हैं, कि रस का आस्वादन केवल व्यंजना वृत्ति से ही सिद्ध होता है। आप पूछ सकते हैं कि जहाँ विभा-

वादिकों से अभिव्यक्त हुए रस को उसका नाम लेकर वर्णन कर दिया जावे, वहाँ कौन दोष होता है, तो उत्तर यह है कि व्यंग्य को वाच्य बना देने से सभी व्यंग्यों में 'वमन' नामक दोष होता है। पहले तो हुई सामान्य दोष की बात। पर रसों का जिस रूप में आस्वादन किया जाता है, वह प्रतीति वाच्यवृत्ति (अभिधा) के द्वारा अर्थात् उन रसों का नाम लेने से उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः जहाँ रसों का वर्णन हो, उस स्थल पर ऐसा करना बंदर की सी चेष्टा है; जो अपने घाव को ठीक करने के लिये खोदकर और बिगाड डालता है। इसी तरह स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों को भी अभिधा शक्ति के द्वारा वर्णन करना अर्थात् उनके नाम ले लेकर लिखना दोष है।" —हिंदी रसगंगाधर (पृ० १३९)।

३—विरोधी रसों के अंग-भूत विभाव अनुभावादिकों का वर्णन करना तीसरा दोष है—यथा—

'मान करत कत कामिनी है यौवन दिन चार'।

यौवन का क्षणिक वर्णन शांत रस का अंग है, वह उसका उद्दीपन विभाव है, जो शृंगार-रस का विरोधी है, अतएव शृंगार-रस में इस प्रकार का कथन सदोष है।

४—विभाव और अनुभाव का कठिनता से आक्षेप हो सकना। प्रयोजन यह कि जो वर्णन ऐसा हो जिसमें विभाव-अनुभाव का निर्देश कठिनता से हो सके, जिसके विभाव-अनुभाव का निश्चय होना दुस्तर हो तो वह वर्णन भी दोषयुक्त माना जावेगा—

हँसत कलानिधि को निरखि मंद मंद मुसुकाति।
अवलोकहु नवलावधू नयन नचावत जाति॥

इस पद्य में कलानिधि का उद्दीपन विभाव और नवल वधू का आलंबन विभाव होना स्पष्ट है, किंतु अनुभाव का आक्षेप उसमें सुगमता से नहीं किया जा सकता और यही इस पद्य का रस-दोष है। हृदय में रस का विकास उसी समय यथार्थ रीति से होता है, जब उसकी

अनुभूति मे बाधा न पडती हो। जिस पद्य के विभाव, अनुभाव, आदि अबाध रीति से हृदयंगम होते हैं, वह पद्य जिस प्रकार सहज बोधगम्य और हृदयग्राही होता है, वैसा वह पद्य नहीं, जिसमें उनके बोध में कोई बाधा आ खडी हो। इसीलिये इस प्रकार के व्यापार को सदोष माना गया है। नवला का मद-मंद मुस्काना और उसका 'नयन नचाते जाना' अवश्य अनुभाव हैं, किंतु नायक के विषय में स्पष्ट निर्देश न होने से यह विदित नहीं होता कि ये दोनों रति संबंधी कार्य हैं, अथवा साधारण विलास-मात्र। दूसरी बात यह कि 'अवलोकहु' के विषय मे यह स्पष्ट नहीं ज्ञात होता कि यह शब्द कौन किससे कहता है, इससे भी अनुभाव के स्पष्ट करने मे जटिलता उपस्थित हो जाती है। यदि यह किसी सखी, सखा अथवा अन्य जन की उक्ति है, तो उनका उद्देश्य विलास अवलोकन कराना मात्र है, अथवा रति उत्पादन। कष्ट-कल्पना द्वारा ही कोई बात निश्चित होगी, इसीलिये इस प्रकार की रचना को सदोष कहा गया है।

चिंता की चेरी बनी बारि विमोचत नैन।
कहा करौं विचलित बने चूर भयो चित चैन॥

जिस दशा का वर्णन इस पद्य मे हैं, शृंगार रस में विरहिणी की भी ऐसी दशा हो सकती है और शोकग्रस्त होने पर किसी सतप्ता रमणी की भी यह करुणामयी दशा देखी जा सकती है, ऐसी अवस्था में यह निश्चित करना कठिन है कि यह किसी विरहिणी की उक्ति है, अथवा किसी शोकमयी साधारण रमणी की। अतएव इस पद्य का विभाव-निर्णय सहज नहीं। यह असहजता ही रस दोष है।

नीचे के पॉच दोष प्रकरण सबधी हैं, समस्त सस्कृत के लक्षण-ग्रंथों मे उनका उल्लेख प्रकरण-द्वारा ही किया गया है। समस्त प्रकरण नाटकों से लिये गये हैं, अथवा काव्य-ग्रथो से। इधर हिंदी भाषा मे जो दो-चार ग्रथ इस विषय के लिखे गये हैं, उनमे भी प्रकरणो के उदाहरण

संस्कृत के तत्संबंधी ग्रंथो से ही लिये गये है। मैं भी उन ग्रंथों के ही उदाहरण आप लोगो के सामने उपस्थित करूँगा। यह अवश्य है कि मैंने उन्हीं नाटक अथवा काव्य-ग्रंथो को लिया है, जिनका अनुवाद हिंदी भाषा में हो चुका है। आशा है, इससे विषय के समझाने मे असुविधा न होगी।

४—रस का अस्थान मे विस्तार या विच्छेद करना, बार बार उसे उद्दीप्त करना—अकांड मे अथवा अनवसर रस का विस्तार करना—जैसा वेणीसहार नाटक के दूसरे अक मे किया गया है। जिस समय युद्ध छिडा हुआ था और अनेक कौरव वीरगति को प्राप्त हो रहे थे, उस समय दुर्योधन का भानुमती के साथ शृगार-रस-संबंधी विस्तृत वार्तालाप कराया गया है।

स्थान में विच्छेद—इसका उदाहरण महावीरचरित मे मिलता है—विवाद के अवसर पर जिस समय परशुराम और रामचंद्र आवेश-पूर्ण थे, और बाद उग्र रूप धारण किये हुए था, उस समय कंकणमोचन के लिये रामचंद्र को बुलाकर विवाद का अंत कराया गया—यही स्थान अथवा अकांड-विच्छेद है।

रस का बार-बार उद्दीप्त करना। जैसा कुमारसंभव मे रति-विलाप के समय कराया गया है। इस विलाप मे करुण रस को बार-बार उद्दीप्त करने की चेष्टा की गई है—चतुर्थ सर्ग के २६ वे श्लोक तक रति का विलाप चलता है। इसके उपरांत उसके आश्वासन के लिये वसंत आता है। उसे देख रति का शोक और बढ़ता है। दो श्लोक मे यह दिखलाकर कवि फिर रति के विलाप को प्रारंभ करता है जो ३८ वें श्लोक तक चलता है। एक बार विलाप को समाप्त करके उसको फिर उद्दीप्त किया गया है, अतएव इसको दोष माना है। मेरा विचार है कि इसमे रस का परिपाक हुआ है, इससे दोष नहीं आया किंतु यह एक

उदाहरण है। प्रयोजन यह कि जब रस बार-बार इतना उद्दीप्त किया जावे कि जो उद्वेगजनक हो, तब वह अवश्य दूषित हो जावेगा।

६—अगी का अनुसधान न करना—रत्नावली नाटिका के चतुर्थ अक में यह वर्णन है कि सिंहलेश्वर का कंचुकी वाभ्रव्य जब आता है—तो सागरिका को ही भूल जाता है, यद्यपि नाटिका की प्रधान-नायिका वही है, उसका यह अननुसधान काव्य-दृष्टि से दोपयुक्त है, क्योकि इससे कर्तव्यपरायणता मे च्युति दृष्टिगत होती है।

७—अनग का वर्णन—प्रयोजन इसका यह है कि जो अग नही है, उसका अयथा वर्णन कर्पूरमजरी मे प्रधान नायिका के वसत वर्णन का उचित समादर न करके सट्टक के प्रधान पात्र ने वदियो की वर्णना की प्रशसा की। बदी सट्टक के अग नहीं थे, उनकी तो बड़ाई की गई, और प्रधान अग का अनादर। अतएव यह अनंग वर्णन हुआ, काव्य मे यह दोप माना गया है, इसलिये कि इससे वर्णनीय के प्रति वर्णन के एक प्रधान अधिकारी की उपेक्षा प्रकट होती है।

८—अगभूत रस की विशेष विस्तृति—अभिप्राय यह है कि नाटक में जो रस प्रधान है, उसके अतिरिक्त उसके अगभूत किसी दूसरे रस का विस्तृत वर्णन। किरातार्जुनीय काव्य मे वीर रस प्रधान है। शृगार रस इस काव्य मे वीर रस का एक अगमात्र है। परतु कवि ने इस काव्य के आठवे सर्ग मे अप्सराओ के विलाप का विशद वर्णन किया है, अर्थात् अगभूत शृगार रस के वर्णन को विस्तृति दी। ऐसा करना इसलिये सदोप है कि अप्रधान प्रधान पद पा जाता है।

९—प्रकृतियो का विपर्यास करना—मतलब यह है कि जो जिसकी प्रकृति है, उसके विरुद्ध उसको अकित करना अथवा उसके कार्य-कलाप दिखलाना। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति। तेषां धीरोदात्तादिता, तेपामप्युत्तमावममध्यमत्वम्। तेपु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोपः।

यथा धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः। यथा वा कुमारसम्भवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगशृङ्गारवर्णनम्। 'इदं पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः।"

"प्रकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य। इनके धीरोदात्त आदि (धीरोदात्त धीरोद्धत, धीरललित, और धीर-प्रशान्त) भेद भी पहले कहे हैं। उनमें भी उत्तमत्व, मध्यमत्व और अधमत्व होता है। इनमें से जो जैसी प्रकृति का है उसके स्वरूप के अनुरूप उसका वर्णन न होने से प्रकृति-विपर्यय होता है। जैसे धीरोदात्त नायक श्रीरामचंद्रजी का धीरोद्धत की भाँति कपट से वाली का वध करना और कुमारसंभव में उत्तम देवता श्रीपार्वती और महादेव का संभोग शृंगार वर्णन करना। इसके विषय में प्राचीन आचार्य मम्मट कहते हैं कि माता-पिता के संभोग वर्णन के समान यह वर्णन अत्यंत अनुचित है।" —हिंदी साहित्यदर्पण।

दिव्य देवताओं की, अदिव्य मनुष्य की और दिव्यादिव्य प्रकृति अवतारों और संसार के महापुरुषों की मानी जाती है। इसलिये इन लोगों का वर्णन जिस समय किया जावे, उस समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि जो जिस प्रकृति का हो उसका वर्णन वैसा ही हो, अन्यथा उस वर्णन में प्रकृति विपर्यय दोष आ जावेगा। असंभव कार्यों को कर दिखलाना, स्वर्ग पाताल को छान डालना, समुद्र का उल्लंघन करना, बिना किसी यंत्र के आधार के शारीरिक शक्तियों द्वारा पक्षियों के समान आकाश में उड़ना, दिव्य शक्तिवालों अथवा विशेष अवस्थाओं में दिव्यादिव्य शक्तिवानों का कार्य है, यदि अदिव्य शक्तिवालों से इस प्रकार के कर्म कराये जावें, तो वही प्रकृति-विपर्यय कहलावेगा, और यह दोष है। इसी प्रकार यदि मानवों अर्थात् अदिव्य प्रकृतियों की दुर्बलताएँ, उनकी लम्पटताएँ, उनका दुर्व्यसन, उनका भ्रम, मोह, प्रमाद, दिव्य अथवा दिव्यादिव्य प्रकृतियों में दिखलाये जावें, तो यह

भी प्रकृति-विपर्यास होगा। अतएव इस प्रकार की वर्णनायें सदा गर्हित गिनी गई हैं और इसलिये उनको सदोष माना गया है। तब रसों से जहाँ तक उदात्त भावों का सम्पर्क है, वहाँ तक उसका संबंध दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य, सभी प्रकार की प्रकृतियों से है, इसलिये उसकी परिधि के अंतर्गत उनका सब प्रकार का वर्णन समुचित समझा जावेगा। किंतु रसों के जो उद्वेगजनक अथवा विरक्तिकर प्रसंग हैं, जिनसे देश, समाज, अथवा व्यक्ति विशेष का अहित होने की संभावना हो, जो आत्मशुद्धि अथवा आंतरिक विकाश के विरोधी किंवा उत्पादक हों— जैसे शृंगार रस के अश्लील अथवा अमर्य्यादित विषय, उनसे जब अदिव्य प्रकृति ही कलुषित होती है, तो दिव्य अथवा दिव्यादिव्य प्रकृति कैसे लांछित न होगी। क्रोधांधता, कामुकता, किंकर्तव्यविमूढ़ता आदि अदिव्य प्रकृति को भी उपहास्य और निंदित बनाती है। फिर ये दिव्य और दिव्यादिव्य प्रकृतियों को कलंकित और जघन्य क्यों न बनायेंगी। जिस आत्मबल की न्यूनता से अदिव्य प्रकृति भी अपनी महत्ता खो देती है, उसके ह्रास से दिव्य और दिव्यादिव्य प्रकृतियों का कितना पतन होगा, वे कितने अश्रद्धाभाजन बनेंगे, इसको सभी सहृदय स्वयं समझ सकते हैं। इसीलिये यदि उनके चरित्र में ऐसे वर्णन होंगे, जिनमें उक्त अवगुण और दुर्भाव पाये जावेंगे, तो उनमें भी प्रकृति-विपर्यय दोष माना जावेगा। इसी प्रकार और बातों को भी समझना चाहिये।

१०—अर्थ अथवा अन्य किसी के औचित्य को भंग कर देना— अर्थ के अनौचित्य के विषय में साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"एभ्यः पृथगलंकारदोषाणां नैव संभवः"

'एभ्य उक्तदोषेभ्य। तथा हि उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमानस्य जाति-प्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम्'

"इन दोषों से पृथक् अलंकार दोष नहीं हो सकते, वे इन दोषों के अंतर्गत हैं।"

१—उपमा में असादृश्य अर्थात साधारण धर्म की अप्रसिद्धि और असंभव अर्थात उपमान की अप्रसिद्धि हो—

२—उपमान में जाति या प्रमाण न्यूनता या अधिकता विद्यमान हो—

३—'अर्थांतरन्यास' अलंकार में यदि उत्प्रेक्षित अर्थ का समर्थन किया गया हो—तो वहाँ 'अनुचितार्थ दोष' होगा। यथा—

"विरचत काव्य कलाकरहि कला सकलन हेतु।"
"ज्वलित बारि धारा सरिस बरसत विसिख समूह।"

इन दोनो पद्यो मे प्रथम मे काव्य का उपमान कलाकर (चंद्रमा) को और दूसरे मे विशिख समूह का उपमान ज्वलित वारि-धारा को बनाया है, दोनो मे अप्रसिद्ध दोष है, काव्य का उपमान चंद्रमा लोक में प्रसिद्ध नहीं है, इसी प्रकार वारि-धारा जलती नहीं होती, यह बात भी प्रसिद्धि के प्रतिकूल है—अतएव दोनो मे अप्रसिद्धि दोष है, इसलिये उनमे अनुचितार्थत्व है। क्योकि उनमे प्रयोग का औचित्य नहीं है।

'साहसीक है समर में नृप चंडाल समान'

इस पद्य में राजा का उपमान चांडाल है—जो अनुचित है—उनमे जातिगत न्यूनता है—

'है कपूर के खंड सम चंद्रबिंब छवि देत'

'क्योंकि कहाँ कर्पूर खंड और कहाँ चंद्रबिंब—इस पद्य में प्रमाणगत न्यूनता है।'

'बिलसित है हर के सरिस नीलकंठ यह मोर'

इस पद्य के उपमान मे जातिगत आधिक्य है, क्योंकि कहाँ तिर्यग्योनि मयूर और कहाँ महामहिम महेश्वरः इसलिये अनौचित्य की पराकाष्ठा है—

'हैं तिय तेरे कुच युगल काहू अद्रि समान'।
'ललना तेरो भाल है चमकत चंद्र समान'।

इस पद्य के उपमान मे प्रमाणाधिक्य है, अतएव अनौचित्य है, क्योकि कुच और पहाड़, भाल और चद्र की समता कैसी ?

दिवा भीत तम को रखत गिरि निज गुहा मभ्कार।
सरनागत लघु जनहुँ को बडे करत उपकार॥

जिसकी उपमा दी जाती है, अथवा उदाहरण देकर जिसे पुष्ट किया जाता है, वह कुछ असत्य-सा प्रतीत होता है। यदि ऐसा न होता तो उसके समर्थन की आवश्यकता न होती। तम जड़ पदार्थ है, वह भीत हो नहीं सकता, फिर सूर्य से डरकर उसका गुहा में छिपना कैसा ! यदि यह सत्य नहीं है, तो असत्य का समर्थन और प्रतिपादन करना उचित नहीं। यदि ऐसा किया जावे तो वह अनौचित्य है, इस पद्य मे यही किया गया है, अतएव उसमें अनुचितार्थ दोष मौजूद है।

अर्थ के अतिरिक्त अन्य अनौचित्यों के विषय मे साहित्यदर्पणकार यह लिखते हैं—

"अन्यदनौचित्य देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनन्"

"इसके अतिरिक्त देशकाल आदि के विरुद्ध वर्णन को भी अनौचित्य के अंतर्गत जानना चाहिये।" —हिंदी साहित्यदर्पण।

एक दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—

"अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयो"

"अनौचित्य चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे प्रत्येक-देशयोगित्वोपलक्षणपर बोध्यम्।"

"रस और भाव यदि अनौचित्य से प्रवृत्त हुए हों तो उन्हें यथाक्रम रसाभास और भावाभास कहते हैं।"

"अनौचित्य पद को यहाँ एकदेशयोगित्व का उपलक्षण जानना चाहिये, अर्थात् यह पद यहाँ लक्षण से 'एक सबध' का बोधक है। जहाँ भरत आदि से प्रणीत, रसभावादि के लक्षण पूर्ण रूप से सगत न

हो, किंतु विभावादि सामग्री की न्यूनता के कारण कुछ एक अंश से ही संबंध रखते हों, वहाँ रसभाव का अनौचित्य जानना चाहिये।"

रसगंगाधरकार 'अनौचित्य' के विषय में यह लिखते हैं—

"अनौचित्यं तु रसभङ्गहेतुत्वात्परिहरणीयम्। भङ्गश्च पानकादिरसादौ सिकतादिनिपातजनितेवारुंतुदता। तच्च जातिदेशकालवर्णाश्रमवयोवस्थाप्रकृतिव्यवहारादेः प्रपञ्चजातस्य तस्य तस्य यल्लोकशास्त्रसिद्धमनुचितद्रव्यगुणक्रियादि तद्भेदः। जात्यादेरनुचितं यथा—गवादेस्तेजोबलकार्याणि पराक्रमादीनि। सिंहादेश्च साधुभावादीनि। स्वर्गे जराव्याध्यादि। भूलोके सुधासेवनादि। शिशिरे जलविहारादिनि। ग्रीष्मे वह्निसेवा। ब्राह्मणस्य मृगया। बाहुजस्य प्रतिग्रहः। शूद्रस्य निगमाध्ययनम्। ब्रह्मचारिणो यतेश्च ताम्बूलचर्वणम्। बालवृद्धयोः स्त्रीसेवनम्। यूनश्च विरागः दरिद्राणामाढ्याचरणम्। आढ्यानां च दरिद्राचारः।"

'जो बातें अनुचित हैं, उनका वर्णन रस के भंग का कारण है, अतः उसे तो सर्वथा न आने देना चाहिये। भंग किसे कहते हैं, उसको भी समझ लीजिये। जिस तरह शर्बत आदि किसी वस्तु में कोई कड़ी वस्तु गिर जाने के कारण वह खटकने लगती है, इसी प्रकार रस के अनुभव में खटकने को रसभंग कहते हैं। अनुचित होने का अर्थ यह है कि जिन-जिन जाति, देश, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्थिति और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में जो-जो लोक और शास्त्र से सिद्ध एवं उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया आदि हैं, उनसे भिन्न होना। जाति आदि के संबंध में जो अनुचित बातें हैं, अब उनके कुछ उदाहरण सुनिये। जाति के विरुद्ध, जैसे बैल और गाय आदि के तेज और बल के कार्य, और सिंह आदि का सीधापन आदि। देश के विरुद्ध—जैसे स्वर्ग में बुढ़ापा, रोग आदि और पृथ्वी में अमृतपान आदि। काल के विरुद्ध—ठंढ के दिनों में जल-विहार आदि, और गरमी के दिनों में अग्नि-सेवन आदि। वर्ण के विरुद्ध—जैसे ब्राह्मण का शिकार खेलना, क्षत्रिय का दान लेना और शूद्र का वेद पढ़ना आदि।

युवकों के सौंदर्य्य-सरोज का मधुप है, इसलिये उसका बहुनायकनिष्ठ होना प्रकट है।

अनुभयनिष्ठ रति—इसका भाव यह है कि जहाँ नायिका में प्रेमभाव उत्पन्न होकर केवल नायक ही में उसका विकास हुआ हो, अर्थात् ऐसी रति जो नायक नायिका दोनों में उत्पन्न नहीं हुई, यथा—

'पिय तन छाँह बनन चहत तिय लखि छाँह डराति।'

पति का प्रेम तो इतना वर्द्धित है कि वह प्राय पत्नी के साथ ही रहना चाहता है, किंतु पत्नी इतनी सलज्ज और सकोचवती है कि पति की छाया देखकर भी घबराती है। रस की पूर्णता दोनों के प्रेमसाम्य ही से होती है, इसलिये यहाँ भी रसाभास है—

प्रतिनायकनिष्ठ रति—अर्थात् ऐसी रति जो नायक के शत्रु में हो, यथा—

हो सुदर सुनयन रुचिर रुचि कामिनि चित चोर।
कत चितवति है चतुर तिय प्रियतम अरि की ओर॥

पति के शत्रु की ओर उसके सौंदर्य के कारण किसी स्त्री को बार-बार अवलोकन करते देखकर किसी बुद्धिमती सखी को यह बात असंगत जान पड़ी, अतएव वह उसको सावधान करती है। क्योंकि उसकी चितवन में उसके रूप के आकर्षण की झलक उसे दिखलाई पड़ी। यह प्रत्यक्ष रसाभास है, क्योंकि सहधर्मिणी की यह प्रवृत्ति अनौचित्य के अतर्गत है।

अधमपात्रगत रति—अर्थात् जो पात्र रति योग्य नहीं है, उससे प्रीतियुक्त होना, यथा—

चाहे लालायित बनत कोऊ द्विजकुल जात।
मानि मानि यवनीन को नवनी कोमल गात॥

एक विप्रवंश जात का किसी युवती की नवनीतकोमलांगी कहकर प्रशसा करना और उसके प्रेमपाश में बद्ध होना कितना अनुचित है,

इसको प्रत्येक आर्यधर्मावलंबी समझ सकता है। अधमपात्रगत रति का यह रोमांचकर उदाहरण है।

तिर्यग् योनिगत रति—तिर्यग् योनि कीट पतगादि हैं, इनकी प्रीति का अथवा शृंगारलीला का वर्णन करना तिर्यग् योनिगत रति कहलाती है, यथा—

जाति चमेली कुंज में निरखति ललित लतान।
अलिनी खोजति फिरति है, अलि को करि कलगान।

तिर्यग् योनिगत रति की वर्णना को इसलिये रसाभास माना है कि उसमें अधिकांश विकल्पना होती है, वास्तविकता कम। मानव-समाज की रति के समान उसमें पूर्णता भी नहीं होती।

रौद्र रसाभास; यथा—

बात कहा बैरीन की का मो सम बलवान।
बिगरि गये बापहू पै हौं बगारि हौं बान॥

गुरुजन पर क्रोध करना उचित नहीं, पिता सर्वप्रधान गुरु है। इस दोहे में कहा गया है कि यदि मैं बिगड़ जाऊँगा, तो बाप को भी बाण मार दूंगा, इससे बढ़कर क्या अनौचित्य होगा, अतएव इसमें प्रत्यक्ष रौद्र रसाभास है।

भयानक रसाभास—जहाँ किसी नरपुंगव अथवा वीर में भय दृष्टिगत होता है, वहाँ भयानक रसाभास होता है, यथा—

सुने असुर की असुरता सुरपुर सकल सकात।
देखि दसवदन को वदन सुरपति सुख पियरात॥

इस पद्य में वीर-शिरोमणि इंद्र के मुख का रावण के भय से पीत होना वर्णित है, इसलिये इसमें भयानक रसाभास है।

करुण रसाभास—जो करुणा अथवा दया का पात्र नहीं है, जब उस पर कृपा अथवा उसके विषय में करुणा की जाती है, तब करुण रसाभास होता है, यथा—

अद्‌भुत रसाभास—जब किसी विषय का वर्णन आश्चर्य की सीमा से आगे बढकर असभवता तक पहुँच जाता है, वहाँ अद्‌भुत रसाभास होता है—क्योंकि इस प्रकार का वर्णन उचित नहीं होता। यथा—

उछरि अजनीसुअन ने लीलि लियो ततकाल।
निरखि बाल रविबिम्ब को सुमधुर फल सम लाल॥

'सूर्यो आत्मा हि जगत ।' सूर्य्य जगत् की आत्मा है, वह हिंदू जाति का आराध्य देव है, उसके विषय में यह लिखना कि उसको नर ने नहीं वरन् वानर ने निगल लिया, कितना बड़ा अनौचित्य है। सूर्य्य के सामने अजनीनदन की सत्ता हिमालय के सामने एक चींटे इतनी भी नहीं, भला वे सूर्य्य को क्या निगलते। जिस कार्य का उल्लेख दोहे मे है, वह अद्भुत क्या महान् अद्भुत है, परतु प्रलापमात्र है और अनौचित्य पूर्ण भी, अतएव उसमे प्रत्यक्ष रसाभास है। एक दोहा और देखिये—,

का न करति ललना, हनति पति को ले करवाल।
कँपि कलक भय ते हनति कोख लाल को काल॥

एक ललना का कर मे करवाल लेकर पतिदेव का वध करना, अपने फूल से कोमल लाल का कलक भय से नाश कर देना, कितना विस्मयपूर्ण और आश्चर्यजनक है। किंतु दुःख है कि ससार मे ऐसा होता है। दोनो कार्यों मे अनौचित्य की पराकाष्ठा है, इसलिये पद्य में अद्‌भुत रसाभास मौजूद है।

इसी प्रकार के रसाभास के और उदाहरण दिये जा सकते हैं, किंतु मैं समझता हूँ विषय स्पष्ट हो गया, अतएव विस्तार की आवश्यकता नहीं। रसाभास का लक्षण क्या है, और वह रस ही होगा या और कुछ, इसकी मीमासा रसगगाधरकार ने विशेषतया की है, अभिज्ञता के लिये उनका विचार भी नीचे उद्‌धृत किया जाता है—

"तत्रानुचितविभावालम्बनत्व रसाभासत्वम्। विभावादावनौचित्य पुनर्लो-

कानां व्यवहारतो विज्ञेयम्। यत्र तेषामयुक्तमिति धीरिति केचिदाहुः। तदपरे न क्षमन्ते। मुनिपत्न्यादिविषयकरत्यादेः संग्रहेऽपि बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च रतेरसंग्रहात्। तत्र विभावगतस्यानौचित्यस्याभावात्। तस्मादनौचित्येन रत्यादिर्विशेषणीयः इत्थं चानुचितविभावालम्बनाया बहुनायकविषयाया अनुभयनिष्ठायाश्च संग्रह इति। अनौचित्यं च प्राग्वदेव।"

"उसके लक्षण के विषय में कुछ विद्वानों का मत है—अनुचित विभाव को आलंबन मानकर यदि रति आदि का अनुभव किया जाय तो रसाभास हो जाता है। रहा यह कि किस विभाव को अनुचित मानना चाहिये और किसको उचित, सो यह लोक व्यवहार से समझ लेना चाहिये। अर्थात् जिसके विषय में लोगों की यह बुद्धि है कि यह अयोग्य है, उसीमें अनौचित्य का आरोप किया जा सकता है। पर दूसरे विद्वान् इस लक्षण को सुनकर चुप नहीं रहते, वे कहते हैं—इस लक्षण के द्वारा यद्यपि मुनी-पत्नी आदि के विषय में जो रति आदि होते हैं, उनका संग्रह हो जाता है, क्योंकि इतर मनुष्य मुनि-पत्नी आदि को अपना प्रेमपात्र माने यह अनुचित है। तथापि अनेक नायकों के विषय में होनेवाली और प्रियतम प्रियतमा दोनों में से केवल एक ही में होनेवाली रति का इसमें संग्रह नहीं होता, क्योंकि वहाँ तो विभाव अनुचित नहीं. किन्तु प्रेम अनुचित रूप से प्रवृत्त हुआ है, अत. अनुचित विशेषण रति आदि के साथ लगाना उचित है। अर्थात् यह लक्षण बनाना चाहिये—

"जहाँ रति आदि अनुचित रूप से प्रवृत्त हुए हो वहाँ रसाभास होता है।"

इस तरह जिनमें अनुचित विभाव आलंबन न हो, जो अनेक नायकों के विषय में हो. और जो प्रियतम प्रियतमा दोनो में न रहती हो. इस रति का भी संग्रह हो जाता है। अनुचितता का ज्ञान तो इस मत में भी पूर्ववत् (लोक व्यवहार) से ही कर लेना होगा।"

"तत्र रसाद्याभासत्व रसत्वादिना न समानाधिकरणं निर्मलस्यैव रसादित्वाद्- हेत्वाभासत्वमिव हेतुत्वेनेत्येके। नह्यनुचितत्वेनात्महानिरपि तु सदोषत्वादाभास व्यवहारोऽश्वाभासदिव्यवहारवदित्यपरे"। —मुख्य ग्रथ ८४ पृ० द्वि० ख०

"रसाभासो के विपय में एक और विचार है। कुछ विद्वानों का कथन है "जहाँ रसादि के आभास होते हैं, वहाँ रस आदि नहीं होते, उन दोनो का साथ साथ रहना नियम विरुद्ध है, क्योंकि जो निर्मल हो जिसमें अनुचितता न हो, उसीका नाम रस है। जैसे कि जो हेत्वाभास होता है, वह हेतु नहीं। दूसरे विद्वानो का कथन है—अनुचित होने के कारण स्वरूप का नाश नहीं हो सकता अर्थात् वह रस ही है, किंतु दोपयुक्त होने से उन्हें आभास कहा जाता है, जैसे कोई अश्व दोपयुक्त हो, तो लोग उसे अश्वाभास कहते हैं"। —हिंदी रसगगाधर २६९, २७०

मैं समझता हूँ, यह अंतिम सम्मति ही ठीक है, कुछ अनौचित्य के कारण रस कलुपित हो सकता है किंतु यह नहीं हो सकता कि उसमें रस का अभाव हो जावे। यह भी समझ लेना चाहिये कि सब जगह अनौचित्य से रसाभास नहीं हो जाता। जहाँ अनौचित्य से किसी रस की पुष्टि होती हो, अथवा जहाँ अनौचित्य का उद्देश चरित्र सुधार, कलक अपनोदन, किंवा दोप अवगतकरण हों, वहाँ वह वर्जित नहीं होता। अनौचित्य वही निंदनीय होता है, जो रस के प्रतिकूल हो। यथा—

कचन-सचय में निपुन रखत कचनी मान।
कैसे बनै महत नहिं महि में महिमावान॥

किसी धर्माचार्य पर कटाक्ष करना अनौचित्य है, इस पद्य मे यही किया गया है, अतएव इसमे रसाभास माना जा सकता है। किंतु महत के चरित्र शोधन के लिये ही, इस पद्य में उनकी हँसी उड़ाई गई है, अतएव यहाँ अनौचित्य हास्य रस को पुष्ट करता है, उसके प्रतिकूल नहीं है, इसलिये इसमे रसाभास नहीं माना जायगा। इसी प्रकार अन्यो को भी समझना चाहिये।

शृंगार रस

शृंगार रस की परिभाषा

नाट्य-शास्त्र के आचार्य महामुनि भरत ने शृंगार की यह परिभाषा लिखी है—

"यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते ।

जो कुछ लोक में पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगार रस कहलाता है।

"यथा गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति, तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृंगारो रसः"।

जैसे गोत्र, कुल और आचार से उत्पन्न आप्तोपदेश सिद्ध पुरुषों के नाम होते हैं। उसी प्रकार नाट्याश्रित रसों और भावों के 'अर्थ के आधार पर' आचारोत्पन्न, आप्तोपदेश सिद्ध नाम हैं। इसी प्रकार का आचार सिद्ध, हृदयग्राही, उज्ज्वल वेषात्मक होने के कारण शृंगार (रस) कहलाता है।

साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥

"काम के उद्भेद (अंकुरित होने) को शृंग कहते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त, रस 'शृंगार' कहलाता है।"

शृंगार क्या है, उसकी परिभाषा क्या है? मेरा विचार है, महामुनि भरत और साहित्यदर्पणकार की उक्तियों से यह बात स्पष्ट हो गई। जो कुछ संसार में दर्शनीय अर्थात सुंदर है, साथ ही जो पवित्र, उत्तम और उज्ज्वल है, उसका जिसमें सरस एवं हृदयग्राही, वर्णन विकास

अथवा प्रदर्शन होगा, वह शृंगार रस कहला सकेगा। आचार्य भरत के 'नाट्याश्रित' वाक्य से केवल नाटको का ही ग्रहण न होगा, काव्यों और अन्य साहित्यिक विषयो का समावेश भी उसमे समझा जावेगा। कारण यह है कि शृंगार रस की परिभाषा उन सब को अंतर्गत कर लेती है। आचार्य्य के सम्मुख नाटक का विषय था, इसलिये अपने सूत्र मे उसीका उल्लेख उन्होंने किया, और इसका कोई दूसरा हेतु नहीं। काव्य दो प्रकार का होता है, दृश्य और श्रव्य। इसलिये रमणीयार्थप्रतिपादक' दोनों है, क्योंकि पडितराज कहते है, 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।' फिर दृश्य काव्य श्रव्य का उपलक्षण क्यो न माना जायगा। साहित्यदर्पणकार कहते हैं कि काम के अकुरित होने को शृंग कहते हैं, इसलिये उसकी उत्पत्ति के आधार, उत्तम प्रकृतियो के अवलबन, रस को शृंगार कहा जाता है। इस कथन मे भी उत्तम प्रकृति का प्राधान्य है। उत्तम प्रकृति ही पवित्र, उज्ज्वल, और दर्शनीय होगी। अतएव शृंगार रस की परिभाषा के विषय मे हम दोनो वावदूक विद्वानो का एक ही सिद्धात और एक ही विचार अवलोकन करते है जिससे उसकी विशेष पुष्टि होती है।

शृंगार रस का विवेचन

शृंगार रस के देवता विष्णु भगवान है। नाट्यशास्त्रकार लिखते है, 'शृंगारो विष्णुदेवस्तु' यही सम्मति साहित्यदर्पणकार की भी है, वे कहते है, 'स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः'। जिस रस का जो गुण, स्वभाव और लक्षण होता है, उसका देवता प्राय उन्ही गुणो और लक्षणादि का आदर्श होता है, क्योकि उसीके आधार मे उस रस की कल्पना होती है। भगवान् विष्णु मे सतोगुण की प्रधानता है, वे सृजन कर्त्ता के भी सृजनकारी है। उन्हीकी नाभि से जो विश्व का केंद्र है, ब्रह्मा की सृष्टि हुई, जो शतदल कमल पर विराजमान थे। यह

शतदल कमल और कुछ नहीं, अनंत जलराशि में प्रकटीभूत क्षुद्रतम पार्थिव अंश मात्र था। वे शेषशायी हैं, प्रयोजन यह कि विनष्टभूत अखिल ब्रह्माण्ड के जो शेषांश सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु स्वरूप में, शून्य में. अनंत अगाध समुद्र के समान वर्त्तमान रहते हैं. वे उन्हींमें विश्राम करते हैं। उनकी सहकारिणी वह शक्ति है जो रमा है, जो उनके समान ही सर्वत्र ही रमण करती है, सबका पालन-पोषण करती है, और जो उन्हीं लोकोत्तर के सदृश लोकोत्तरा है। वे हिरण्यगर्भ हैं, 'कोटिसूर्यसमप्रभ' हैं, अर्थात असंख्य दिव लोक, अपरिमित सूर्य मंडल, और अनंत-दीप्तिमान पिंडों के जनक हैं। उनका पवित्रतम-पद देश पुण्यसलिला भगवती भागीरथी का उत्पादक है. उस भगवती भागीरथी का, जो त्रिपथगा हैं, स्वर्ग, मर्त्य और पातालविहारिणी हैं; जो भगवान् शिव के शिरोदेश की मालती माला हैं. और हैं उस कंठगत कालकूट विषमता की शमनकारिणी. जिनसे त्रिलोक के भस्मीभूत होने की आशंका उपस्थित हो गई थी। वे हैं कोटि मन्मथ मनमथन और उस निर्जीव के जीवन दाता. जो अपने किसलय कोमल करों में सुमन शर धारण करके त्रिलोक को आयत्त करता है। फिर यदि यह कहा जावे कि लोक में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्वल, और दर्शनीय है, वह शृंगार रस है. तो क्या आश्चर्य ! क्योंकि वह ऐसे अलौकिकता निकेतन, समानविभूतिसर्वस्व. 'रसो वै स.' का ही आदिम विकास तो है।

मैं रस-प्रकरण में अग्निपुराण के आधार से लिख आया हूं; सर्व व्यापक और सर्वशक्तिमान विभु का स्वाभाविक आनंद अभिव्यक्ति अवस्था में चित्शक्ति सम्पन्न और चमत्कारमय होता है। उसके अहंभाव से अभिमान का आविर्भाव. और ममता संकलित अभिमान से रति की उत्पत्ति होती है। यही रति शृंगार रस की जननी है, इसलिये रति इसका स्थायीभाव है।

प्रकृतिवाद में रति शब्द का अर्थ लिखा है—

महर्षि अत्रि का यह वचन है—

पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम् ।
ऋणमस्मिन्स नयति अमृतत्व च गच्छति ॥

पुत्र का जन्म होने पर जीवित पुत्र का मुख देखने से ही पिता पितरो के ऋण से मुक्त होता है और उसी दिन शुद्ध हो जाता है, क्योंकि पुत्र पिता को नरक से बचाता है ।

वशिष्ठ देव की यह आज्ञा है—

अनन्ता॰ पुत्रिणा लोका नापुत्रस्य लोकोस्तीति श्रूयते ।

पुत्रवाले को अनत काल तक स्वर्ग मिलता है, पुत्र हीन मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति नही होती ।

बौधायन स्मृति का यह वाक्य है—

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिऋणी जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य इति ।

ब्राह्मण तीन ऋण से युक्त होकर जन्म लेता है, वह ब्रह्मचर्य धारण करने पर ऋषि-ऋण से, यज्ञ करने पर देव-ऋण से और संतान उत्पन्न करने पर पितृ-ऋण से छूटता है । —धर्मशास्त्रसग्रह ।

मगलमयी सृष्टि के सरक्षण के लिये किस प्रकार इन वचनो के द्वारा मनुष्य जाति को सतर्क किया गया है और कैसे एक धर्म-कार्य की ओर प्रवृत्ति दिलाई गई है और कितने रोचकभाव से, इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नही। किंतु एक विशेष बात की ओर दृष्टि आकर्षण प्रयोजनीय ज्ञात होता है। वह यह कि सतानोत्पत्ति इसलिये आवश्यक है कि जिससे मनुष्य तीन ऋण से मुक्त हो सके। वे तीन ऋण हैं, देव-ऋण, ऋषि-ऋण, और पितृ-ऋण। देव-ऋण चुकाने का अर्थ है, अनेक यज्ञो और सदनुष्ठानो द्वारा सर्व भूत हित और लोक सेवा, ऋषि-ऋण से मुक्त होने का भाव है सच्छास्त्रो का पठन और मनन कर जनसाधारण मे सद्भावो और विश्व-

हितकर विचारों का प्रचार और पितृ-ऋण से उद्धार पाने का उद्देश्य है, वंश वृद्धि, एवं देश कालानुसार कुल की शिष्टजनानुमोदित मर्यादा और परंपरा का पालन। मनुष्य का यह प्रधान कार्य है कि जब तक वह जीवित रहे तब तक इन महान् कर्त्तव्य कर्मों को स्वयं करता रहे और अपने पीछे अपना एक ऐसा प्रतिनिधि छोड़ जावे, जो इन शुभ कार्यों को यथापूर्व चलाता रहे। यह बात बिना पुत्र उत्पन्न किये नहीं प्राप्त हो सकती, इसलिये शास्त्रों मे संतानोत्पत्ति का इतना महत्त्व है। संतानोत्पत्ति बिना स्त्री-पुरुष सम्मिलन के नहीं हो सकती, इस लिये उनका संयोग कितना पुनीत और महान् कार्य है। आशा है, यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो गई। एक अँगरेजी विद्वान भी लगभग ये ही बातें कहते हैं, देखिये—

"He is no longer to live for himself, but for his wife and children and in a larger sense for his descendants—for the good of the race He is to continue by transmitting himself, that life may remain when he is gone what he does involves the interest of his wife and of those who are to come after him. Love is to conquer selfishness. He is to rise above himself and the present good and future happiness of others are to constitute his well-being.'

'विवाह के बाद पुरुष की जीवन-यात्रा केवल अपने लिये नहीं होती, वरन अपनी स्त्री और बच्चों के लिये अथवा व्यापक अर्थ मे यों कहिये कि जाति-हित की दृष्टि से अपने उत्तराधिकारियों के लिये है। अपनी आत्मीयता को वह दूसरों को इस प्रकार से सौंपता है कि मर जाने पर भी वह जीवित रहता है। उसके प्रत्येक काम मे उसकी पत्नी तथा

बच्चों का हित लिपटा रहता है। स्वार्थ-परता पर प्रेम की विजय होती है, पति को अहभाव के ऊपर उठना पड़ता है। उसकी सत्ता का प्रयोजन अब से दूसरो को वर्त्तमान भलाई और भविष्य आनन्द में ही है।'

——मतिरामग्रथावली की भूमिका पृ० ७।

एक प्रकार से और इस विपय को देखिये। जिसका शृगार किया जाता है, वह उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय बन जाता है। यह शृगार चाहे प्रकृति करों से किया गया हो, चाहे मनुष्य जाति द्वारा। शरद मयंक, समुज्ज्वल राका रजनी, अनत तारकावलि, विलसित नोलनभोमंडल, लोकरंजिनी अरुणरागआरजिता ऊषा, हिम धवल गिरिशृग श्रेणो, हरित-दल-विभूषित पादपावलो, अनंत सौंदर्य निकेतन विकच कुसुम समूह, विचित्र चित्रित विहंग वृंद और नाना रंग आकार के चमत्कारमय कोट-पतग किसको विमुग्ध नहीं बनाते, किसके लोचनों को नहीं चुराते और किसके हृदय को आनंदित नहीं करते। मानव जाति के बनाये ससार के अनेको मदिर, सहस्रो स्तभ, कितने ही 'पिरामिड', बहुत से पुल, लाखो पुष्पोद्यान, असख्य विलास-मंदिर, करोड़ों बागबगीचे, अनेक मूर्तियाॅ और खिलौने, इतने साफ सुथरे सुंदर, मनोहर और देखने योग्य हैं कि उनकी जितनी प्रशसा की जाय वह थोड़ी है। ये समस्त विश्व-विभूतियाॅ पवित्र इसलिये हैं कि उनका दर्शन निर्दोष है और वे लोकोत्तर आनंदसदन हैं। यह शृगार का माहात्म्य है।

जब इस शृगार को रसत्व प्राप्त हो जाता है, तो सोना और सुगध की कहावत चरितार्थ होती है, उस समय वास्तव में मणिकाञ्चन योग उपस्थित होता है निर्जीवप्राय सजीव बन जाता है और स्वर्ण कलस रवि-किरण-कात ॥

क्या इन बातो पर गभीरता पूर्वक विचार करने पर यह नहीं स्वीकार करना पड़ता कि शृगार रस की पवित्रता और महत्ताओ के विपय में जो कथन किया गया, वह सत्य और युक्तिसंगत है।

शृंगार रस की व्यापकता

संसार में जो पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल और दर्शनीय है, उसमें शृंगार रस का विकास है, इस कथन से ही शृंगार रस कितना व्यापक है, यह स्पष्ट हो जाता है। परंतु सूत्र-रूप में कही गई इस विषय की व्याख्या आवश्यक है, जिसमें वह भलाभाँति हृदयंगम हो जावे।

प्राणियों में मनुष्य सर्वप्रधान है। जब उसकी ओर दृष्टि जाती है तब शृंगार रस की व्यापकता अन्य प्राणियों की अपेक्षा उसमें अधिक पाई जाती है। किसी-किसी प्राणी में शृंगार रस का कोई अंश बहुत-ही प्रबल देखा जाता है, परंतु उसका सर्वांश अथवा अधिकांश जितना मानव-जाति में मिलता है, अन्यों में नहीं। दर्शनीयता जितनी सौंदर्य्य में मिलती है, अन्य गुणों में नहीं। जितना आकर्षण और हृदयग्राहिता रूप में होती है, जितना मोहक वह होता है, दूसरा नहीं। इसी लिये काम लोकोत्तर कमनीय और कुसुमायुध है। उसकी सहधर्मिणी रति है, जो प्रेममयी, आसक्तिमयी, रमणशीला और क्रीड़ाकला-पुत्तलिका है। काम यदि सौंदर्य्य-सरसीरुह है, तो वह उसकी शोभा, काम यदि राकामयंक है, तो रति उसकी कौमुदी; शृंगार रस का दोनों के साथ आधार-आधेय का संबंध है। शृंगार रस शिशु का एक जनक है, और दूसरी जननी। मानव हृदय काम-रति-परायण है, अतएव उसके प्रांगण में प्रायः शृंगार रस शिशु रमण करता रहता है। जिसका परिणाम वे ललित कलाएँ हैं जिनमें सारा धरातल ललितभूत है!

सुंदर-सुंदर चित्र, तरह-तरह के वसन-आभूषण, कोमल कांत बिछौने, नयनरंजन सामग्री, लोकमोहन आलोक, गगनचुंबी प्रासाद, सुललित उद्यान, मनोहर नहरें, अनेक देव दुर्लभ विभव और बहुत-से अपूर्व सुखसाधन, मनुष्य जाति की सौंदर्य्यप्रियता से ही प्रसूत हैं। संगीत साहित्य के सूक्ष्म से सूक्ष्म आविष्कार, स्वर ध्वनियों की लालायितकर लहरें, विविध वाद्ययंत्रों के मधुर निनाद, नृत्य और नृत्त के

नाना विभेद, हाव-भाव कटाक्ष के महाप्रयोग, हास, विलास के क्रिया कलाप, रूप माधुरी के विविध वर्णन, प्रकृति विभूतियो के मनोहर चित्रण कवि-हृदय के सरस उद्गार, रसिक जनो के रस प्रसूत सम्बल, सौंदर्य्य प्रेम प्रकरण ही के विविध सस्करण हैं। मानव किस प्रकार इनके द्वारा अपनी सकामता को चरितार्थ करता है, कैसे इनमें अनुरक्त रहकर अपने जीवन को आनदमय बनाता है, यह अविदित नहीं, प्रत्येक सहृदय इसे जानता है।

वधिक की वीणा मे कौन-सी वशीकरण विभूति होती है कि उसको श्रवण कर मृग इतना तन्मय हो जाता है कि उसके वाण पर आत्मोत्सर्ग करने मे भी सकुचित नहीं होता? कृत्रिम करिणी को भी देखकर गजराज पर कौन सा जादू हो जाता है कि वह गर्त्त मे ही पतित नहीं होता, उस पराधीनता के वधन मे भी वॅध जाता है, जो उसको आजन्म जीवन के स्वतत्रता सुख से वंचित कर देता है? घोडियों मे कौन-सी आकर्षिणी शक्ति है, जिनको अवलोकन करते ही घोड़े आनद-विह्वल होकर उछलने-कूदने ही नहीं लगते, अपने उच्चरव से दिशाओ को भी ध्वनित करने लगते हैं? मथर गति, पीवर ग्रीव, विशाल काय वैलों मे कौन-सी मोहनी रहती है कि उनको घूमते देख गाएँ आपे मे नहीं रहती और पास पहुँच कर परस्पर लेहन करने मे ही आनद लाभ करती हैं? वह कौन-सी प्रेरणा है कि अपने बच्चों में पशु मात्र का सहज प्यार होता है? वह कौन-सा भाव है जिसके वशवर्ती होकर पशुओ के जोडे आपम मे एक दूसरे की ओर खिचते, मुँह से मुँह मिलाते, उछलते-कूदते और तरह-तरह की क्रीडाओ मे रत रहते हैं? इन सब बातो का एक ही उत्तर है, वह यह कि ये सब भगवान् कुसुमायुध की विचित्र लीलाएं हैं।

प्रात काल ऊषा को अरुण राग रंजित और कात रविकर आपीड मे सुसज्जित अवलोकन कर विहगवृद जो अलौकिक-गान आरम्भ करता है, जैसी कलकंठता दिखलाता है, जैसे मधुर स्वरो से दिशाओ को पूरित

कर देता है, जैसा चहकता और उमंग मे भर जाता है, वह किस प्रवृत्ति का परिचायक है ? क्या उस रागमयी का अनुराग ऐसा कराता है, या उसका सौंदर्य्य अथवा उसका विकास ? कुसुमाकर जब कुसुमावलि का माल्य धारण कर दिशाओं को सुरभित करता है, पादपपंक्ति को नवल फल दल सभार से सजाता है, तो कोयल क्यों उन्मादिनी बनती है; क्यों रात रात भर बोलती है ? क्यो कूक-कूक कर कलेजा निकाले देती है। क्या इनका कोई पारम्परिक संबंध है ? क्या प्रेमोन्माद ही तो उसे उन्मादिनी नहीं बनाता। जब घन गगन मंडल मे घिर जाते हैं, मंद मंद गरजते हैं, कभी घूमते हैं, कभी रस बरसाते हैं, तब पपीहा क्यो पी-पी की रट लगाता है, मयूर क्यो मत्त होकर नर्त्तन करता है, घन-पटल को अवलोकन कर इनको कौन रस मिलता है ? कौन से आनंद की धारा इनके मानसो मे बहने लगती है, क्या इन बातो में कोई रहस्य नहीं ? पारावत कितना प्यारा पक्षी है, सौंदर्य्य की तो वह मूर्त्ति है। जिस समय वह अपने नीलाभ गले को फुलाकर बोलने लगता है, अपनी पूंछ को झुका और फैलाकर नृत्य आरंभ करता है, उस समय उसको विहंगिनी ही उस पर मुग्ध नहीं होती, वरन उसे उस अवस्था मे जो देखता है, वही मोह जाता है। उसका यह मोहक रूप क्यो ? क्या ये सब शृङ्गार रस के ही कौतुक नही ?

भृंग फूलो पर गूंजता फिरता है, कभी उनपर बैठता है, कभी उनसे रस ग्रहण करता है और कभी एक पुष्प का रज वहन करके दूसरे तक पहुंचा आता है। तितलियां नाचती फिरती हैं, चूम-चूमकर फूलो की बलाएं लेती हैं। उनसे गले मिलती हैं, अपने रंग मे उन्हें और उनके रंग मे अपने को रंगती है और फिर न जाने कहाँ चक्कर काटती हुई चली जाती है। मधुमक्खी चुपचाप आती है, फूलो के साथ विहार करती है, उनसे रस संचय करती है, कुछ को पी जाती है, और कुछ को लिये ममतामयी, बचती न जाने कहाँ से कहाँ पहुंच जाती है। यदि हम

आँख उठाकर देखें, तो अपने चारो ओर असख्य कीट-पतगों को, इसी प्रकार के कार्यों मे रत पायेंगे। प्राणी ही नहीं यदि हम अतर्दृष्टि से काम लेंगे, तो पेड़ों और लता वेलियों क्या फूल-पत्तों तक में कामदेव के साथ रति देवी विहार करती मिलेंगी, और वहाँ रस रूप में शृगार देव भी अपना प्रभाव विस्तार करते दृग्गोचर होगे। वास्तविक बात यह है कि ससार मे जो कुछ है, वह सब एक दूसरे के साथ अदृश्य सूत्र से ग्रथित है। यह संबध मानव वुद्धि से परे भले ही हो, किंतु इस सवंध द्वारा कहीं ज्ञात और कही अज्ञात रूप से ससार का सृजनादि समस्त मगल-मूलक कार्य यथा काल होता रहता है। एक अँगरेज़ विद्वान् कहता है—

"All things by immortal power
To each other linked are,
Near or far, That thou canst not stir a flower.
Hiddenly Without troubling of a star"

"समस्त वस्तुएँ चाहे वे दूर-दूर हो, चाहे पास-पास, एक अनत शक्ति के द्वारा गुप्त रीति से एक दूसरे से लगाव रखती है। तुम बिना एक सितारे को प्रभावित किये हुए, एक फूल को भी नहीं तोड़ सकते।"

—'सुधा' संख्या २४ पृ० ५४८।

शृगार रस की व्यापकता का एक मनोहर चित्र प्रसग सूत्र से कविकुलगुरु कालिदास ने अपने कुमारसभव नामक ग्रथ मे बडी सहृदयता से अकित किया है, उसको भी देखिये। जिस समय भगवान् भवानीपति पर आक्रमण करने के लिये, कुसुमायुध अपनी पूर्ण शक्ति का विस्तार कर प्रयाण करता है, उस समय की दशा का वर्णन वे यों करते हैं—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रिया स्वामनुवर्त्तमान।
शृगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसार॥

ददौ रसात् पकजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजल करेणुः।
अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जाया संभावयामास रथागनामा ॥
पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्य. स्फुरत् प्रवालोष्ठमनोहराभ्य. ।
लताबधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि ॥

भ्रमरगण अपनी-अपनी प्रिया का अनुगामी बनकर एक पुष्परूप पात्र में मधुपान करने लगा, कृष्णसार मृगों ने अपने-अपने सींगों से मृगीगण के गात्र को खुजलाया, अतएव स्पर्श सुख से विमोहित होकर उन्होंने अपनी आँखें बंद कर लीं। करिणीगण ने पद्म-पराग से सुरभित सरोवर सलिल को करों के द्वारा कुंजर समूह को पिलाया और चकवा ने कमल नाल का एक टुकड़ा लेकर उसमें से आधा स्वयं खाया और आधा अपनी प्रियतमा को खिलाया। इतना ही नहीं, प्रभूत-पुष्प-स्तवक-स्तन और प्रवालोपम अधर-पल्लव से सुशोभित लता-वधूटियों ने भी अपनी आनत-शाखा बाहु-द्वारा पादप समूह को आलिंगन करना आरंभ कर दिया।

कविकुलतिलक गोस्वामी तुलसीदासजी ने इस विषय का वर्णन जिस प्रकार किया है, वह भी दर्शनीय है—

सब के हृदय मदन अभिलाखा। लता निहारि नवहिं तरु शाखा।
नदी उमगि अंबुधि कहँ धाई। संगम करहिं तलाव तलाई।
जँह अस दसा जड़न कै बरनी। को कहि सकहि सचेतन करनी।
पसु पच्छी नभ जल थल चारी। भये काम बस समय बिसारी।
देव दनुज नर किंनर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बैताला।
इनकी दसा न कहेउँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी।

मैं समझता हूं, अब तक जो शृंगार रस की व्यापकता के विषय में लिखा गया, वह पर्य्याप्त है। एक अंगरेज विद्वान की सम्मति और सुन लीजिए—

It is under the awakening of reproductive life that the

fields put on their verdure; the flowers unfold their beauty and fragrance, the birds put on their brightest plumage and sing their sweetest song while the chirp of the cricket, the note of the katydid, is but the call to its mate for the many tounged voices, which break the stillness of field and forest are lent myriad notes of love.

"सृजन सबधिनी प्रेरणाओं से जाग्रत् होकर ही मैदान अपनी सब्जी दिखलाते हैं, फूल अपने सौंदर्य्य और सुगध को प्रकट करते हैं, पक्षी-गण अपने चमकीले से चमकीले पर धारण करते हैं, तथा मधुर-से-मधुर गीत गाते हैं। झिल्ली की झंकार, कोयल की कूक अपने जोडे के आह्वान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैदान और वनों की निस्त-ब्धता को भग करनेवाले जो इन नाना प्रकार के पक्षियो के कलरव सुन पडते हैं, ये सब प्रेम के ही असख्य गीत हैं।"

मतिरामग्रथावली की भूमिका पृ० ४।

शृंगार रस की प्रधानता

शृगार रस की व्यापकता के विषय मे जो कुछ लिखा गया उसे आपने अवलोकन कर लिया, दूसरी विशेपता इस रस में यह है कि यही सब रसों मे प्रधान और आदिम माना जाता है—प्रकृतिवादकार लिखते हैं—

शृगार—स० पु० आद्यरस—ईहाते रति स्थायीभाव—पृ० ९९२।

हिंदी शब्दसागर मे शृगार के विषय में यह लिखा गया है—

शृगार—स० पु० साहित्य के अनुसार नौ रसो में से एक रस जो सबसे अधिक प्रसिद्ध है, और प्रधान माना जाता है। . . . . . .
इसका स्थायीभाव रति है।. . . . . यही एक रस है जिसमें सचारी

विभाव, अनुभाव, सब भेदों सहित होता है, और इसी कारण इसे रस-राज कहते हैं। —पृ० ३३४५।

आचार्य केशवदास कहते हैं—

नवहू रस को भाव बहु तिनके भिन्न विचार।
सब को केसवदास कहि नायक है सिंगार।—रसिकप्रिया।

कविपुंगव देव कहते हैं—

भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार।—कुशलविलास।

कविवर पद्माकर कहते हैं—

नव रस में सिंगार रस सिरे कहत सब कोय।—जगद्विनोद।

भोजदेव अपने शृंगारप्रकाश नामक ग्रंथ में लिखते हैं—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यरौद्रबीभत्सवत्सलभयानकशांतनाम्न।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियं वदंति शृंगारमेव रसनाद्रसमामनाम॥

शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, रौद्र, वीभत्स, वत्सल, भयानक और शांत नामक दस रस बुद्धिमानों ने बतलाये हैं, किन्तु आस्वादन पर दृष्टि रखकर शृंगार ही रस माना जा सकता है।

प्रकृतिवादकार शृंगार को आद्य रस बतलाते हैं, कविपुंगव देव की सम्मति यह है कि सब रसों का मूल शृंगार है, अतएव लगभग दोनों का एक ही सिद्धांत है। मैंने भी रस निरूपण में अग्निपुराण के आधार से यह प्रतिपादित किया है कि आद्य रस शृंगार ही है, और सब रसों की उत्पत्ति इसी से हुई है, अतएव शृंगार रस का प्राधान्य स्पष्ट है। कामदेव को शृंगारयोनि और शृंगारजन्मा कहते हैं, इसलिये काम का उत्पादक शृंगार है, यह स्वीकार करना पड़ता है। साहित्यदर्पणकार की भी सम्मति यही है, पहले के पृष्ठों में इसकी चर्चा हो चुकी है। सृष्टि का सृजन काम पर ही अवलंबित है, ऐसी अवस्था में भी सब रसों में शृंगार को ही प्रधानता प्राप्त होती है।

मैंने स्थान विशेष मे काम और रति को शृंगार का जनक और जननी भी लिखा है। कारण, भरत मुनि का यह वाक्य है—

'तत्र शृंगारो' नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मक.।

'शृंगार' रति स्थायिभाव से उत्पन्न हुआ है, और उज्ज्वल वेषात्मक है।

जब शृंगार रति से उत्पन्न है, तो वह उसकी जननी हुई, और उसका पति कामदेव उसका जनक है—यह स्पष्ट है। किंतु इस स्थान-पर शृंगार से आद्य अथवा मूल शृंगार से नहीं, वरन् उस शृंगार से मतलब है, जिसको दम्पति का सम्मिलन अथवा स्त्री-पुरुष का सांसारिक सृजन सबधी कार्य कह सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं—

जग पि मातु महेस भवानी।
तेहि शृंगार न कहौं बखानी॥

यह शृंगार भी इतना व्यापक है कि प्राणियो क्या, पेड़ो और लता वेलियो मे भी उसकी उपस्थिति पाई जाती है। जनक ही जननी में पुत्र-रूप से उत्पन्न होता है, यह सभी जानता है, 'आत्मा वै जायते पुत्र'।

महाभारतकार भी यही लिखते हैं—

आत्मात्मनैव जनित. पुत्र इत्युच्यते बुधैः।
तस्माद्‌भार्यां नर पश्येन्मातृवत्पुत्रमातरम्॥

बुद्धिमानो का कथन है कि आत्मा ही पुत्र रूप मे उत्पन्न होती है, इसलिये नर को स्त्री को मातृ-रूप मे देखना चाहिये, क्योंकि पुत्र की माता वही है। ऐसी अवस्था में मूल शृंगार से इस शृंगार में विशेष अतर नहीं पाया जाता, फिर भी कुछ अतर अवश्य है। इसी अंतर पर दृष्टि रखकर काम को उसका जनक और रति को उसकी जननी माना जाता है। अस्तु।

हिंदी शब्दसागरकार कहते हैं कि इसी एक रस में सब सचारी-भाव विभावो एव अनुभावो सहित आते हैं, इसीलिये इसे रसराज

कहते हैं। मैं भी इस सिद्धांत को मानता हूँ, परंतु कुछ लोगों की सम्मति है कि सब संचारी भाव शृंगार रस में भी नहीं आते. साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिण:।

उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर सब व्यभिचारी अथवा संचारी भाव इसमें आते हैं।

महामुनि भरत लिखते हैं—

'व्यभिचारिणस्त्रासालस्यौग्र्यजुगुप्सा वर्जम्'।

व्यभिचारियों में त्रास, आलस्य, उग्रता, और जुगुप्सा शृंगार में नहीं आते।

साहित्यदर्पणकार ने त्रास नहीं रखा, उसके स्थान में मरण रखा है। शेष त्यज्य संचारी भावों के विषय में दोनों आचार्यों की एक सम्मति है।

मैं देखना चाहता हूँ कि जिन संचारी भावों को त्यज्य बतलाया गया है, साहित्यकार उनका प्रयोग शृंगार रस में करते हैं या नहीं। पहले तो यही देखिये कि जिस मरण संचारी को सर्वथा अमंगलमूलक माना है, जिसके विषय में साहित्यदर्पणकार यह लिखते हैं—

'रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते'।

'रस का विच्छेदक होने के कारण शृंगार रस का वर्णन नहीं किया जाता, वही मरण काम दशा की दश दशाओं में से एक है, क्योंकि अंतिम अवस्था वही है। फिर उसका वर्णन शृंगार में क्यों न होगा। यद्यपि वे लिखते हैं—

जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसा काङ्क्षितं तथा।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरत: ॥

"मरण तुल्य दशा का वर्णन कर देना चाहिये, और चित्त से

आकांक्षित मरण का भी वर्णन कर देना चाहिये। यदि फिर शीघ्र ही पुनर्जीवित होना हो तो मरण का भी वर्णन कर देते हैं"।

विशेष दशा मे ही सही, किंतु यदि मरण का वर्णन किया जाता है, तो शृंगार रस मे उसका वर्णन हो गया, फिर उसका त्याग कहाँ हुआ? चित्त से आकांक्षित मरण भी मरण दशा का वर्णन ही है, चाहे उसमें अधिक रस-विच्छेद भले ही न होता हो। भारतेंदुजी के निम्न-लिखित पद्य मे इसी भाव की व्यंजना है, परंतु है मरण का ही वर्णन—

एहो प्रानप्यारे बिन दरस तिहारे भये,
मुये हूँ पै आँखे ए खुली ही रह जायँगी॥'

कुछ लोगो की यह सम्मत्ति है कि यदि यह बात सत्य है कि वियोग-जनित पीडाधिक्य मरण का कारण भी होता है, तो उसका वर्णन क्यों न किया जावे। वियोग की वास्तविक अंतिम दशा पर दृष्टि रखकर ही आचार्यों ने मरण को काम की दश दशा में स्थान दिया है, फिर उसकी उपेक्षा क्यों? कविवर विहारीलाल ऐसे ही विचारवालो मे ज्ञात होते हैं। उन्होंने निम्नलिखित पद्य मे मरण का वर्णन किया है—

कहा कहौं वाकी दसा हरि प्रानन के ईस।
विरह ज्वाल जरिबो लखे मरिबो भयो असीस॥

फारसी के कवि और उन्हीं की देखा-देखी उर्दू के कवि मरण दशा का वर्णन बडे जोश-खरोश के साथ करते हैं। मरण समय की समस्त वेदनाओ, उस काल की आदर्शनीय यंत्रणाओ, पीड़ाओ और वीभत्सकाण्डो का मजे ले लेकर कहते हैं। कब्र मे की आरजूओ और तमन्नाओं को दिल खोलकर सामने रखते हैं। कतल के वक्त के तमाम नजारो को इस तरह कलमबंद करते हैं कि उस समय का दृश्य आँखो के सामने आ जाता है, फिर भी अमंगल कामना उनके हृदय में घर नही करती—इसको विचार-विभिन्नता छोड़ और क्या कहें। कुछ उनकी तर्वायतदारी देखते चलिये—

लाश पर इबरत यह कहती है 'अमीर'
आये थे दुनिया में इस दिन के लिये ॥
करीबे कब्र हम आये कहाँ-कहाँ फिर कर ।
तमाम उम्र हुई जब तो अपना घर देखा ॥
खुशी न हो मुझे क्योंकर कजा के आने की ।
खबर है लाश पर उस बेवफा के आने की ॥
लगी ठोकर जो पाये दिलरुबा की ।
महीनों तक मेरी तुरबत हिला की ॥
कहते हैं आज 'जौक' जहाँ से गुजर गया ॥
क्या खूब आदमी था खुदा मगफरत करे ॥

प्रयोजन यह कि किसी प्रकार हो, परंतु मरण दशा का वर्णन शृंगार रस मे होना है। शृंगार रस के स्तंभ, रोमांच, स्वरभंग, कंप और वैवर्ण्य का भय अथवा त्रास भी हेतु होता है। प्रायः आलस्य ही जृंभा का कारण होता है, ये सब सात्विक भाव हैं। विब्बोक हाव शृंगार के ही अंतर्गत हैं, इसमे जुगुप्सा और उग्रता दोनो संचारी भाव पाये जाते है, इसके अतिरिक्त प्रौढ़ा अधीरा और मानिनी नायिकाओं के हृदय मे भी अनेक अवसरो पर दोनो संचारी भाव बड़े उग्र रूप मे प्रकट होते हैं—कुछ प्रमाण लीजिये—

"नख ते सिख लौ पट नील लपेटे लली सब भाँति कँपै डरपै।
मनो दामिनि सावन के घन मे निकसै नहीं भीतर ही तरपै।"
भई भीति वस, प्रीति बस, किधौं भयो पवि पात।
उर धरकत, थरथर कँपत, कत तिय तेरो गात ॥
दर दर दौरति मदन दुति सम सुगंध सरसाति।
सेज परी आलस भरी तोरति अंग जम्हाति ॥
'जैहैं न भूखन काहू तिया को तो मोल छला के लला न बिकैहैं।
'फूल छवीले छुओगे जो माहि ता गात मे नेरे गुराई न रैहैं।'

रहे देखि दृग हैं कहाँ ? तोहि न लाज की छूत।
मैं वेटी वृषभानु की, तू अहीर को पूत॥
कत मो ढिग आवत रहत बकत कहा बेकाज।
तो पै कहा परी न जो गिरी लाज पै गाज॥

ऐसी दशा में यह स्वीकार करना पड़ता है कि जो वर्जित सचारी भाव हैं, प्रयोजनवश वे भी उसमें गृहीत होते हैं, फिर यह क्यों न माना जाय कि इस रस में सब सचारी भाव आते हैं,। वास्तविक बात तो यह है कि जीवन-संबंधी घटनाओं का जितना अधिक सबध शृंगार से है, अन्य रसों से नहीं। दाम्पत्य-जीवन में घटना सूत्र से जितनी मानसिक वृत्तियों का विकास एव विविध नायिकाओं के आधार से जितने भावों का आविर्भाव शृंगार रस में होता है, अन्य रसों में हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्राय नूतन घटनाएँ उनमें संघटित नहीं होतीं, इसलिये उनमें समस्त संचारी भाव आ ही नहीं सकते। और रसों से शृंगार रस की यह बहुत बड़ी विशेषता है, इसलिये उसे रस-राज माना जाता है। यह भी उसकी प्रधानता की ही दलील है।

शृंगार रस के ग्रंथो में जहाँ रसो का वर्णन किया गया है, वहाँ सब रसों के सचारी भावों का निर्देश मिलता है। शृंगार रस को छोडकर शेष आठ रसों में प्रत्येक में आधे से भी कम सचारी भाव आते हैं, किसी-किसी मे तो चार-पाँच ही। इसीलिये भोजदेव कहते हैं कि रसन शक्ति जैसी शृंगार रस में है और जैसा आस्वादित वह होता है अन्य रस नहीं। मैं पहले वतला आया हूँ कि संसार के प्राणि-मात्र इस रस के रसिक हैं। क्योंकि जैसी ही इसकी विस्तृत व्यापकता है, वैसा ही विस्तृत इसका आस्वादन है। शांत रस का स्वाद पशु-पची, कीट-पतग को क्या मिलेगा। हास्य मनुष्य को छोड़कर ससार के किसी प्राणी में नही मिलता। विश्व का वैचित्र्य विस्मयमूलक है, यह निश्चय ही अद्‌भुत रस का जनक है। उस विस्मयका वोध पशु-पची आदि को नहीं

होता, क्योंकि इसका लक्षण उनमें नहीं देखा जाता। प्रातःकाल की विलक्षणता पक्षियों को विमुग्ध नहीं करती, वरन उसका सौंदर्य्य। इसी प्रकार मयूर मेघ की छटा और पिक कुसुमाकर का विकाश अवलोकन कर मत्त होता है, उनका वैचित्र्य देखकर नहीं। मल-मूत्र अथवा निंदनीय पदार्थ देखकर घृणा करना मनुष्य की प्रकृति है, अन्य प्राणियों में यह अनुभव शक्ति नहीं होती, इसलिये बीभत्स रस के पात्र भी वे नहीं होते। पक्षियों में स्वच्छ रहने की प्रकृति देखी जाती है, किसी किसी पशु में भी, किंतु इसका हेतु मल से घृणा नहीं, सौंदर्य्य-प्रियता है, जिसका आधार शृंगार है। पशु पक्षियों में, कई एक जलचर जन्तुओं में शोक की मात्रा पाई जाती है, शोक करुण रस का स्थायीभाव है, अतएव इन सबों में करुण रस का अभाव नहीं माना जा सकता, परन्तु मनुष्य जाति में यह रस जिस परिष्कृत और व्यापक रूप में है, जैसा आस्वादन इस रस का वह करता है, अन्य नहीं। वीर और रौद्र रस के विषय में भी यही बात कही जा सकती है, जिनके स्थायीभाव उत्साह और क्रोध हैं। चींटी भी दबने पर काटती है, और उत्साह की तो वह मूर्ति होती है, परंतु उनके क्रोध में क्षमा को स्थान नहीं और न उनके उत्साह में परहित-परायणता है, अतएव इन दोनों रसों का आस्वादन भी जितना मनुष्य करता है, अन्य प्राणी नहीं: परन्तु प्रश्न यह है कि विशेषता लाभ करने पर भी क्या मानव करुण, रौद्र एवं वीर का उतना ही आस्वादन करता है, जितना शृंगार रस का? यदि नहीं तो अन्य प्राणियों का जीवन शृंगार-रस-सर्वस्व क्यों न होगा। हाँ, भय ही एक ऐसा रस है जिसका आस्वादन प्राणिमात्र को समान भाव से होता है। कहा भी है, 'आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्' परन्तु जैसा सहचर शृंगार रस है, भय नहीं। भय कभी होता है, कभी नहीं। उसका विकराल मुख मंडल सदा नहीं डराता रहता, परन्तु शृंगार रस में सौंदर्य्य का विकास कब नहीं लुभाता। यह बात समस्त प्राणियों के विषय में कही जा सकती है।

जब इन बातों पर दृष्टि दी जाती है, तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि वास्तव में जितना व्यापक, उदात्त एवं सर्वदेशी, शृंगार रस का आस्वादन है, अन्य रसो का नही। यह भी उसकी प्रधानता का असाधारण प्रमाण है। फिर भी कुछ बाते ऐसी हैं, जिनपर और विचार होना आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार के पितामह यह कहते है—

रसे सारश्चमत्कार सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सवत्राप्यद्भुतोरस ॥
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥

उत्तर रामचरित्रकार यह लिखते है—

एको रस. करुण निमित्तभेदाद्भिन्न पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुद्तरगमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥

इसी प्रकार कोई हास्य को प्रधानता देता है, और कोई शात को। एक विद्वान् ने भक्ति को रस मान कर उसी को सब मे प्रधान बतलाया है।

सब रसों मे चमत्कार साररूप से प्रतीत होता है, इसलिये सर्वत्र अद्भुत रस पाया जाता है, इस सिद्धात पर दृष्टि रखकर पडितप्रवर नारायण एक अद्भुत रस को ही स्वीकार करते हैं। प्रत्येक रस जब पूर्ण विकसित अवस्था में होता है, तभी उसकी रस सज्ञा सार्थक होती है। यदि करुण रस विकास-प्राप्त है, तो अवश्य शोक स्थायी भाव प्रबल होगा, ऐसी दशा मे यदि चमत्कार के आधार विस्मय ने आकर उसको दबा दिया तो करुण का स्थान अद्भुत ने ग्रहण कर लिया, उसको रसत्व प्राप्त ही नही हुआ, फिर उसकी सत्ता कैसे लोप हुई। दूसरी बात यह कि यदि पूर्णता प्राप्त करुणरस मे चमत्कार का भी प्रवेश हो गया, तो विस्मय के आधार से अद्भुत रस उसका सहकारी मात्र होगा, इसलिये उसका स्थायी भाव, सचारी बन जावेगा, तब उसको रसत्व प्राप्त ही न होगा, फिर वह प्रधान कैसे बन बैठेगा। ऐसी दशा मे पडित जी का कथन युक्ति सगत नही। आशा है, यह बात समझ मे आ गई होगी। इस विषय में

श्रीमान् पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'काव्य में रहस्यवाद' नामक ग्रंथ के पृष्ठ ६७ में जो लिखा है, वह नीचे उद्धृत किया जाता है; उससे भी मेरे कथन की पुष्टि होती है।

"पण्डितजी (नारायण पाण्डत) ने इस बात पर ध्यान न दिया कि रस के भेद प्रस्तुत वस्तु या भाव के विचार से किये गये हैं, अप्रस्तुत या साधन के विचार से नहीं। शृंगार रस की किसी उक्ति में उनके शब्द-विन्यास आदि में जो विचित्रता होगी, वह वर्णनप्रणाली की विचित्रता होगी, प्रस्तुत वस्तु या भाव की नहीं। अद्भुत रस के लिये स्वतः आलंबन विचित्र अथवा आश्चर्यजनक होना चाहिये। शृंगार का वर्णन कौतुकी कवि लोग कभी कभी वीर रस की सामग्री अलंकार रूप में रख किया करते हैं। क्या ऐसे स्थानों पर शृंगार रस न मानकर वीर रस मानना चाहिये ?

करुण रस के विषय में उत्तररामचरितकार ने जो लिखा है, उसके प्रतिपादन में उन्होंने कोई युक्ति नहीं दी। वे केवल इतना ही कहते हैं।

'एक करुण रस ही निमित्त भेद से भिन्न होकर पृथक्-पृथक् परिणामों को ग्रहण करता है, जल के आवर्त्त, बुद्बुद, तरंगादि जितने विकार हैं, वे समस्त सलिल ही होते हैं।'

करुण रस का स्थायी भाव शोक है, शोक उसी के विषय में होता है, जिससे रति अर्थात् प्रीति है। प्रीति के अभाव में शोक हृदय में स्थान पा नहीं सकता। जब हम किसी प्राणी को कष्ट में देखते हैं, अथवा उसको विपन्न पाते हैं, तो हमारे हृदय में शोक का आविर्भाव इसीलिये होता है, कि उसमें हमारी ममता होती है। ममता ही प्रेम, प्रीति अथवा स्नेह की जननी है। यही प्रीति जब द्रवणशीला होती है, तब दया कहलाती है; करुणा अधिकतर दयावलम्बिनी होती है, इसलिये यह मानना पड़ेगा कि प्रीति के अभाव में करुणा का जन्म ही न होगा, फिर उसका विकार प्रीति कैसे होगी ? यदि कहा जावे कि प्राणी होने के

नाते प्राणियों मे स्वाभाविक आत्मीयता हो सकती है, किंतु अनेक अवसरों पर वेलि, लता, पुष्पादि की दशा पर क्यों करुणा होती है ? तो इसका उत्तर यह है कि मनुष्य ने उन्हीं में से होकर मानव-जीवन लाभ किया है, अतएव उनके साथ भी उसकी स्वाभाविक ममता होती है। प्राणि-शास्त्र-विशारद आज इस बात को मुक्त कंठ से स्वीकार करते हैं। दूसरी बात यह है कि वनस्पतियो से मनुष्य जाति का बड़ा उपकार होता है, वे उसके चिर सहचर हैं, उनका प्रत्येक अंश उसके काम आता है। उनके पत्र पुष्प ससार सौंदर्य्य के सर्वस्व हैं, उनकी हरियाली लोकलोचन विभूति है, ऐसी दशा मे मनुष्य जाति का उनसे स्नेह होना स्वभावसिद्ध है।

फिर उनको म्लान और विपन्न देखकर उसका हृदय सकरुण हो तो क्या आश्चर्य ! रति से करुण रस की उत्पत्ति मैं पहले भी सिद्ध कर चुका हूँ। इसलिये शृंगार रस की उत्पत्ति करुण रस से किसी प्रकार स्वीकृत नहीं हो सकती। अन्य रसो के बारे में भी ऐसी बातें कही जा सकती हैं, परन्तु यह प्रस्तुत विषय नहीं है, इसलिये छोड़ता हूँ।

हास्य रस के विषय मे मैं पहले लिख आया हूँ कि वह मनुष्य तक परिमित है, इसलिये न तो वह शृगार रस के इतना व्यापक है और न उसके इतना आस्वादित होता है, उसमें सृजन शक्ति भी नहीं है, अतएव वह अपूर्ण और गौणभूत है। यदि शृगार रस जीवन है तो वह है आनंद, यदि वह प्रसून है तो यह है विकास, जिससे दोनो में आधार आधेय का सवंध पाया जाता है, आधेय से आधार का प्रधान होना स्पष्ट है। किसी-किसी का यह तर्क है कि शृगार रस यौवन तक परिमित है, परंतु हास्य रस समान भाव से वाल्यावस्था, यौवन और वृद्धावस्था तीनो में उदित रहता है, इसलिये शृगार पर उसकी प्रधानता क्यो न मानी जावे। इस विचार में एक देश-दर्शन है, क्योंकि शृगार का एकदेशी रूप सामने रखा गया है। तर्ककर्त्ता ने सर्वदेशी शृंगार रस के व्यापक रूप पर दृष्टि डाली ही नहीं। यदि उसके

उद्दीपन विभावों को ही सामने रखा जाता तो ऐसी बात न कही जाती। क्या मलयानिल युवकों को ही मुग्ध बनाता है, बाल-वृद्ध को नहीं? क्या हँसता हुआ मयंक, रस बरसते हुए घन, पुष्प-संभार-विलसित वसंत, पपीहे की पिहक, कोकिल की काकली और मयूर का नर्त्तन, बालक और वृद्ध को आनंद निमग्न करने की सामग्री नहीं है? क्या ललनागण का सौंदर्य्य वृद्धजनों को विमुग्ध नहीं बनाता, क्या उनका मधुरालाप, उनका मनोहर कंठ और उनका स्वर्गीय गान; उनकी सूखी धमनियों में रक्त का संचार नहीं करता? क्या बालिकाओं के भोले-भाले रूप का बालकों पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता? क्या वे उनकी ललित लीलाओं पर मोहित नहीं होते? फिर इस प्रकार की अनर्गल बातों का क्या अर्थ? किसी-किसी का यह कथन भी है कि जीवन सुख-दुःख पर ही अवलंबित है, दुःख का रोदन और सुख का हास संबल है। इसलिये जीवन का संबंध जितना करुण रस और हास्य से है, अन्य किसी रस से नहीं। किंतु शृंगार के अस्तित्व में आये बिना दुःख-सुख की कल्पना हो ही नहीं सकती; अग्निपुराण के आधार से यह बात प्रतिपादित हो चुकी है और किस प्रकार शृंगार से हास्य रस और करुण रस की उत्पत्ति होती है, यह भी बतलाया जा चुका है। फिर इस प्रकार की आपत्तियाँ कहाँ तक संगत हैं। मेरा विचार है जिस पहलू से विचार किया जावेगा, शृंगार पर हास्य को प्रधानता न मिल सकेगी।

शांत रस की कल्पना त्याग और विरागमय है। मनुष्य को छोड़कर अन्य प्राणियों में इस भाव का अभाव है। मनुष्यों में भी इने-गिने लोगों में ही इसका यथार्थ विकास देखा जाता है। अंतर्जगत से इसका जितना संबंध है, उतना बाह्य जगत से नहीं। संसार क्षेत्र में जितना कार्य्य शृंगार का है, शांत का नहीं। इसीलिये महात्मा भरत ने इसकी गणना रसों में नहीं की, उन्होंने आठ रस ही माने हैं। बाद के आचार्य्यों ने इसकी गणना रसों में की है, किंतु किसी ने इसको सर्व-

प्रधान रस बनाने की चेष्टा अबतक नही की, इसलिये मैं भी इस बात को नहीं उठाना चाहता। अब रहे वीर, रौद्र, भयानक और बीभत्स। बीभत्स और भयानक 'यथा नामस्तथा गुण' है, उनकी चर्चा ही क्या? पहले मैं यह लिख भी आया हू कि इनसे शृंगार मे क्या विशेषता है, इसलिये इनको छोडता हू। वीर और रौद्र रस प्रधान रसों मे हैं। वीर का स्थायी भाव उत्साह और रौद्र का क्रोध है। प्राणी मात्र के जीवन के लिये दोनो की बडी आवश्यकता है। क्रोध के अभाव मे आत्मसरक्षण नहीं हो सकता और उत्साह के अभाव मे जीवन यात्रा का यथार्थ निर्वाह नही हो पाता। वीर भाव जीवन को जाग्रत् और रौद्र भाव उसको सतर्क रखता है। ससार-कार्य्य-क्षेत्र उत्साह से हरा-भरा है और क्रोध से सुरक्षित। ससार की शांति वीरता का मुख देख जीती है और विश्व के दुर्जन, क्रोध की लाल आँखे देख कपित होते हैं। वीर के गले के विजय हार से वसुधरा सुगधित है और रौद्र के रक्त रंजित तलवार से दानवी कदाचार कुठित। उत्साह हो चाहे क्रोध, वीर रस हो चाहे रौद्र रस, उनके जो सदेश अथवा लोकोपकारक भाव हैं, उनमे जो पवित्रता, उत्तमता, उज्ज्वलता और दर्शनीयता हैं वे सब शृंगार समर्पित विभूतियाँ है। शृंगार द्वारा ही वे उन्हें प्राप्त हुई हैं, क्योंकि 'यत्किञ्चिल्लोके शुचिमध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृंगारेणोपमीयते।' ऐसी अवस्था में शृंगार ही उनका शृंगारक और उस हेतु का मूल है, जिसके लिये मगलमय विश्व मे उनकी सृष्टि हुई। अतएव इन दोनो रसो को भी शृंगार से प्रधानता नहीं मिल सकती।

किसी-किसी ने वात्सल्य रस को दसवाँ रस माना है और कुछ लोगो ने भक्ति को रस मे परिगणित करने की चेष्टा की है। इतना ही नहीं, इनको सर्वप्रधान भी कहा गया है। वात्सल्य रस शीर्षक एक बहुत बड़ा लेख आगे आप लोगो को मिलेगा। मैंने उसमे इन दोनो के रसत्व के विषय मे बहुत कुछ लिखा है, परतु इनको रसों मे स्थान नहीं दे

सका। कारण इसका यह है कि वत्सलता एवं भक्ति रति का ही एक रूप है। मा का संतान विषयिणी रति वत्सलता है और भक्तों की ईश्वर विषयिणी रति भक्ति। इसलिये इनमें परस्पर ऐसी भिन्नता नहीं कि इनको अलग एक रस माना जावे। ज्ञात होता है प्राचीन बड़े-बड़े आचार्यों ने भी यही विचार कर वत्सलता और भक्ति को अलग रस नहीं माना। रति की व्यापकता कितनी है, मैं भली-भाँति इसका प्रतिपादन कर चुका हूँ, ऐसी अवस्था में भक्ति का अथवा वात्सल्य रस का उसमें अंतर्भाव होना असंगत नहीं। जन साधारण अथवा मानव की प्रीति ही यथा काल व्यापक होकर ईश्वरीय प्रेम अथवा भक्ति में परिणत होती है, यह भी एक अनुभूत सिद्धांत है। इससे भी भक्ति और रति की एकता ही निश्चित होती है, मात्रा में भले ही कुछ अंतर हो। इस सिद्धांत पर उपनीत होने पर उस विवाद का निराकरण हो जाता है, जो वात्सल्य और भक्ति को अलग रस मानने में उत्पन्न होता है। क्योंकि जब वे शृंगार के ही अंगभूत हैं तो फिर उनमें परस्पर प्रधान और अप्रधान होने का तर्क कैसा? एक प्रकार से और इस विषय को देखिये। देव विषयिणी रति को आचार्यों ने भाव माना है, इसलिये ईश्वर विषयक रति भी भाव है, पुत्र-प्रेम को भी भाव ही कहा गया है—काव्यप्रकाशकार कहते हैं—

'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः
आदिशब्दान्मुनिगुरुनृपपुत्रादिविषया ॥"

काव्यप्रकाश के टीकाकार लिखते हैं—"अनुभावादिभिरपुष्टयाश्च न रसत्वं किंतु भावत्वमेवेति भावः।" अनुभावादि से जो अपुष्ट होते हैं उन का रसत्व नहीं प्राप्त होता, वे भाव ही रहते हैं। ऐसी दशा में भाव से रस का स्थान ऊँचा हुआ। यदि देव एवं पुत्र रति की गणना भाव ही में है, जैसा कि ऊपर के वाक्यों में सिद्ध होता है, तो भी शृंगार रस को वात्सल्य भाव और भक्ति (देव रति) पर प्रधानता ही मिलती है।

अब तक जो कुछ कहा गया उससे शृंगार रस की प्रधानता ही प्रतिपादित हुई, और यही इष्ट था।

शृंगार रस का साहित्य

'सहितस्य भाव साहित्यम्' जिसमे सहित का भाव हो, उसको साहित्य कहते है। इस सहित की व्याख्या क्या है? उसे 'हिंदी शब्दसागर' के निम्नलिखित अवतरण मे देखिये—

साहित्य—सज्ञा पु० (संस्कृत) (१) एकत्र होना, मिलना, मिलन। (२) वाक्य मे पदो का एक प्रकार का सबध जिसमे वे परस्पर अपेक्षित होते है और उनका एक ही क्रिया से अन्वय होता है। (३) किसी एक स्थान पर एकत्र किये हुए मिलित उपदेश, परामर्श या विचार आदि। लिपिबद्ध विचार या ज्ञान। (४) गद्य और पद्य सब प्रकार के उन ग्रथो का समूह जिनमे सार्वजनीक मानव भाव बुद्धिमत्ता तथा व्यापकता से प्रकट किये गये हो।—पृ० २५२६

प्रकृतिवाद मे साहित्य शब्द का यह अर्थ लिखा है—

साहित्य—(सहित + य—भावे इत्यादि) स० क्वी० ससर्ग, मिलन। शब्द शास्त्र, काव्य शास्त्र, सबध विशेष, एकक्रियान्वयित्व।

शब्द-विवेककार कहते है—

परस्पर सापेक्षाणां तुल्यरूपाणां युगपदेकक्रियान्वयित्व साहित्यम्।

शब्द-शक्तिप्रकाशिकाकार कहते हैं—

तुल्यवदेकक्रियान्वयित्व बुद्धिविशेषविषयित्व वा साहित्यम्।

शब्दकल्पद्रुमकार कहते है—

मनुष्यकृत श्लोकमयग्रन्थविशेष साहित्यम्।

कवींद्र रवींद्र क्या कहते हैं, उसे भी सुनियें—

'साहित्य का विषय मानव हृदय एव मानव चरित्र हैं।

'मानवचरित्र ही नहीं। वस्तुत वहि प्रकृति और मानवचरित्र

वर्णन और विश्लेषण हो। कवींद्र रवींद्र की उक्ति का मर्म, व हिंदी-शब्दसागर के कथन का निचोड़ यही है।

जब मैं सस्कृत भाषा के साहित्य ग्रथों को उठाकर देखता हूँ, महाभारत से महान और विशालकाय एव वाल्मीकि रामायण से मधुर और सरस ग्रथो को अवलोकन करता हूँ, कविपुगव कालिदासादि के काव्य-ग्रथों, महा विद्वान् मम्मट आदि के रस अलकारादि संबधी रीति ग्रथों, पर दृष्टिपात करता हूँ, पुराणों और आख्यान पुस्तकों को पढ़ता हू, तो सब मे शृगार रस की धारा प्रखर वेग से बहती मिलती है और सबों में ही वह ओत-प्रोत पाया जाता है। कारण इसका यह है कि सासारिक जीवन शृगार सर्वस्व है। सांसारिकता का आधार गार्हस्थ्य जीवन है, गार्हस्थ्य जीवन पुत्र-कलत्रावलवित है, पुत्र-कलत्र मूर्तिमत शृगार हैं, अतएव सासारिकता का सबल शृगार है। विश्व के जितने आहार-विहार उपादेय हैं, जितने हास-विलास वाछनीय हैं, जितने केलिकलाप कमनीय हैं, जितनी लीलाएँ लोक-प्रिय एव ललित हैं, जितने आचार-विचार और व्यवहार प्रशसनीय हैं, उनमें से अधिकांश शृगार रस के अतर्गत हैं, इसीलिये उक्त समस्त ग्रथों में उसका ही पूर्ण प्रसार देखा जाता है। कवींद्र रवींद्रनाथ एक स्थान पर कवि और महाकवि पर विचार करते हुए अपने प्राचीन साहित्य नामक ग्रथ (पृ० १–२) मे यह लिखते हैं—

"काव्य को दो भागों मे बॉटा जा सकता है, किसी काव्य मे अकेले कवि की बाते होती हैं और किसी काव्य मे बृहत् सम्प्रदाय का इतिवृत्त। अकेले कवि की बाते कहने का यह भाव नहीं कि वह अन्य लोगो के लिये ज्ञेय नहीं। यदि ऐसा होता, तो उसे पागलपन कहा जाता। उसका यह अर्थ है कि कवि मे ऐसी क्षमता है कि जिसके भीतर से उसके सुख-दुःख, उसकी कल्पना और उसके जीवन की अभिज्ञता के सहारे,

विश्वमानव का चिरन्तन हृदयावेग और जीवन-संबंधी मर्म-कथा अपने आप प्रकट हो उठती है।

'जैसे एक प्रकार के कवि हैं, वैसे ही दूसरे प्रकार के वे कवि हैं, जिनकी रचना के भीतर से समग्र देश, समग्र युग, अपने हृदय की अभिज्ञता को प्रकट करके उसको मानव जाति की चिरकालिक सामग्री बना देता है।

'इन दूसरे प्रकार के कवि को महाकवि कहा जाता है। समग्र देश और समग्र जातियों की सरस्वती इसका सहारा ग्रहण कर सकती है। ये लोग जो रचना करते हैं उनको किसी व्यक्ति विशेष की रचना नहीं कही जा सकती। ज्ञात होता है मानों वह किसी विशाल वृक्ष के समान देश के भूतल जठर से उत्पन्न होकर उसी देश को ही आश्रयच्छाया प्रदान करते हैं। शकुन्तला और कुमार-संभव में विशेष भाव से कालिदास की निपुण लेखनी का परिचय मिलता है। किन्तु रामायण और महाभारत के विषय में यह ज्ञात होता है कि पुण्यसलिला भगवती भागीरथी और अचल हिमाचल के समान वे भारत की ही सम्पत्ति हैं—व्यास एवं वाल्मीकि उपलक्षण मात्र हैं।"

कविवर रवीन्द्रनाथ ने जो कवि और महाकवि की विशेषता बतलाई है, उससे आपको उन लोगों का महत्त्व भलि-भाँति अवगत हो गया होगा, जो संस्कृत-साहित्य के कर्त्ता हैं। कवि होना ही दुस्तर है, महाकवि होना तो 'नाल्पतपसः फलम्' है। ऐसे वन्दनीय कवियों और महाकवियों की रचनाओं में भी जो शृंगार रस का आधिक्य है, उसका क्या कारण? जो पुण्यश्लोक हैं, आर्य आदर्श के स्तंभ हैं, इस तमसाच्छन्न काल में भी जो आलोक विकीर्ण कर हमको पथ-भ्रांत नहीं होने देते, क्या उन्होंने बहककर ऐसा किया है? ऐसी कल्पना तो स्वप्न में भी नहीं हो सकती। वास्तविक बात यह है कि शृंगार रस की प्रधानता, व्यापकता, उज्ज्वलता और दर्शनीयता ही उसको इस उच्च पद पर

आरूढ़ करती आई है। संस्कृत साहित्य ही नहीं, संसार के साहित्य को भी हाथ में उठाकर यदि आप देखेंगे तो उसमें भी शृंगार रस इसी पद पर आरूढ़ मिलेगा। ऐसी अवस्था में यदि हिंदी-साहित्य में शृंगार रस कुछ अधिक मात्रा में है तो आश्चर्य्य क्या ! जिस स्वाभाविकता सूत्र में संसार की भाषाएँ बंधी हुई हैं, उसे वह छिन्न कैसे करता।

सब काल का आदर्श समान नहीं होता। आदर्श के अनुसार रुचि बदलती है और रुचि के अनुसार, साहित्य में भी परिवर्तन होता है। साहित्य अपने समय का दर्पण होता है, जिस काल में उसकी रचना होती है, उस काल का अधिकांश चित्र उसमे यथातथ्य प्रतिबिंबित रहता है। किसी साहित्य की आलोचना करने के पहले, जिस काल का परिणाम वह साहित्य है, उसपर दृष्टि रखना आवश्यक है। एक काल में भी विभिन्न विचार के लोग होते हैं, किंतु जो तत्व समाज द्वारा गृहीत हो जाता है, उस समय का आदर्श वही होता है। काल पाकर वह आदर्श उपयोगी न रहे, परंतु अपने समय मे भी वह उपयोगी नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। विधवा-विवाह आर्य जाति मे कभी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा गया, विधवाओं के ब्रह्मचर्य्य पालन और आत्म-संयम को ही प्रशंसा की गई है, और उनके त्याग का ही गुण-गान किया गया है। आज इस विचार की कुत्सा की जा रही है और विधवा-विवाह को ही उपकारक माना जा रहा है। विधवा-विवाह प्रचलित भी हो रहा है। किंतु जिस समय विधवा-विवाह को अनुचित ठहराया गया, उस समय वैसा करना ही समुचित नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। साहित्य प्रायः सत्पथ पर चलने की ही चेष्टा करता है, यह दूसरी बात है कि काल पाकर वह पथ अच्छा न समझा जावे। यह साधारण सिद्धांत है, अपवाद की बात और है।

संस्कृत-साहित्य का एक काल ऐसा है, जिसमें साहित्य के प्रत्येक अंग का सूक्ष्म विवेचन किया गया है और उसके विशेष अंशों पर गहरी

दृष्टि डाली गई है। यह कार्य बड़े त्याग और परिश्रम से किया गया और उसमे इतनी सफलता प्राप्त की गई कि उसको देखकर आज भी पाश्चात्य विद्वान् चकित होते है। इस महान् उद्योग मे न तो स्वार्थ की गन्ध है, न वासनाओ की बास। उसमें समाज और देश की वरन् लोक का हितकामना ही निहित है, उसके द्वारा अपनी विद्या एवं कला की भी चरमोन्नति की गई है। रस-सबधी गहन विचार भी ऐसा ही कार्य है। शृंगार रस सब रसो मे प्रधानता रखता है, इसलिये उसके प्रत्येक अग पर साहित्य ग्रंथो मे बड़ा सूक्ष्म विवेचन है। उसका नायिका विभेद-विभाग कला की दृष्टि से अपूर्व तो है ही, उपयोगिता भी उसमे कम नही है। साहित्य के जितने उद्देश मैं ऊपर उद्धृत कर आया हूँ वे सब उसमे पाये जाते हैं। उसके कुछ अश असामयिक समझे जा सकते हैं, परंतु वास्तव मे वे असामयिक है या नही, इसपर विचार करना होगा और विचार करते समय उस काल पर भी दृष्टि रखना होगा, जिस समय उनकी रचना हुई। इतना ही नहीं, उनको सामने रखकर वर्त्तमान प्रगति पर भी दृष्टि डालनी होगी और मिलान करके देखना होगा, कि वाछनीय कौन है। ऐसा मैं आगे चलकर करूंगा; इस समय मै यह विचारूंगा कि संस्कृत-साहित्य मे नायिका-विभेद की कल्पना कब हुई संस्कृत-साहित्यकारो ने उसको किस रूप मे ग्रहण किया और फिर वह कैसे पल्लवित हुआ?

संस्कृत-साहित्य और नायिका-भेद

समाज-नियमन सुगम नहीं। मनोवृत्तियाँ बड़ी प्रबल होती हैं, उनमे अतर्दृष्टि नहीं होती, अथवा वे आवरित होती है। अपना स्वार्थ उनको जितना प्यारा होता है, परमार्थ नहीं। उनकी उच्छृङ्खलता अन्यो की परतंत्रता अथवा स्वतन्त्रता पर दृष्टिपात नहीं करती। उनकी कामुकता इतनी अधी होती है कि दूसरो की मानमर्यादा को देखती ही नही। फिर समाज कैसे चले? यदि सब मनमानी ही करता रहे, तो समाज

मे नित्य विप्लव ही होता रहेगा, शाति रहेगी ही नहीं, फिर सुव्यवस्था कैसे होगी ? यदि सुव्यवस्था न होगी तो समस्त कार्यकलाप विशृङ्खल हो जावेंगे, जिसका परिणाम समाज और देश का विनाश होगा। इसी लिये देशकालज्ञ विबुधों ने ऐसे नियम बना रखे हैं, या ऐसे नियम यथाकाल बनाते रहते हैं, जिनके पालन से सर्व देश सुरक्षित रहता है और समाज अथवा मानव समूह का उन्नति-स्रोत बंद नहीं होता। नियम बनाना उतना कठिन नहीं, जितना उसका पालन करना। भिन्न-भिन्न रुचि और नाना प्रकार की प्रकृति होने के कारण जब तक नियमों मे सामञ्जस्य नहीं होता, तब तक उनका यथारीति न तो पालन होता है, न समाज सुव्यवस्था सूत्र मे बध सकता है। सामञ्जस्य स्थापन के लिये रुचि और प्रकृति का यथार्थ ज्ञान आवश्यक है। समाज दो भागों में विभक्त है, स्त्री और पुरुष उसके विभाग हैं। स्त्री और पुरुषों के स्वभाव में स्वाभाविक बहुत बडी बडी भिन्नताएँ हैं। इसलिये समाज की सुव्यवस्था के लिये एक को दूसरे की रुचि और प्रकृति का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। इसी प्रकार पुरुष का पुरुष के और स्त्री का स्त्री के भावो एव विचारों से अभिज्ञ होना वाञ्छनीय है। जहाँ प्रकृति नहीं मिलती, स्वभाव का पूरा परिज्ञान नहीं होता, वहाँ पद-पद पर पतन होता है, और सफलता दूर भागती है। किंतु जहाँ मनोविज्ञान पर दृष्टि रखकर कार्य सचालन किया जाता है, वहाँ स्खलन कदाचित् ही होता है, क्योंकि रुचि देखकर और स्वभाव पहचानकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने से असफलता प्राय सामने आती ही नहीं। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये अनेक साधनो की सृष्टि हुई है। सैकडों ग्रथ लिखे गये हैं, बहुत-सी कवितायें रची गई हैं, और नाना प्रकार की शिक्षाओं का आयोजन नाना सूत्रों से किया गया है। नाट्य-शास्त्र की रचना भी इसी उद्देश्य से हुई है, क्योंकि नाटकों के द्वारा मानसिक भावो का प्रत्यक्ष दर्शन कराकर जितना मानवी प्रकृति एव रुचि का परिज्ञान कराया जा

सकता है, अन्य साधनों द्वारा नहीं। नाटकों से मनोरंजन तो होता ही है, मानवी विचारों का सूक्ष्म-से सूक्ष्म अंश भी सामने आ जाता है। मेरा विचार है सबसे पहले संसार मे इस बात को महामुनि भरत ने सोचा, क्योंकि उनका नाट्य-शास्त्र शायद इस विषय का पहला ग्रंथ है। उन्होंने अपने ग्रंथ मे नाटक-संबधी सम्पूर्ण बातों का पूर्ण विवेचन कर दिखाया है, और उससे संबंध रखनेवाले प्रत्येक विषय का विशद वर्णन भी किया है। रस की कल्पना उन्होंने ही की है, और अनेक मानसिक सूक्ष्म भावों का विश्लेषण भी उन्ही की लेखनी का कौशल है। उन्होंने स्थायी भाव और संचारी भावों का वर्णन तो किया ही है, नायक-नायिका संबंधी अनेक भावों और विचारों की सुंदर व्याख्या भी की है, उद्देश्य केवल मनोभावों का यथार्थ पाठ पढ़ाकर समाज का मंगल साधन ही है। नाट्य-शास्त्र के कुछ अध्यायों मे उन्होंने जिस प्रकार नायक-नायिकाओं के भेद बतलाकर उनके सूक्ष्म मानसिक भावों का चित्रण किया है, वह दर्शनीय है। उसमें जो कुछ वर्णन किया गया है, मैं समझता हूँ वह मनोविज्ञान विषयक बहुमूल्य सामग्री है। मेरा विचार है, रस और नायिका विभेद आदि के पहले आचार्य्य वे ही है। अग्निपुराण मे उनके विषय मे यह लिखा है—'भरतेन प्रणीतत्वाद्भारतीरीति-उच्यते' इससे ज्ञात होता है कि वे उसी काल मे हुए जिस काल मे व्याकरण के आचार्य्य गौतम आदि हुए हैं। उस काल मे जिन विषयों का विवेचन हुआ है, वैज्ञानिक रीति से और बड़ी ही गंभीरता से हुआ है, इसीलिये नाट्य-शास्त्र का प्रत्येक वर्णन भी इसी रंग मे डूबा हुआ है।

नाट्य-शास्त्र के छठवे अध्याय मे रस का और सातवें अध्याय मे भावों का वर्णन है। इन दोनो मे आठ रसों और विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का बड़ा सरस और व्यापक निरूपण है। वे लिखते है—

''तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः। त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिणः। अष्टौ सात्त्विकाः।

एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपचाशद्भावाः प्रत्यवगतव्या. । एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यते ।"

आठ स्थायी भाव, तैंतीस व्यभिचारी भाव और आठ सात्विक भाव मिलकर ४९ भाव होते हैं, काव्य में रस अभिव्यक्ति के हेतु वे ही होते हैं। इन्हीं से सामान्य गुण योग द्वारा रस बनते हैं।

यह लिखकर उन्होंने सब का पूर्ण वर्णन किया है और बडे विस्तार से बतलाया है कि अभिनय के समय उनको कैसे काम में लाना चाहिये। यद्यपि नाट्य-शास्त्र में इनका वर्णन अभिनय के लिये ही हुआ है, किंतु पीछे इनका उपयोग श्रव्य-काव्य मे भी आवश्यकता के अनुसार किया गया। नायिका-भेद के ग्रथों में नायिका तीन प्रकार की मानी गई है, यह कल्पना भी नाट्य-शास्त्र से ही ली गई है—उसके २२वें अध्याय में लिखा गया है—

सर्वासामेव नारीणां त्रिविधा प्रकृति. स्मृता।
उत्तमा मध्यमा चैव तृतीया चाधमा स्मृता॥

प्रकृति के विचार से स्त्रियॉ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा।

इसी अध्याय में एक दूसरे स्थान पर आठ प्रकार की नायिकाओ का वर्णन है, वे भी इसी रुप में यथातथ्य नायिका-भेद के ग्रथो मे ले ली गई हैं—वे ये हैं—

तत्र वासकसज्जा वा विरहोत्कठितापि वा।
खडिता विप्रलब्धा वा तथा प्रोपितभर्तृका॥
स्वाधीनपतिका वापि कलहांतरितापि वा।
तथाभिसारिका चैव इत्यष्टौ नायिका. स्मृता.॥

इसी अध्याय में काम की दश दशाओं का उल्लेख यों किया गया है—

प्रथमे त्वभिलाप स्याद्द्वितीये चिंतनं वेभत्।
अनुस्मृतिस्तृतीये तु चतुर्थे गुणकीर्तनम॥

उद्वेग· पंचमे प्रोक्तो विलाप· षष्ठ उच्यते।
उन्माद· सप्तमे ज्ञेयो भवेद् व्याधिस्तथाष्टमे॥
नवमे जडता चैव मरणं दशमे भवेत्।

बाइसवे अध्याय मे हावो का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

लीलाविलासौ विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिंचितम्।
मोट्टायित कुट्टमित विब्बोको ललित तथा॥
विविहृतश्चेति सयुक्ता दश स्त्रीणा स्वभावजा·।

इसी प्रकार से किसी न किसी रूप मे नायिका भेद की समस्त सामग्री इस ग्रंथ मे मिल जाती है। नायक, नायिका, सखा, सखी और दूतियो के भेद, उपभेद और अवस्थाओ का इतना विशद वर्णन इस ग्रंथ मे किया गया है कि श्रव्य-काव्य ग्रथो मे उनका उल्लेख तक नहीं मिलता। हाँ, छाँटकर कुछ नायक, नायिका, सखा, सखी एवं दूतियो के भेद-उपभेद को उनमे स्थान मिला है, यत्र-तत्र कुछ विशेष बाते भी लिखी गई हैं। कहने का प्रयोजन यह कि नायिका भेद का उद्गम स्थान नाट्य-शास्त्र ही है। जो नाट्य-शास्त्र लिखता है 'यत्किंचिल्लोके शुचिमेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीय वा तच्छृंगारेणोपमीयते' वह नायिका भेद को कभी ग्रहण न करता, जो उसमे अभव्य भावना होती। वास्तव मे उसने लोकहित दृष्टि ही से उसका निरूपण किया है और उसको लिखकर साहित्य के उस अंग की पुष्टि की है, जिसके अभाव मे उसका शरीर पूर्ण सशक्त न बन सकता।

नायिका भेद का कुछ वर्णन अग्निपुराण मे भी है, परंतु साहित्य-दर्पण मे उसका पूर्ण विकाश देखा जाता है। मैं समझता हूँ आजकल जिस प्रणाली से नायिका विभेद लिखा जाता है; उसके आदि प्रवर्त्तक साहित्यदर्पणकार ही हैं। रसमंजरी में साहित्यदर्पण की ही छाया दृष्टि-गत होती है। यह ग्रंथ ईसवी सोलहवी शताब्दी का है और केवल नायिका भेद पर लिखा गया है। ग्रंथ अच्छा है आधुनिक प्रणाली का आदर्श है। उसमे साहित्यदर्पण से कही-कहीं कुछ भिन्नता है, पर नाम

मात्र को। सभव है सस्कृत में नायिका भेद के और ग्रथ भी हो, किंतु वे मेरे देखने मे नहीं आये परतु अधिकाश-काव्य ग्रथो में ऐसे वाक्य यत्र-तत्र मिल जाते हैं, जिससे पाया जाता है कि उनके रचयिता नायिका भेद से परिचित अवश्य है और उसके प्रेमी भी है, चाहे उनकी स्वतत्र रचना नायिका भेद पर भले ही न हो। गीतगोविंद इसका प्रमाण है, जिसके पॉचवे सर्ग मे अभिसारिका, छठे मे वासकसज्जा, सातवें मे विप्रलब्धा, आठवें मे खडिता, नवे मे कलहातरिता और दसवें में मानिनी का वर्णन है। ऐसे और ग्रथ भी बतलाये जा सकते हैं। कहने का प्रयोजन यह कि सस्कृत साहित्य के बड़े-बड़े आचार्यों और विद्वानों द्वारा भी नायिका विभेद उपेक्षित नहीं हुआ और न उसकी रचना शंका की दृष्टि से देखी गई। यदि उसमे कुछ तत्व और आकर्षण न होता—उसमे कुछ उपयोगिता न होती तो ऐसा कदापि न होता।

ससार के साहित्य को उठाकर देखिये, उसमें भी यह विषय भरा पडा है। सस्कृत के विद्वानो के समान उन्होंने इस विषय का कोई विभाग नही बनाया और न उनको नियमबद्ध कर उन पर विवेचन किया, फिर भी उनकी रचनाओ मे वे विचार और भाव पाये जाते हैं, जो कि हमारे नायिका विभेद मे मिलते हैं। ससार के मनुष्य मात्र के भाव दाम्पत्य-धर्म के विषय मे अधिकाश एक है, क्योंकि प्रकृति प्राय मिलती है। इसलिये विचारो का एक होना स्वाभाविक है। मनुष्य मात्र का हृदय एक उपादान से बना है, इसलिये उनकी स्वाभाविक चिंताए समान होती हैं। सुख-दु ख के अनुभव का भाव ससार भर का एक ढग में ढला देखा जायगा, यदि उसमे कृत्रिमता आकर शामिल न हो गई हो। मैं अपने कथन का प्रमाण दूंगा।

नायिका किसे कहते हैं, जो लोक-सुदरी हो, जिसका रूप देखकर ऑखे अनुभव करें कि सौंदर्य्य स्वय रूप धारण करके सामने आ गया। सस्कृत-हिंदी-साहित्य मे नायिकाओ के रूप का वर्णन आप लोगो ने,

बार-बार पढ़ा है। एक अँगरेज़ विद्वान् टी० लाज की नायिका को देखिये—

With orient pearl, with ruby red,
With marble white, with sapphire blue
Her body every way is fed,
Yet soft in touch and sweet in view;
  Heigh ho, fair Rosaline!
Nature herself her shape admires,
The Gods are wounded in her sight;
And Love forsakes his heavenly fires,
And at her eyes his brand doth light:
  Heigh ho, would she were mine!

उसकी देह कहीं मोती, कहीं लाल मणि, कहीं श्वेत संगमर्मर और कहीं नीलम से पुष्ट हुई है। परंतु स्पर्श में कितनी कोमलता है, दर्शन में कितनी मधुरता है! स्वयं प्रकृति उसके रूप की प्रशंसा करती है। देवता तक उसे देख कर मुग्ध हो जाते हैं। कामदेव तो स्वर्ग को छोड़ कर उसी के नेत्रों से अपना शर तीक्ष्ण करते हैं। क्या वह मेरी नहीं होगी!

हमारी स्वकीया नायिका का क्या रूप है, उससे साहित्य-सेवी परिचित हैं। उसमें पति-दोष देखने की शक्ति नहीं होती, वह मूर्तिमती प्रेम होती है और सच्ची सहधर्मिणी बनकर रहती है—देखिये जी० डार्ली की नायिका वही है कि दूसरी?

Give me, instead of Beauty's breast,
  A tender heart, a loyal mind,
Which with temptation I could trust,
  Yet never linked with error find,—
One in whose gentle bosom I
  Could pour my secret heart of woes,

Like the care—burthen'd honey fly
That hides his murmurs in the rose
My earthly comforter ! whose love,
So Indefeasible might be
That, when my spirit won above
Hers could not stay for sympathy

मैं सुंदरता की मूर्ति नहीं चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि ऐसा कोमल हृदय हो, ऐसी दृढ़ अविचल बुद्धि हो, जो स्पृहणीय हो। लोभ में भी मैं जिस पर विश्वास कर सकूँ, परंतु दोषनिरूपण से जिसका संबंध न हो। जिससे मैं अपने गुप्त दुःखों की बातें कह सकूं और जिससे मेरी समस्त चिंता और सारा संताप दूर हो जावे।

ऐसी ही नायिका यह कह सकती है—

Were I as high as heaven above the plain,
And you, my Love, as humble and as low
As are the deepest bottoms of the main,
Whereso'er you were, with you my love should go

यदि मैं मैदान के ऊपर के आकाश की तरह ऊँची होती और तुम, मेरे प्यारे, सब से गम्भीर समुद्र-तल की तरह नीचे पड़े होते, तो जहाँ-जहाँ तुम रहते, तुम्हारे संग वहीं-वहीं मेरा प्रेम रहता।

मध्याधीरा वह है जो आगत अपराधी पति का भी सम्मान करे, जिसके रूखेपन में भी स्निग्धता हो। क्या कालेरिज की निम्नलिखित नायिका ऐसी ही नहीं है?

But now her looks are coy and cold,
To mine they ne'er reply,
And yet I cease not to behold,
The love-light in her eye :

वह देखती तो मेरी ओर इस ढग से है, जिससे यह प्रकट हो कि उसमे प्रेम नही है, परंतु उसके नेत्रो मे प्रेम की ज्योति है।

अधमा वह है जो प्रेम करने पर भी प्रियतम से रुष्ट रहती है। एक ऐसे ही व्यथित से उसका मित्र क्या कहता है, उसे सुनिये—उसकी पंक्तियो मे से अधमा का भाव फूटा पड़ता है—

Why so pale and wan, fond lover?
Prythee, why so pale?
Will, when looking well can't move her,
Looking ill prevail?
If of herself she will not love,
Nothing can make her.
The Devil take her!

तुम इतने पीले क्यो पड़ गये ? जब तुम अच्छे रहे, तब तो उसपर तुम्हारा कुछ भी प्रभाव नही पड़ा—वह रूठी ही रही। अब इतना दुःख करने से लाभ क्या ? अगर वह स्वयं प्रेम नही कर सकती तो किसी तरह मनाने से वह राज़ी न होगी

एक व्यथिता परकीया का उदाहरण देखिये—

Wi' lightsome heart I pu'd a rose,
Frae aff its thorny tree;
And my fause luver staw the rose,
But left the thorn wi' me,

प्रोषितपतिका—जो पति के प्रवास-दुःख से दुःखिता हो उसे प्रोषितपतिका कहते हैं—

Come ye, yet once again, and set your foot by mine,
Whose woeful plight and sorrows great no tongue may well define.

My love and lord, alas ! in whom consists my wealth,
Hath fortune sent to pass the seas, in hazard of his health.
whom I was wont t' embrace with well contended mind
Is now 'amid foe foaming floods at pleasure of the wind

तुम फिर एक बार आओ और मेरे साथ रहो तुम्हारी दु खमयी दशा और बडे-बडे कष्टो का वर्णन कोई जिह्वा अच्छी तरह नहीं कर सकती। मेरे प्यारे और मेरे प्रभु, मेरे जीवन-धन तुम्ही हो, स्वास्थ्य के लिये आपत्तिजनक होते हुए भी भाग्य ने तुमको समुद्र पार भेज दिया है। तुमको स्पर्श करने से मुझे सतोप होता था। हा ! अब तुम समुद्र की भीपण लहरो के बीच पडे होगे।

वासकसज्जा—जो शृगार से सजकर अपने स्थान पर बैठी हुई पति की प्रतीक्षा करती है—

O some where, meek unconscious dove,
That sittest ranging golden hair,
And glad to find thyself so fair
Poor child, that waitest for thy love
× × × × ×
And thinking this will please him best,
She takes a riband or a rose,

अपने बालो को सॅवारती हुई वह अपने प्रियतम की प्रतिक्षा में बैठी है। यह सोचकर कि वह इससे अधिक खुश होगा, वह कभी बालो मे रिबन लगाती है, कभी गुलाब।

कलहांतरिता—जो प्रिय से कलह करके पश्चाताप करती है उसे कलहांतरिता कहते हैं—

I loved him not; and yet, now he is gone,
I feel I am alone.
I checked him while he spoke; yet could he speak,
Alas! I would not check.

मैं उसे चाहती नहीं थी, पर अब वह चला गया है, तो मुझे बिलकुल सूना लगता है। जब वह बोलता था तब तो मैंने उसे रोक दिया। परंतु अब यदि वह आ जाय और बोले, तो मैं उसे नहीं मना करूँगी।

फारसी और अरबी में भी ऐसे विचारों की कमी नहीं है, परंतु उनके पद्यों को उठाकर मैं इस लेख को बढ़ाना नहीं चाहता। उर्दू में उन दोनों भाषाओं के ही विचार भरे पड़े हैं, इसलिये कुछ उर्दू के ही इस प्रकार के पद्य आप लोगों के सामने रखूँगा। यह स्पष्ट है कि उक्त भाषाओं में माशूक आम तौर से अमरद होता है, इसलिये उसकी शायरी में स्त्रियों के भावों का प्रदर्शन बहुत कम है। फिर भी इस प्रकार के विचारों का अभाव नहीं है। मसनवियों में और यों भी ऐसे विचार मिल जाते हैं। उन्हीं में से कुछ नीचे लिखे जाते हैं। संस्कृत में मुझको नखशिख वर्णन कम मिला। मेरा विचार है कि हिंदी में यह प्रणाली फारसी और उर्दू से आई है। हिंदी में पहले-पहल नख-शिख-वर्णन 'पद्मावत' में मिलता है, जो ग्रंथ मलिक मुहम्मद जायसी का लिखा है। यह निश्चित है कि उन्होंने फारसी के 'सरापा' वर्णन का ही अनुकरण अपने ग्रंथ में किया है। इसलिये इस विषय में फारसी उर्दूवाले तो हिंदीवालों से भी आगे हैं। फिर भी उनके इस तरह के कुछ विचारों को देखिये। एक विरहिणी अथवा प्रोषितपतिका का वर्णन गुलजार नसीम में यों किया गया है—

रातों को जो गिनती थी सितारे। दिन गिनने लगी खुशी के मारे॥
करती थी जो भूख प्यास बस में। आँसू पीती थी खा के क़समें॥
सूरत में खयाल रह गई वह। हैयत में मिसाल रह गई वह॥—नसीम

एक परकीया की बातें सुनिये—

उड़ गई यों वफा जमाने से। कभी गोया किसी में थी ही नहीं॥
गुल है जखमी बहार के हाथों। दिल है सदचाक यार के हाथों॥
दम बदम कता होती जाती है। उम्र लैलो निहार के हाथों॥
इक शिगूफा उठे है रोज नया। इस दिले दागेदार के हाथों॥—हसन

एक मुग्धा का चित्र देखिये—

कुछ जवानी है अभी कुछ है लड़कपन उनका।
यों दग़ाबाज़ों के क़ब्जे में है जोबन उनका॥ —असीर

× × ×

कमसिनी है तो निराली हैं ज़िदें भी उनकी।
इस पै मचले हैं कि हम दर्दे जिगर देखेंगे॥ —फसाहत

एक रूपवती नायिका के सौंदर्य का वर्णन यों किया गया है—

आया जो वह गुल चमन में। फूले न समाये पैरहन में॥

दो पद्य विच्छित्तिहाव के देखिये—जहाँ साधारण वेप-रचना से शोभा बढ़ती है—वहाँ विच्छित्ति हाव होता है—

है जवानी खुद जवानी का सिँगार। सादगी गहना है इस सिन के लिये।
शोखी बेबाकी मुक़तिजा सिन का। नाक में फक्त सींक का तिनका॥अमीर

एक धृष्ट नायक की बातें सुनिये—देखिये आप कितने बेदहल हैं—

दिल मुझसे लिया है तो ज़रा बोलिये हँसिये।
चुटकी में मसलने के लिये दिल नहीं होता॥
ऐ चश्मेयार देख तग़ाफ़ुल से बाज़ आ।
दिल टूट जायगा किसी उम्मेदवार का॥ —अमीर

नायिका भेद के मूल मे जो सत्य है, वास्तविक बात यह है कि वह सार्वभौम एवं सर्वकालिक है। उसके भीतर वे स्वाभाविक मानवी भाव सदा मौजूद रहते हैं, जो व्यापक और सर्वदेशी हैं, इसलिये उसकी अभिव्यक्ति विश्व भर मे अज्ञात रूप से यथाकाल और यथावसर होती रहती है। वह मंगलमयी प्रकृति का वह गुप्त विधान है कि जिससे संसार संस्कृति सूत्र स्वतः परिचालित होता रहता है। मेरा विचार है, नाट्य-शास्त्रकार ने उसको वैज्ञानिक रीति से विधिवद्ध करके साहित्य की शोभा ही नही बढ़ाई है, लोकहित साधन का भी आयोजन किया है।

साहित्य और कला

कुछ लोग साहित्य को कला नहीं मानते किंतु कुछ लोग उसको भी कला कहते है। महाराज भर्तृहरी का यह श्लोक कि "साहित्यसगीतकला-विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविपाणहीन:" यह बतलाता है, कि साहित्य कला नहीं है, क्योंकि 'कला' का प्रयोग जिस प्रकार संगीत के साथ है, साहित्य के साथ नहीं, परंतु इसका उत्तर यह कहकर दिया जाता है, कि 'सङ्गीतमपि साहित्यम्'। चतुर्दश विद्या मे साहित्य को जिस प्रकार स्थान नहीं मिला है, उसी प्रकार चौंसठ कला मे भी नही, हाँ, समस्यापूर्ति को कला माना गया है। यदि समस्यापूर्ति कला है तो कविता भी उपलक्षण से कला मानी जा सकती है, क्योंकि उसके विषय मे यह स्पष्ट कहीं नहीं लिखा गया है कि वह कला नही है। दूसरी बात यह कि आजकल के विद्वानो की यह स्पष्ट सम्मति है कि कविता ललितकला है—बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् द्विजेद्रलाल राय लिखते है—

"नियम-बद्ध होने के कारण काव्य और नाटक सुकुमार कला कहलाते हैं।"—कालिदास और भवभूति पृ० ८२।

पाश्चात्य विद्वान उसको खुल्लम खुल्ला कला कहते हैं। चेम्बर्स कहता है—

"Poetry is the art of expressing in melodious words

the thoughts which are the creations of feeling and imagination"

"मधुर शब्दों में कल्पना और भाव-प्रसूत विचारों को प्रकट करने की कला को कविता कहते हैं"।

मेकाले का यह वाक्य है—

"By poetry, we mean the art of employing words in such a manner as to produce an illusion on imagination."

"शब्दों के प्रयोग की ऐसी कला को कविता कहते हैं, जिससे उसकी कल्पना मे चमत्कार का अविर्भाव होता है"।

आक्सफोर्ड कनसाइज़ डिक्शनरी में Poetry का अर्थ यह लिखा है।

'Poetry'—"Art, work of the poet."

'कला' कवि का किया हुआ कर्म, (कविता)।

अतएव काव्य अथवा कविता का कला होना सिद्ध है, इस सूत्र से साहित्य को भी कला कह सकते हैं। किंतु इस विषय में विशेप तर्क की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मेरा विपय काव्य और कविता ही है और उसका 'कला' होना सिद्ध है। अतएव अब मैं प्रकृत विषय की ओर प्रवृत्त होता हूँ। नायिका विभेद अधिकांश काव्य अथवा कविता रूप में ही है, अतएव मैं देखना चाहता हूँ कि कला के रूप में वह कहाँ तक संगत है। पहले काव्य और कविता के विषय में आचार्य्यों की सम्मति देखिये—

अग्निपुराणकार यह कहते हैं—

'संक्षेपाद् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।
काव्य स्फुटदलकार गुणवद्दोषवर्जितम्॥

जिसके वाक्य सक्षिप्त, जिसकी पदावली इष्टार्थ सम्पन्न हो, जिसमें सुदर अलकार हो, जो गुणयुक्त और दोषवर्जित हो वह काव्य कहलाता है—

'अदोषौ सगुणौ सालंकारौ शब्दार्थौ काव्यम्'।—वामन

जो दोपविहीन, गुणयुक्त और अलंकार सहित शब्दार्थ है, वे काव्य कहलाते हैं।

रमणीयार्थप्रतिपादक. शब्दः काव्यम्।—पडितराज

रमणीय अर्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा जाता है।

रसात्मकं वाक्यं काव्यम्।—साहित्यदर्पणकार

रमात्मक वाक्य को काव्य कहते है—

ॲगरेज कवि ले हट लिखते हैं—

Poetry is the best words in their best order."

'जिसमे सर्वोत्तम शब्द सर्वोत्तम क्रम से स्थापित हो, वही कविता है।'

"He is the best whose verse exhibits the greatest amount of strength, sweetness, unsuperfluousness, variety, straightforwardness and oneness"

'सर्वोत्तम कवि वही है, जिसके पद्यो मे सामर्थ्य, माधुर्य, रोचकता, सहज प्रवाह और भाव की सामञ्जस्यपूर्ण एकता हो।'

शेली का यह कथन है—

"Poetry is the record of the best and happiest moments of the happiest and best minds.

'कविता सर्वश्रेष्ठ और दृढ़तम मस्तिष्कों के श्रेष्ठ और सुखमय अवसरो की रचनाओ का समूह है।'

ड्राइडेन की यह सम्मति है—

"Poetry is articulate music."

'कविता अर्थपूर्ण संगीत है।'

इन उद्धरणो का निचोड़ यही है कि जिसका शब्द-विन्यास सर्वोत्तम हो; जिसमे माधुर्य, रोचकता और रस प्रवाह हो, मधुर भावमयी कल्पना हो, अर्थपूर्ण संगीत हो; जिसकी शब्द-योजना में चमत्कार हो,

रमणीयता हो, वही कविता अथवा काव्य है ।। कवि कर्म्म करनेवाले यह भली-भाँति जानते हैं कि ऐसी रचनाएँ श्रेष्ठ और सुखमय अवसरों पर ही हो सकती है और वह भी उन मस्तिष्कों से जो सर्वश्रेष्ठ और दृढ़तम हों । क्या ये सिद्धांत कला की ओर ही अंगुलिनिर्देश नहीं करते ? क्या इन वाक्यों के पठन से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि कविता वास्तव में एक कला है ? क्या कला की जाँच कला की दृष्टि से ही न होनी चाहिये ?

वास्तविक बात यह है कि कला की इयत्ता कला में ही परिमित होती है, कला की सफलता और पूर्णता कला की ही निर्दोषता पर निर्भर है । विकलांग कला, कला हो सकता है, किंतु वह निर्दोष नहीं कहा जा सकता । इसलिये कला की महत्ता कला की सर्वांगीण पूर्ति पर ही अवलंबित है । यदि किसी चित्रकार का बनाया कोई नग्न चित्र हस्तगत हो तो, हमको नग्नता चित्रण-चातुरी पर ही दृष्टि डालनी होगी, उसकी सर्वांगीण पूर्ति देखकर ही यह मीमांसा करनी पड़ेगी कि चित्रकार चित्रण-कला में पारंगत है या नहीं । उसमें अश्लीलता हो, अभव्यता हो, अदर्शनीयता हो, ऐसे स्थान हों जिनको सलज्ज आँखें न देख सकें, किंतु उन्हींसे उनकी शोभा है, वे ही उस चित्र की पूर्णता के साधन हैं । वे जितना ही पूर्ण होंगे, जितनी ही स्पष्टता के साथ दिखलाये गये होंगे, उतने ही चित्रकार के कौशल और उसकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति के प्रदर्शक होंगे । चित्रकार के चित्रण-कला की पराकाष्ठा के लिये इतना ही पर्याप्त है । उपयोगितावाद उसके अंतर्भूत नहीं, अतएव चित्र की परीक्षा के समय उस पर दृष्टि डालने की भी आवश्यकता नहीं । चित्रकार चित्र को ठीक-ठीक चित्रण करके ही सिद्धि लाभ करता है और यहीं पर उसके कार्य की समाप्ति हो जाती है । परीक्षक भी उसकी कृति की परीक्षा यहीं तक कर सकता है, और उसीके आधार से उसको योग्यता की सनद दे सकता है, आगे बढ़ने का उसको अधिकार नहीं ।

मैं जब कला की कसौटी पर नायिका भेद की कविता को कसता

हूँ, तो उसको बावन तोले पाव रत्ती ठीक पाता हूँ। ऊपर जितने लक्षण कविता के बतला आया हूँ, वे सब उसमे पाये जाते है, इस विषय में उसकी रचनाएँ संसार की किसी समुन्नत भाषा का सामना कर सकती हैं। इस विषय के प्रसिद्ध संस्कृत अथवा हिंदी के कवियो ने जब जिस भाव का चित्रण किया है, उस समय उस भाव का उत्तम-से-उत्तम चित्र खींचकर सामने रख दिया है। आप चाहे जिस चित्र को उठा लीजिये, और कला के विचार से उस पर दृष्टि डालिये तो आपको आश्चर्य-चकित हो जाना पड़ेगा। भावुकता कविता की रीढ़ है। नायिका भेद की कविताओ में वह कूट-कूट कर भरी है। यदि मनोभावो का स्वाभाविक विकाश देखना चाहें, तो उसमे देखें। इस विषय के कवि का रसपूर्ण हृदयांबुधि जब उत्ताल तरंग माला संकुल होता है, उस समय कैसे-कैसे भाव-मौक्तिक सहृदयो पर उत्सर्ग कर जाता है, इसका अनुभव उसी को होता है, जो कला की दृष्टि से उन मोतियो की परख करता है। जिनकी दृष्टि ऐसी नहीं, वे उन्हें भले ही पोत या और कुछ समझ लेवे।

आजकल एक विचार-धारा बड़े वेग से बह रही है, पहले वह कितनी ही अंतर्मुखी क्यों न रही हो, परंतु आज वह बहिर्मुखी है। जिनको कवि-कर्म्म का दावा है, जो अपनी विजयिनी कविता को जन साधारण के श्रद्धा पुष्प माल्य द्वारा अर्चित देखना चाहते हैं, वे प्रायः कहा करते हैं, कविता हृदय की वस्तु है। भावोद्रेक होने पर जो कविता स्रोत हृदय सरोवर से स्वभावतया फूट निकलता है, वास्तविक कविता के गुण उसी में होते हैं। जिस सरस हृदय का उच्छलित प्रवाह नैसर्गिक होता है, उसी मे वह कल-कल ध्वनि मिलती है, उसी मे वह उन्मादिनी-गति पाई जाती है, जो सहृदय जन के कर्ण कुहर मे प्रवेश करके अजस्र आनंद सुधा वर्षण करती रहती है। इस प्रकार की कविता न तो किसी अलंकार की भूखी रहती है, न किसी विलक्षण शब्द-विन्यास की, वह अपने रंग में आप ही मस्त रहती है, और अपनी इसी अलौकिक मस्ती

से मार्मिक हृदय पर अधिकार कर लेती है। इस प्रकार की कविता भावमयी होती है, भाव ही उसका सम्बल होता है, चाहे उसको कोई समझ सके या न समझ सके, चाहे उसका कुछ उपयोग हो या न हो, किंतु उसका भाव ही उसका सर्वस्व होता है। मोर जब नर्त्तनशील होता है, तो उसके मुग्धकर गुणों का विकाश स्वाभाविक होता है, वह लोगों को मुग्ध भी करता है, किंतु मयूर इस विषय में यत्नशील नहीं होता। यह विचार सर्वांश में मान्य नहीं, किंतु यह कहा जा सकता है कि लगभग ऐसा ही रहस्य स्वाभाविक कविता में है, वह किसी को विमुग्ध करने की इच्छुक नहीं, किंतु उसके नैसर्गिक गुण अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहते। कला के विषय में भी यही कहा जा सकता है। खग कलरव से लेकर सुकविगण की समस्त सूक्तियों तक में कला का चमत्कार दृष्टिगत होता है। जिस दृष्टि से उसका आविर्भाव है, उसी दृष्टि से उसका अवलोकन यथार्थता है, अन्यथा विडम्बना की विकराल मूर्ति ही सामने आती है।

एक बात मैं और प्रकट कर देना चाहता हूँ। वह यह कि कला में हृदय की भावुकता ही नहीं होती, उसमें मस्तिष्क का कार्य कलाप भी होता है। दोनों के साहचर्य्य से ही कला पूर्णता को प्राप्त होती है। नायिका विभेद की कविता में यथास्थान दोनो का समुचित विकाश देखा जाता है, इसलिये उसकी कविताएँ कला की दृष्टि से बहुत ही उच्च-कोटि की पाई जाती हैं।

शृंगार रस की उपयोगिता

शृंगार रस का मैं जैसा वर्णन कर आया हूँ, उसके उपरांत उसकी उपयोगिता का उल्लेख व्यर्थ जान पड़ता है। परंतु बात यह है कि नायिका विभेद की कुछ असंयत कविताओं के कारण उसका नाम इतना बदनाम हो गया है कि मुझको इस अंश का शीर्षक 'शृंगार रस की उपयोगिता', ही देना पड़ा, जिसमें उसके मिथ्या कलंक का अपनोदन

हो सके। वास्तव मे इस शीर्षक मे नायिका विभेद कविताओ और भावो की उपयोगिता का ही वर्णन होगा। कला की दृष्टि से तो इस विषय की रचनाओ पर कोई दोष लगाया नही जा सकता, यह बात मैं ऊपर लिख आया हूँ। यदि यह सच है कि कला कला के लिये है, तो उपयोगिता का प्रश्न उपस्थित हो ही नही सकता। किंतु इस प्रकार की रचनाओं की उपयोगिता भी अल्प नहीं, इसलिये मैं उसपर भी कुछ लिखना आवश्यक समझता हूँ।

संस्कृति की जड़ साहित्य है, चाहे यह साहित्य कण्ठगत नागरिक अथवा ग्रामीण गीत हो, या पुस्तकगत नाना प्रकार की रचनाओं का समूह। साहित्य का वातावरण जैसा होता है, जाति तदनुकूल ही बनती है। जैसे भावो का पोषण साहित्य करता है, जाति अथवा समाज मे वैसे ही भाव स्थान पाते है। कहा जाता है, जाति के भावों और विचारो का परिचय साहित्य से मिलता है, कारण इसका यह है, कि जाति के संस्कारो के आधार वे ही होते हैं। मनुष्य के संस्कार धीरे-धीरे बनते हैं उनका प्रारंभ माता की गोद से होता है, परन्तु साहित्य और शिक्षा का प्रभाव भी उनपर कम नही पड़ता। मानस लोरियो और कथानको से ही गठित नहीं होता, वह साहित्य के विविध रसो मे भी पगता रहता है। पुरुष हो चाहे स्त्री, दोनो ऐसे खिलौने है, जो साहित्य-कुंभकार के हाथो के गढ़े है। यह निर्माण क्रिया चिरकाल से होती आई है, और प्रलय काल तक होती रहेगी।

लड़कियाँ जब माँ के कंठ का मधुर गाना सुनती है, उस समय वे बहलती ही नहीं, कुछ संस्कृति संचय भी करती हैं। लड़के जब पुस्तको का पाठ पढ़ते हैं, उस काल उनकी शिक्षा ही नहीं होती, उनके हृदय पटल भी खुलते हैं। युवक और युवतियों से जब कविता पाठ कराया जाता है, तब उसका उद्देश आनंद लाभ करना ही नहीं होता, उनके चरित्र और भावो का निर्माण भी उस समय सामने रहता है। यदि स्त्री

पतिपरायणा, लज्जावती, सहृदया, सदाचारिणी एवं उदारस्वभावा है, तो समझना चाहिये, परम्परागत सत्साहित्य के अंक में लालित होने का ही यह सुपरिणाम है, और यदि वह कोपनस्वभावा, उच्छृंखलताप्रिया, दुराचारिणी, निर्लज्जा एव कटुवादिनी है, तो जानना चाहिये कि किसी कुत्सित साहित्य के प्रपंच में पड़ने का ही यह फल है। ये ही बातें पुरुष के गुणदोष के विषय में भी कही जा सकती है।

ससार-सुखशांति गाडी के दो पहिये हैं, एक पुरुष दूसरी स्त्री। यदि ये दोनों पहिये ठीक-ठीक काम देते हैं, तो यह सुखशांति की गाडी यथारीति चलती रहती है, और मनुष्यजीवन आनंदमय बनता रहता है। अन्यथा जिस परिमाण में पहियाओं में दोष आ जाता है, उसी परिमाण में सुखशांति गाडी की गति बिगड़ती और अनेक अवस्थाओं मे नष्टभ्रष्ट हो जाती है। जब तक पुरुष को स्त्री के हृदय और उसके मनोभावो का यथातथ्य ज्ञान नहीं होता और जब तक स्त्री पुरुष के स्वभाव से पूर्णतया परिचित नहीं होती, उस समय तक ससार यात्रा का यथोचित निर्वाह नहीं होता। जब तक दोनो दोनो के गुण दोष नहीं जानते, प्रवृत्ति को नहीं पहचानते, जब तक वे नहीं समझ सकते कि ससार सुमनमय ही नहीं है, उसमें कॉटे भी हैं, तब तक न तो वे अपने जीवन को सफल बना सकते हैं, और न आये दिन की आपदाओं से बच सकते हैं। दुनिया बहुरंगी है, जो उसके सब रंगों को पहचानता है, उसीके मुख की लाली रह सकती है, वह चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष। जहॉ सती साध्वी कुलललनाएँ हैं, वहीं प्रवचनामयी वारवधूटियाँ भी हैं। जहॉ कोमलस्वभावा सरल बालिकाएँ हैं, वहीं कटुवादिनी गर्विणी मानवती नायिकाएँ भी हैं। जहॉ पति की परछाहीं से भीत होनेवाली मुग्धाएँ हैं, वहीं अनेक कलाकुशला प्रौढ़ाएँ भी हैं। कहीं स्वकीया है, कही परकीया, कहीं सामान्या। जब तक कोई ससारी पुरुष इन सब का यथार्थ ज्ञान न रखेगा, तब तक उसकी ससारयात्रा

का निर्वाह सफलतापूर्वक कैसे होगा। इसी प्रकार जब तक सब प्रकार के पुरुषों से ललनाएं अभिज्ञ न होंगी तब तक क्या पद-पद पर उनके पतन की संभावना न होगी ? संसार विचित्रताओं का आकार है। हमारे सामने विषा फल है, और रसाल भी; ईख है और नरकट भी; सुधा है और गरल भी, तब तक हम कैसे उन्हें पहचानेंगे जब तक उनकी परीक्षा न करेंगे। परीक्षा तब तक कैसे करेंगे, जब तक हमको अनुभव न प्राप्त होगा। यह अनुभव चाहे पुस्तक द्वारा प्राप्त हो, चाहे अन्य साधनों से। अनेक दृष्टियों से पुस्तक द्वारा प्राप्त अनुभव ही सर्वोत्तम है, क्या नायिका विभेद की पुस्तकें, ऐसी ही पुस्तकें नहीं हैं ? क्या स्त्री-पुरुष के संबंध का ऐसा सूक्ष्म विवेचन किसी अन्य पुस्तक में भी है ?

रूप का मोह कामनामय होता है, किंतु प्रेम त्यागमय। नायिका भेद की स्वकीया त्यागमयी होती है, क्योंकि आर्य ललनाओं के त्यागमय जीवन की ही प्रशंसा है। उसको वही आदर्शप्रिय है, जो उच्च है, और जिसमें लोक-हित की वासना है। वह अपने सुख से ही सुखी नहीं रहती, वह अपने प्राणधन के सुख पर ही उत्सर्गीकृत जीवन होती है। वह पति के कुटुंब को उसी आँख से देखती है, जिस आँख से उसका पति उसे देखता है। वह पति के कर्तव्य को ही अपना कर्तव्य समझती है, अतएव स्वार्थमय परिवार में भी शांति की मूर्ति बनी रहती है। वह होती है तो मानवी, किंतु सब की दृष्टि में देवी दीखती है, क्योंकि दिव्य गुण ये ही तो हैं। एक स्वकीया का चित्र देखिये—

सेवा ही में सास औ ससुर की रहै सदैव सौतिन सों नाहि सपनेहूँ मैं लरति है।
सीलसुघराई त्यों सनेहभरी सोहति है रोस-रिस-रार ओर क्योंहूँ ना ढरति है।
'हरिऔध' सकल गुनागरी सती समान सूधे सूधे भायन सयानप तरति है।
परम पुनीत पति-प्रीति में पगी ही रहै, प्रानधन प्यारे पै निछावर करति है॥

नैनन को तरसैये कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागिनि तैये।
एको घरी न कहूँ कल पैये कहाँ लगि प्रानन को कलपैये।

आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैये ।
मान घटे ते कहा घटिहै जा पै प्रानपियारे को देखन पैये ॥
लखि सासुहिं हास छिपाये रहै ननदी लखि ना उपजावति भीतहिं ।
सौतिन सों सतराति कबौ न जेठानिन सा नित ठानति प्रीतहि ।
दासिनहूँ सों उदास न 'देव' बढावति प्यारे सा प्रीति प्रतीतहिं ।
धाय सों पूछति बातें त्रिनै की सखीन सा सीखै सुहाग की रीतहि ॥

पाश्चात्य स्त्रियो के लिये सौत की कल्पना भी प्रकंपितकरी है, किंतु भारतीय ललनाओ में इतनी सहनशीलता होती है, कि 'सौंतिन सो नाहिं सपनेहूँ मैं लरति है,' वरन् एक कवि के कथनानुसार 'आपने सुहाग भरे भाल पै लगाई भटू सौंतिन की माँगहूँ मै सेंदुर भरति है,' कहा जा सकता है, यह कवि कल्पना है। मैं कहूगा कवि कल्पना नहीं, हमारे परम्परागत साहित्यजन्य संस्कृति का माहात्म्य है, कुलीन घरों मे जाकर देख लीजिये, ऐसी महान्-हृदया स्त्रियों का अभाव अब भी नहीं हुआ है। फिर जब तक समाज मे किसी भाव का प्रचलन न होगा, तब तक कवि लेखनी से उसकी प्रसूति कैसे होगी? साहित्य समाज के आचार व्यवहार का ही प्रतिबिंब होता है, वह आरंभ यो ही होता है, काल पाकर वह स्वयं आदर्श भले ही बन जावे। जिस दशा मे पाश्चात्य स्त्रियाँ 'डाइवोर्स' करने को तैयार हो जाती हैं, आवेदन-पत्र लेकर कोर्ट में दौड जाती हैं, उस अवस्था मे भी हमारी कुल-बालाएँ कितने संयम से काम लेती हैं। यह कविता की पंक्तियाँ बतला रही हैं। अब रहा यह कि प्रणाली कौन अच्छी है, हमारी कुलललनाओ की अथवा योरोपियन स्त्रियों की? मैं कहूँगा, जरा आँख उठाकर योरोप अथवा अमेरिका के वर्त्तमान सामाजिक हलचल को देखिये, उस समय प्रश्न का उत्तर आप ही मिल जावेगा।

मर्यादा और शिष्टता सभ्यता की सहचरी है, उनकी रक्षा से ही मानवता की शोभा होती है। उनका पालन सम्मानित तो करता ही है,

मनस्तुष्टि का कारण भी होता है। जो संमान चाहता है, उसको दूसरो का स्वयं संमान करना चाहिये। पतिपरायण स्त्रियाँ स्वयं पति द्वारा कम आहृता नही होतीं। 'स्त्री पुरुष का संबंध इतना घनिष्ठ है कि वे नीरक्षीर समान संमिलित रहते हैं। उनमे भेद-भाव कम होता है। कोई सेवा ऐसी नही, जिसे स्त्री पुरुष की और पुरुष स्त्री की न कर सके। हास विलास, आहार विहार मे वे दो शरीर एक प्राण होते हैं। फिर भी आर्य ललनाओ का पति मे पूज्य भाव होता है। इस पूज्य भाव के उदाहरण भी नायिका भेद मे कम नही मिलते। जहाँ कहीं इस भाव का निरूपण पाया जाता है, वहाँ पर आर्य आदर्शों एवं कुल-ललनाओ के चरित्र की उज्ज्वलता का बड़ा सुंदर विकाश देखा जाता है। निम्न-लिखित पद्यो मे ऐसे भावो का बड़ा पवित्र चित्रण है—

फूलन सों बाल की बनाइ गुही बेनी बाल,
भाल दीन्हीं बेदी मृगमद की असित है।
अग अग भूखन बनाइ ब्रजभूखन जू,
बीरी निज करते खवाई अति हित है।
है कै रस बस जब दीबे को महावर के,
'सेनापति' स्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाह के लगाइ रही आँखिन सों,
कही 'प्रान प्यारे यह अति अनुचित है॥'

अंग राग औरै अँगन, करत कछू बरजीन।
पै मेंहदी न दिवाइहौ, तुमसा पगन प्रवीन॥
खान पान पीछू करति, सोवति पिछले छोर।
प्रानपियारे ते प्रथम, जगति भावती भोर॥
धरती न चौकी नग जरी, याते उर में लाइ।
छाँह परे परपुरुष की, जनि तियधर्म नसाइ॥

देखी आपने आर्य-बाला की मर्यादाशीलता और शिष्टता ? साधारण हास विलास और क्रीड़ा में भी वह पति को अपना चरण स्पर्श कराना पाप समझती है। पति के खा पी लेने पर खाती पीती है, उसके सो जाने के बाद सोती है, और प्रातःकाल उसके उठने के पहले उठ जाती है। वह नगजड़ी चौकी इसलिये हृदय पर धारण नहीं करती कि कहीं परपुरुष की छाया उस पर पड़ने से उसके स्त्री-धर्म में छूत न लग जावे। संभव है, आजकल इस प्रकार के विचारों में अत्युक्ति की गंध पाई जावे, और इनमें वास्तविकता न मिले। परंतु ऐसे ही सर्वाभिमुखी, देशव्यापी, एव पवित्र आदर्शों के द्वारा ही दांपत्य भावों की महत्ता सुरक्षित एवं परिवर्द्धित होती आई है। इन कविताओं की व्यजना कितनी भावमयी और उदात्त है, इसके लिखने की आवश्यकता नहीं। पाश्चात्य स्त्रियाँ अपने म-बूट चरणों को पतिदेव के युगल हाथों पर रखकर घोड़े पर से उतरने मे ही अपना गौरव समझती हैं, हास विलास और आहार विहारादि में स्वतत्रता ग्रहण कर अन्यों के साथ स्वच्छंद विचरने में ही स्वाधीनता सुख का अनुभव करती हैं। दुर्भाग्य से हमारे देश में भी उनका अनुकरण होने लगा है। किंतु स्मरण रहे, मायिकता से सरलता अहमहमिकता से मानवता, कटुता से मधुरता एव उच्छृंखलता तथा मदांधता से सदाशयता सदा श्रेष्ठ मानी गई है, वह सदा श्रेष्ठ रहेगी भी, क्योंकि महान गुण से ही महत्ता प्राप्त होती है।

नायिका भेद की रचनाओं में स्त्री पुरुष के अनेक स्वकीय विचारों एव भावों का भी बड़ा सुंदर चित्रण है। उनमें ऐसे जीते जागते चित्र हैं कि हृदयों पर अद्भुत प्रभाव डालते हैं। स्त्री पुरुष की प्रकृतियों एवं व्यवहारों में धीरे-धीरे कैसे परिवर्तन होते हैं, किस अवस्था में उनके कैसे विचार होते हैं, उन विचारों का परस्पर एक दूसरे पर क्या प्रभाव पड़ता है। स्त्री पुरुष के संबंधों में कैसे कटुता कैसे मधुरता आती है, जीवन यात्रा के मार्ग में कैसे कैसे रोड़े हैं, प्रेम-पथ कितना

कटकाकीर्ण और दुर्गम है, समाज के स्त्री पुरुषों की रहन-सहन प्रणाली साधारणतः क्या है? वह कैसी विचित्रतामयी है? उसके चक्र में पड़कर जीवन यात्रा में क्या क्या परिवर्तन हो जाते हैं? हिंदू-समाज की व्यापक रूढ़ियाँ क्या हैं? स्त्री पुरुषों में क्या क्या चालबाजियाँ होती हैं? आपस में वे एक दूसरे के साथ कैसी कैसी कुटिलताएँ करते हैं, वियोग-अवस्था में उनकी क्या दशा होती है, और सुख के दिन उनके कैसे सुंदर और आनंदमय होते हैं, इन सब बातों का व्यापक वर्णन आपको नायिका भेद के ग्रंथों में मिलेगा। कार्य क्षेत्र के लिये सम्यक् ज्ञान ही उपकारक है। संसार का सुख दुःख सहयोगियों के मानसिक भावों के ज्ञान अज्ञान पर ही निर्भर करता है, अतएव उनके साधनों की उपेक्षा उचित नहीं। किस युक्ति से उन ग्रंथों में इन बातों की अवतारणा हुई, फिर वे कैसे पल्लवित पुष्पित बनीं, कुछ इसे भी देखिये—

संसार स्वार्थमय है, दूसरे का कलंक अपने सिर पर कौन लेता है। परंतु सच्चा प्रेम अद्भुत कर्मा है, वह यह कार्य भी करता है। आप आँच सहता है, परंतु अपने प्रेमपात्र को आँच नहीं लगने देता। एक कुल-ललना का आत्मत्याग देखिये—उसका पति नपुंसक है, अतएव वह अपने को बाँझ कहा जाना पसंद करती है, किंतु भेद नहीं खोलती।

सुत हित सुनो पुरान यों लोगन कह्यो निहोरि।
चाहि चाह युत नाह मुख मुसिक्यानी मुख मोरि।
गुरु जन दुजे ब्याह को प्रति दिन कहत रिसाइ।
पति की पति राखति बहू आपुन बाँझ कहाइ।

प्रायः कहा जाता है, भारतीय सभ्यता स्त्री जाति के विषय में उदार नहीं है, यहाँ की पुरुष जाति स्त्री जाति का संमान करना नहीं जानती। यह वृथा लांछन है, जहाँ महापुरुषों के ये वाक्य हैं,—

प्रत्यक्ष देवता माता जाया छायास्वरूपिणी।
स्नुषा मूर्तिमती प्रीतिः दुहिता चित्तपुत्तली।

सुमन का सरस विकाश। भाव इनके इतने सुंदर हैं कि उपयोगिता उनमें से फूटी पडती है। यह उपयोगिता एकदेशी नहीं व्यापक है, और है पवित्र पाठों से पूर्ण—

गिरि ते ऊँचे रसिक-मन, बूडे जहाँ हजार।
वहै सदा पसुनरन को प्रेम-पयोधि पगार॥
इक भीजे, चहले परे बूडे बहे हजार।
कितने अवगुन जग करत नय-वय चढती बार॥
बिछुरे जिये सकोच यह बोलत बने न-बैन।
दोऊ दौर लगे हिये किये निचौंहैं नैन॥
तच्यो आँच अति बिरह की रह्यो प्रेमरस भींजि।
नैनन के मग जल बहै हियो पसीजि पसीजि॥
यद्यपि सुदर सुघर पुनि सगुनो दीपक देह।
तऊ प्रकास करै तितो भरिये जितौ सनेह॥
जो चाहै चटकन घटै मैलों होय न मित्त।
रजराजस न छुवाइये नेह चीकने चित्त॥
तनक कर्करी के परे नैन होत बेचैन।
वे बपुरे कैसे जियें जिन नैनन में नैन॥

प्राय कहा जाता है, गणिकाओं का वर्णन करके नायिका विभेद के ग्रथो में अनर्थ कर दिया गया है। किंतु गणिका के वर्णन मे भी विशेपता है, उसमे भी उत्तम पाठ मौजूद हैं। देखिये—

धीरज मोचन लोचन लोल विलोकि कै लोक की लीकात छूटी।
फूटी गये श्रुति ज्ञान के केसव आँख अनेक विवेक की फूटी॥
छोडि दई सरिता सब काम मनोरथ के रथ की गति टूटी।
त्यो न करै करतार उबारक जा चितवै वह वार वधूटी॥

यदि कहा जावे कि इस पद्य मे वह नायिका रूप में वर्णित नहीं

है—इसलिये यह पद्य प्रमाण कोटि मे नहीं गृहीत हो सकता। तो निम्नलिखित पद्य लिया जावे—

क्यों हूँ न याम जनात है जात रिझावत ऐसी रहैं रतिश्रान मैं।
देखत ही मन टूटि परै कछु राखहि ऐसी छटा छतिश्रान मे।
ए 'हरिऔध' करो कितनो हूँ बिलव पै होत नहीं पतिश्रान मे।
बीस गुनी मिसिरी ते मिठास है बार बिलासिनी की बतिश्रान मे॥

क्या इस पद्य के पढ़ने से यह नहीं ज्ञात होता कि वैसिकों का कितना पतन हो जाता है। उसके पतन का चित्र ही तो इस पद्य के पद-पद मे अंकित है, उनकी कामुकता का ही वर्णन तो इसमे है। फिर उनको कौन निंदनीय न समझेगा, ऐसे ऐसे पुरुषो की ओर दृष्टि फेर कर सर्वसाधारण को सावधान करना ही तो इस पद्य का उद्देश है, फिर वह उपयोगी क्यो नहीं। यदि कहा जावे किसी कुलांगना के हाथ में यह पद्य नहीं दिया जा सकता, तो मैं कहूँगा यदि उनको अपने पति पुत्र को पतन से बचाने का अधिकार प्राप्त है, यदि उनको इस विषय मे सावधान रखना है, तो उनके सामने इस पद्य को अवश्य रखना चाहिये। जिससे उनकी आँखें खुली रहें, और वे अपने पति, पुत्र की रक्षा इस कुमार्ग से कर सकें। इस पद्य मे जितना प्रलोभन है, उतनी ही उसमे सतर्कीकरण की शिक्षा है। बुराई का यथार्थ ज्ञान होने पर ही, उससे पूरी तौर पर कोई बचाया जा सकता है।

नायिका विभेद के ग्रंथो मे उच्च कोटि के पुरुषो के वर्णन के साथ जैसे अधम से अधम पुरुषो का निरूपण भी किया गया है, उसी प्रकार पूज्य पतिव्रता स्त्रियों के साथ गणिकाओ तक का विवरण है। कारण इसका यह है कि तुलना का अवसर हाथ आने पर ही हमें भले बुरे का ज्ञान होता है। राका निशा का यथार्थ ज्ञान तमोमयी अमा कराती है, और अरुण राग रंजित ऊषा की विशेषताओ को कालिमामयी संध्या ही बतलाती है। काक और पिक का क्या अंतर

है, फूल और काँटों में क्या भेद है, सुधा क्यों वांछनीय है और गरल क्यों निंदनीय, यह मिलान करने पर ही जाना जा सकता है। जैसे पुरुष जीवन को परकीया कलंकित करती है, और गणिका नष्ट; उसी प्रकार स्त्री जीवन को लाछित करता है उपपति, और कष्टमय बनाता है वैसिक। इसलिये एक को दूसरे के यथार्थ परिचय की आवश्यकता है। नायिका भेद के ग्रंथ इन उद्देशों को सामने रखकर लिखे गये हैं। यह देखा जाता है कि अनके पुरुष स्त्रियों द्वारा इसलिये आदर नहीं पाते, वरन् वचित और तिरस्कृत होते है कि उनमें रसज्ञता नहीं होती, और वे उन कलाओं के ज्ञाता नहीं होते, जिनसे ललनाकुल को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है। इसी प्रकार कितनी स्त्रियों को इसलिये दुख भोगना और पति के प्यार को गँवाना पड़ता है, कि उनमें न तो भाव होते हैं, जो मनों को मुट्ठी में करते हैं, और न वे मनोहर ढग, और न वे मधुर व्यवहार जो हृदय के सुकुमार भावों पर अधिकार करते और नीरस मानसों में भी रस-धारा बहाते हैं। नायिका भेद के ग्रथ इन बातो का भी प्रतिकार करते हैं, और बड़ी सरसता से वे मार्ग वतलाते हैं, जिन पर चलकर स्त्री पुरुष दोनों अपने जीवन को सुखमय वना सकते हैं। जैसे कुछ विद्याएँ और कलाएँ ऐसी हैं, कि जिनका कुछ न कुछ ज्ञान होना जीवन के लिए उपयोगी है, वैसे ही साहित्य के इन अग पर भी अधिकार होना आवश्यक है। ससार में सर्वज्ञ कौन है, अल्पज्ञ होना अच्छा नहीं, इसलिये जहाँ तक हो सके प्रत्येक पुरुष और स्त्री विशेष आवश्यक विपयों का विज्ञ बनने की चेष्टा अवश्य करे। विज्ञता ग्रन्थ पढ़कर ही नहीं लाभ की जा सकती। विपयज्ञों का साथ करके भी वहुत कुछ सीखा जा सकता है। नायिका भेद की उपयोगिता के विपय मे मैं वहुत कुछ लिख चुका। मेरा विचार है, कि सदुद्देश से ही उसकी रचना हुई है। निर्दोप आमोद प्रमोद और सरस हास विलास का उत्तेजन भी उसके सृजन का हेतु हो सकता है। किंतु यह उसके

व्यापक उद्देश का एक देश मात्र है। मैंने उपयोगिता के उदाहरण व्रजभाषा के पद्यो को उठाकर ही दिये हैं, इसलिये नहीं कि संस्कृत मे इस प्रकार के पद्य नहीं है, वरन् इसलिये कि जिसमे व्यर्थ ग्रंथ के कलेवर की वृद्धि न हो।

शृंगार रस और व्रजभाषा

शृंगार रस की रचनाएं यदि कला की कसौटी पर कसे जाने पर ठीक उतर जाती, तो भी किसी को उनपर उँगली उठाने का अधिकार न होता, क्योंकि कला की सार्थकता कला तक ही परिमित है। यदि कला की दृष्टि से कोई कला पूर्ण पाई गई तो उसको पूर्णता प्राप्त हो गई, फिर उसमे कोई न्यूनता नहीं मानी जा सकती। नायिका भेद की रचनाएं ऐसी ही हैं अतएव वे अभिनंदनीय हैं, उपेक्षणीय नहीं। जब उनमें उपयोगिता भी पाई गई, तो उनके लिये मणिकांचन योग हो गया, वे सब प्रकार आदरणीय हो गईं। इतना ही नहीं उनकी उद्भावना ऐसे महापुरुषो द्वारा हुई है, जो सत्यव्रत ही नहीं अर्चनीय भी हैं। भरत मुनि स्वयं आप्त हैं, किंतु उन्होंने शृंगारादिक अष्ट रसो का आविष्कारक जिनको माना है, उनको महात्मा विशेषण दिया है, वे लिखते हैं 'एते ह्यष्टौ रसा. प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना' इसलिये नायिका भेद की कल्पना लोकहित कामना से ही हुई है, यह स्वीकार करना पड़ेगा। फिर भी उसके कारण शृंगार रस आजकल अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। नायिका-भेद-संबंधिनी शृंगार रस की अधिकतर रचनाएँ व्रजभाषा मे हैं, अतएव इसी सूत्र से आजकल व्रजभाषा की छीछालेदर भी की जा रही है। विचारणीय यह है कि इस विषय में व्रजभाषा का उत्तरदायित्व कहाँ तक है—

अग्निपुराण का वचन है—

शृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स चेत् कविर्वीतरागी नीरस व्यक्तमेव तत्॥

भाव यह है कि यदि कवि शृंगारी होता है, तो उसके काव्य से जगत

रसमय हो जाता है, किंतु यदि वह बीतरागी होता है, तो सब ओर नीरसता फैल जाती है। मैं शृंगार रस की प्रधानता का प्रतिपादन कर आया हूँ, यह भी बतला चुका हूँ कि शृंगार रस ही सब रसों का जनक है। यही कारण है कि संस्कृत भाषा के साहित्य में शृंगार रस का स्रोत बहता है। कवि-कुल-गुरु कालिदास के समय से लेकर पंडितराज जगन्नाथ के समय तक जितने बड़े-बड़े काव्यकार हो गये हैं, जितने लोगों ने लक्षण-ग्रंथ, अलंकार-ग्रंथ, अथवा छोटे-बड़े रस-ग्रंथ, नाटक, चंपू, किंवा प्रबंध ग्रंथ लिखे हैं, उपन्यास, कथानक या मुक्तकों की रचनाएँ की हैं, उनमें से अधिकांश में शृंगार रस की ही छटा देखने में आती है। अन्य विषयों में भी शृंगार का पुट कुछ-न-कुछ अवश्य रहता है। कारण इसका यही है कि संसार रस का ग्राहक है, और सरसता बिना शृंगार के आती नहीं। पुराण, उपपुराण अथवा संहिताएं धर्म दृष्टि से लिखी गई हैं, परंतु उनमें भी प्राय शृंगार रस का मधुर आलाप श्रुति गोचर होता है। प्राकृत और अपभ्रंश के साहित्य ग्रंथों की भी यही दशा है। सातवाहन की प्राकृत गाथा सप्तशती को देखकर ही आचार्य गोवर्धन ने 'आर्या सप्तशती' की रचना की। दोनों में ही शृंगार रस छलका पड़ता है। विरोध करनेवालों ने उस समय भी उसका विरोध किया और मूल पर ही कुठाराघात करना चाहा। काव्य की ही निंदा कर डाली, लिख मारा—

"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्य काव्यम्"

'अश्लील भावों का द्योतक होने के कारण काव्य की रचना न होनी चाहिये।'

पर इसको किसी ने न सुना—यह बात नक्कारखाने में तूती की आवाज हुई, क्योंकि स्वाभाविक भावों का प्रतिरोध नहीं होता। प्रयोजन यह कि शृंगार रस का स्रोत चिर काल से प्रवाहित है, वह संस्कृत से

प्राकृत मे आया, और प्राकृत से व्रजभाषा मे। ऐसा होना स्वाभाविक था, व्रजभाषा ने स्वयं इसकी उद्भावना नहीं की।

कुछ लोगो का विचार है कि स्त्री जाति के अंगो का वर्णन उचित नहीं, क्योंकि यह एक प्रकार की अमर्यादा है। हास-विलास और प्रिया-प्रियतम की क्रीड़ाओ एवं उनके रसमय कथनोपकथन का चित्रण भी संगत नहीं, क्योंकि उसमें अश्लीलता आ जाती है। मेरा विचार है, इस कथन में मार्मिकता नहीं। खोपड़ी खरोंचकर कुछ बातें कही गई हैं, परंतु उनमे सहृदयता का लेश नहीं। आँखे विश्व-सौंदर्य्य देखने के लिये बनी हैं, और हृदय भाव ग्रहण करने के लिये। किंतु ये बाते कहती है आखो पर पट्टी बॉध लेने और कलेजे पर पत्थर रख लेने के लिये, सौंदर्य्य देखकर पशु विमुग्ध हो जावे, चिड़ियॉ चहकने लगे, परंतु मनुष्य को विशेषकर कवि को जीभ हिलाने का अधिकार नहीं! यदि उसने सुंदर दॉत देखकर उसे मोती जैसा कह दिया, मुख को मयंक-सा, ऑखों को कमल-सा बतला दिया, तो मर्यादा पर वज्रपात हुए बिना न रहेगा। यदि मर्द के दॉत मोती जैसे कह दिये जावे, तब तो शायद मर्यादा सुरक्षित भी रह जावे, किंतु स्त्री के दॉत को मोती कहा नहीं कि उसपर बिजली गिरी नहीं। यदि योरप और अमेरिका की श्वेतांग ललनाऍ अपने अंग प्रत्यंगो की वर्णना रसमयी भाषा मे कर अपने रूप-यौवन का विज्ञापन देती रहें, समाचारपत्रो के कालम के कालम काले करती रहें, तो वह हमारे पाश्चात्य सभ्यतानुरागियो के लिए संगत होगा, क्योंकि वे वर्त्तमान युग की अधिष्ठातृ देवियॉ है। प्रिया-प्रियतम के हास विलास, क्रीड़ा एव कथनोपकथनो से संसार का साहित्य क्यो न भरा हो, वे क्यो न नीरस जीवन की रसधारा हो, दुःख भरे ससार के सुख-सदोह हो, किंतु उनके अश्लील हो जाने का डर है, इसलिये वे वर्णनीय नहीं। पानी इसीलिये नहीं पीना चाहिये कि वह खारा भी होता है, वायु सेवन इसलिये नहीं करना चाहिये कि उसमे

दुर्गंधि भी मिलती है, व्यजन इसलिये नही खाना चाहिये कि वह रोग-प्रवण भी होता है और आग को इसलिये काम में नहीं लाना चाहिये कि उससे उँगलियाँ भी जल सकती हैं। ऐसे लोगों का विचार कहाँ तक मान्य है, इसको आपलोग स्वय समझ सकते हैं। गुण समूह में जिनकी दृष्टि साधारण से साधारण दोष पर ही रहती है, वे हों कैसे ही, परंतु इस विचारवाले लोग भी हैं। अपने सिद्धांतानुसार वे ब्रजभाषा के नखशिख वर्णन को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। किंतु नखशिख वर्णन भी परंपरा द्वारा ही ब्रजभाषा में गृहीत हुआ है। तर्क करनेवालों का यह कथन है कि उसने फारसी और उर्दू से यह प्रणाली ग्रहण की है, किंतु यह सत्य नही है। कवि-कुल-गुरु कालिदास ने कुमारसभव के सातवे सर्ग मे हिमाचल-नंदिनी के अनेक अंगों का बड़ा सुदर वर्णन किया है। विवाह काल में सखियों ने उनको जैसे सुसज्जित किया, उसका वर्णन बडा ही मनोमोहक है। इसके अतिरिक्त अगों के उपमानों की कल्पना ब्रजभाषा के कवियो की नहीं है, वे वे ही उपमान हैं, जो सस्कृत के आचार्यों द्वारा वर्णित हैं। कवि-प्रिया में कविवर केशवदास ने इस विषय का बड़ा विशद वर्णन किया है। वे यह भी लिखते हैं—

नख ते सिख लौं बरनिये, देवी दीपति देखि।
सिख ते नख लौं मानुखी, केसवदास बिसेखि॥

इस नियम का उल्लेख उन्होने प्राचीन आचार्य्यों के मन्तव्य अनुसार ही किया है, इससे पाया जाता है कि नखशिख-वर्णन-प्रणाली परपरागत है। हाँ, यह अवश्य है कि ब्रजभाषा में उसका विस्तृत रूप देखने में आता है। कारण इसका उर्दू एव फारसी रचनाओ से हिंदी भाषा का उत्कर्ष साधन है, क्योंकि उस काल के अधिकाश कवियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। उस समय अपनी भाषा की रक्षा के लिये ऐसा करना आवश्यक था।

अब रहे स्वकीया, परकीया और गणिका के विषय। स्वकीया की

कल्पना बड़ी सुंदर कल्पना है। उसमे इतनी मोहकता है कि निर्गुण-वादी संतो ने भी उसकी ममता नहीं छोड़ी। जो साकारता की चर्चा होने पर कानों पर हाथ रखते हैं, उनको भी परमात्मा को पति और अपने को पत्नी मानकर मानसिक उद्गारो को प्रकट करते देखा जाता है। वास्तव मे स्वकीया का जीवन बड़ा ही उदात्त, त्यागमय एव प्रेममय है। उसकी कामनाएं बड़ी ही मधुर और भावमय है; अतएव उसके हृदयोद्गार अनेक अवसरो पर बड़े ही आकर्षक होते हैं। कुछ असहृदय उनको सुनकर भले ही नाक-भौंह सिकोड़े, किंतु ससार इस रस मे निमग्न है। यहाँ तक कि जो ससार-त्यागी हैं वे भी अपनी मानसिक व्यथाओ और आकुलताओ को पत्नी का भाव ग्रहण कर ही लोक-पति तक पहुँचाते हैं। कबीर कट्टर निराकारवादी हैं। जरा उनकी बाते सुनिये—उनकी उक्ति कितनी मर्मस्पर्शिनी है, और वे किस प्रकार स्वकीया-हृदय के भावो को व्यंजित करते हैं। यह बात उनके गान का एक-एक पद ध्वनित कर रहा है—

तोको पीव मिलेंगे घूँघट को पट खोल रे।
घट घट में वह साईं रमता कटुक वचन मत बोल रे।
धन जोबन को गरब न कीजै झूठा पचरँग चोल रे।
सुन्न महल मे दियना बारि ले आसा सों मत डोल रे।
जोग जुगुत सों रगमहल में पिय पायो अनमोल रे।
कहै 'कबीर' अनंद भयो है बाजत अनहद ढोल रे॥ १॥

मिलना कठिन है कैसे मिलौंगी पिय जाय।
समुझि सोचि पग धरौं जतन से बार बार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली पॉव नही ठहराय।
लोक लाज कुल की मरजादा देखत मन सकुचाय।

नैहर बास बसा पीहर में लाज तजी नहिं जाय।
अधर भूमि जहँ महल पिया का हम पै चढो न जाय।
धन भई बारी पुरुष भये भोला सुरत झकोरा खाय।
दूती सतगुरु मिले बीच में दीन्हों भेद बताय।
साहब 'कबिर' पिया सों भेट्यो सीतल कंठ लगाय॥ २॥

❁ ❁ ❁

बालम आओ हमारे गेह रे।
तुम बिन दुखिया देह रे॥
सब कोइ कहै तुम्हारी नारी मोको यह संदेह रे।
एक मेक ह्वै सेज न सोवे तब लग कैसो नेह रे।
अन्न न भावै नींद न आवै गृह बन धरे न धीर रे।
ज्यों कामी को कामिनि प्यारी ज्यों प्यासे को नीर रे।
है कोउ ऐसा पर उपकारी पिय से कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल 'कबीर' भये हैं बिन देखे जिउ जाय रे॥ ३॥

❁ ❁ ❁

सपने में साईं मिला सोवत लिया जगाय।
आँख न खोलूँ डरपती मत सपना ह्वै जात॥ ४॥

स्वकीया के विषय मे अधिक तर्क-वितर्क भी नहीं किया जाता। अतएव मैं परकीया और गणिका के विषय को लेता हूँ। कहा जाता है, इन दोनो नायिकाओं का वर्णन करके ब्रजभाषा ने उच्च आदर्शों का तिरस्कार किया है। प्रश्न यह है क्या ब्रजभाषा द्वारा ही इन दोनो नायिकाओं की वर्णना हुई है? यह भी तो संस्कृत-साहित्य से ही ब्रज-भाषा में आई हैं, इसलिये इन दोनो नायिकाओं का निरूपण भी साहित्यशास्त्र के नियमानुसार परंपरागत है, इसमें ब्रजभाषा का क्या अनौचित्य? जब मैं परंपरा की बात कहता हूँ तो इसका यह अर्थ न

समझना चाहिये कि मैं परंपरा के अंधानुकरण का पक्षपाती हूँ। परंपरा वहीं तक ग्राह्य, है जहाँ तक वह आपत्तिजनक न हो। जब उसके द्वारा समाज अथवा जाति का अमंगल होता हो, जब उसके आधार से उनमें बुराइयाँ फैलती हों तो वह इस योग्य है कि उसकी उपेक्षा की जावे। इसको मैं स्वीकार करता हूँ। इसलिये जब मैं परंपरा की बात कहता हूँ तो उसका इतना ही प्रयोजन होता है कि प्रस्तुत विषय की उद्भावना व्रजभाषा द्वारा नहीं हुई। कहा जा सकता है कि व्रजभाषा उसे छोड़ सकती थी, यह तर्क ठीक है। अतएव अब मैं यह देखूँगा कि व्रजभाषा ने उसे क्यों नहीं छोड़ा—साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

'उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते॥
परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननु रागिणीम्।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः॥

"अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त-रस शृंगार कहलाता है। पर स्त्री तथा अनुराग-शून्य वेश्या को छोड़कर अन्य नायिकायें तथा दक्षिण आदि नायक इस रस के आलंबन विभाव माने जाते हैं"।

यह लिखकर भी साहित्यदर्पणकार ने परकीया और गणिका का वर्णन अपने ग्रंथ में किया है। वे लिखते हैं—

परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा।
यात्रादिनिरतान्योढा कुलटा गलितत्रपा॥
कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना।
धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका॥

"परकीया नायिका दो प्रकार की होती है' एक अन्य विवाहिता और दूसरी अविवाहिता कन्या। उनमें से यात्रा आदिक मेले तमाशों की शौकीन निर्लज्जा 'अन्योढ़ा' कहलाती है"।

"अविवाहिता सलज्जा नवयौवना कन्या कहलती है और धीरा नृत्य गीतादि ६४ कलाओं में निपुण सामान्या स्त्री वेश्या"।

कन्या के विषय में लिखते हैं, अस्याश्च पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयात्वम्' । यह पिता आदि के वश में होने से परकीया कहलाती है।

इसके बाद स्वाधीनपतिका आदि आठ प्रकार की नायिकाओ को गिनाकर वे यह भी कहते हैं—

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण ।
चतुराधिकाशीतियुत शतत्रय नायिकाभेदाः ।

मतलब यह कि स्वीया के १३ भेदो में जब परकीया के दो भेद और एक वेश्या को मिलायेंगे तो उनकी सख्या १६ होगी। इसको स्वाधीनपतिका आदि आठ भेदों से गुणेंगे तो उनकी सख्या १२८ होगी। उत्तमा, मध्यमा, अधमा के विचार से यही सख्या ८४ हो जायगी। इससे यह पाया गया कि स्वकीया, परकीया के समान गणिका के भी स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद हो सकते हैं और उनमे भी 'उत्तमा' आदि का क्रम रखा जा सकता है। साहित्यदर्पण मे गणिका अथवा परकीया के इन भेदों का वर्णन नहीं है। परंतु 'रसमजरी' में इनका विलक्षण निरूपण है। 'रसमजरीकार' भानुदत्त की उपस्थिति षोड़श शताब्दी मे बतलाई जाती है।

नाट्य-शास्त्रकार ने अपने ग्रथ में स्वीया, परकीया, एव सामान्या का वर्णन इस प्रकार से नहीं किया है, जिस प्रकार से उक्त ग्रथो मे पाया जाता है। किंतु उन्होंने इतनी नायिकाएँ अपने ग्रथ मे लिखी हैं कि उनमे इन सबका अतर्भाव हो जाता है। बाईसवें अध्याय में वे लिखते है—

वेश्यायां कुल्टाया वा प्रेष्यायां वा प्रयोक्तृभिः ।
एभिर्भावविशेषैस्तु कर्तव्यमभिसारणम् ॥२१८॥

तेइसवे अध्याय में आठवें श्लोक में वे यह कहते हैं—

दिव्या च नृपपत्नी च कुलस्त्री गणिका तथा ।
एतास्तु नायिकाज्ञेया नाना प्रकृतिलक्षणाः ।

इसी अध्याय मे १५, १६, १७ श्लोको में उन्होने स्त्रियो के सत्तरह भेद बतलाये हैं। वे ये हैं—महादेवी, देवी, स्वामिनी, स्थापिनी, भोगिनी, शिल्पकारी, नाटकीया, नर्त्तकी, अनुचारिका, परिचारिका, संचारिणी, प्रेपणचारिका, महत्तरी, प्रतीहारी, कुमारी, स्थविरा, आयुक्तिका फिर अनुरक्ता, विरक्ता आदि कुछ और नायिकाए उन्होंने गिनाई है और सबो के लक्षण बतलाये हैं। उनके देखने से लगभग सब नायिकाएँ उनमें आ जाती हैं। जिनका वर्णन उक्त ग्रंथकारो ने किया है। इससे पाया जाता है कि परकीया अथवा गणिका की वर्णना आधुनिक नहीं है, वरंच बहुत प्राचीन है। प्राचीन होने से ही कोई विपय श्लाघनीय अथवा अभिनदनीय नहीं होता, इसलिये विचारणीय यह है कि साहित्य मे परकीया और गणिका का ग्रहण कहाँ तक युक्ति संगत है।

जब मैं किसी विपय के परंपरागत अथवा प्राचीन होने पर जोर देता हूँ तो उसका अर्थ यह होता है कि उनके उद्‌भावक वे हैं, जो विश्वबंधु और सत्यव्रत कहे जा सकते हैं। ऐसी अवस्था मे वे तर्क योग्य नहीं। फिर भी मैं प्रस्तुत विषय की ओर प्रवृत्त होता हूँ। कहा जाता है कि परकीया का आदर्श ही बुरा है, यह ऐसा आदर्श है जो कुलांगनाओ को मार्गच्युत कर सकता, उनको भ्रांत बना सकता और निष्कलंक कुल में कलंक लगा सकता है। जो कुछ कहा गया उसमे सत्यता का अंश है, किंतु सांसारिकता बिल्कुल नहीं। प्रेम बड़ा रहस्यमय है, प्रेमपरायण हृदय समाज का बंधन क्या किसी बंधन को नहीं मानता, ऐसे उदाहरण नित्य हमारी आँखों के सामने आते रहते है। हम आँखे छिपा सकते हैं, किंतु घटना बिना हुए नहीं रहती। हृदय से हृदय का सम्मिलन स्वाभाविक है, सत्य है, विधि का अनुल्लंघनीय विधान है। लौकिक नियम उसका नियंत्रण कर सकता है, किंतु उसकी सीमा है। जहाँ सीमोल्लंघन होता है वहाँ यह नियम टूट जाता है। इन बातो पर दृष्टि रख कर ही सिद्धांतों अथवा आदर्शों की मीमांसा हो

सकती है। यदि परकीया एक सत्य व्यापार है, और समाज में चिरकाल से गृहीत है, तो उसका उल्लेख गर्हित क्यों? हिंदू समाज का वरन् संसार का सर्वोच्च आदर्श स्वकीया है। परंतु उसके नीचे ही परकीया का स्थान है, उसका प्रेम भी उदात्त है, और एक प्रेमी ही तक परिमित है। उसमें त्याग की मात्रा भी न्यून नहीं, उसके प्रेम-पथ में विघ्न बाधाओं के ऐसे दुरारोह पर्वत खड़े मिलते हैं जिनका सामना स्वकीया को करना ही नहीं पड़ता, तो भी वह अपने व्रत में उत्तीर्ण होती है, और प्रेम-कसौटी पर कसे जाने पर उसी के समान ही ठीक उतरती है, फिर उसकी अवहेलना क्यों?

परकीया नायिका में जो प्रेमजन्य व्याकुलता होती है, उसमें जो अधीरता उत्सुकता, प्रेमोन्माद और तड़प देखी जाती है, वह बडी ही अदम्य एव वेदनामयी होती है। पहाड़ी नदियो की गति में बड़ी प्रखरता, बडी ही सबलता, बड़ा वेग और बड़ी ही दुर्दमनीयता होती है, क्योकि उसके पथ में विघ्न बाधा स्वरूप अनेक प्रस्तर खड, अनेक सकीर्ण मार्ग और बहुत से पहाड़ी दर्रे होते हैं। परकीया नायिकाओं का पथ भी इसी प्रकार विपुल संकटाकीर्ण होता है। उसको लोक-लाज की बेडी काटनी पडती है, वंशगत बधन तोड़ना पड़ता है, गुरुजनो की भर्त्सना, गॉववालों का उत्पीड़न और सखियो का तिरस्कार सहना पड़ता है, अतएव उसकी गति भी पहाड़ी नदियों की सी उद्वेलित होती है। उसके हृदय के भावों का चित्रण टेढी खीर है, साथ ही बड़ा ओजमय द्रावक और मर्मस्पर्शी भी है। उसमें सत्यता है, सौंदर्य है, और है प्रेम-पथ का भीषण दृश्य। उसमें वह अटलता है जो हथेली पर सर लिये फिरनेवालों में ही देखी जाती है। प्रत्येक भाषा की लेखनी का चमत्कार इस भाव के प्रदर्शन में देखने योग्य है, वह साहित्य की एक अपूर्व सम्पत्ति है। थोड़े-से पद्य आप लोगों के अवलोकन के लिये यहाँ उपस्थित किये जाते हैं।

अति खीन मृनाल के तारहुँ तें तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई बेह ते द्वार सँकीन तहाँ परतीत को टाँडो लदावनो है।
कवि बोधा अनी घनी नेजहुँ ते चढ़ि तापै न चित्त डगावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल सखी तरवार की धार पै धावनो है॥ १॥

❀ ❀ ❀

कोऊ कहौ कुलटा, कुलीन, अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनी, कुनारी, हौं।
कैसो परलोक, नरलोक, वर लोकन में,
लीन्हीं मैं अलीक, लोक लोकन ते न्यारी हौं।
तन जाव, मन जाव, देव गुरुजन जाव,
जीव क्यों न जाव टेक टरति न टारी है।
वृंदाबन बारे बनवारी के मुकुट पर,
पीतपट वारी प्यारी मूरति पै वारी है॥ २॥

एक विजातीया परकीया की बातें सुनिये—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी तजे,
कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।
साँवरा सलोना सिर ताज दिए कुल्लेदार,
तेरे नेह दाग मैं निदाग हो दहूँगी मैं।
नंद के कुमार कुरबान तांडी सूरत पै,
ताब नाल प्यारे हिंदुआनी हो रहूँगी मैं॥ ३॥

❀ ❀ ❀

क्यों इन आँखिन सों निरसंक है मोहन को तन पानिप पीजै।
नैकु निहारे कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे कै जीजै।
होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस लीजै॥ ४॥

भेस भये बिख भावते भूखन भूख न भोजन की कछु ईछी।
मीच की साध न सोंधे की साध न दूध सुधा दधि माखन छीछी।
चदन तौ चितयो नहीं जात चुभा चित माँहि चितौनि तिरीछी।
फूल ज्यो सूल सिला सम सेज बिछौनन बीच बिछी जनु बीछी॥ ५ ॥

इस भाव के कुछ फ्रेंच भापा के पद्य भी देखिये—

Oh ! que l'amour est charmante !
Moı, sı ma tante le vent bıeu,
J'y suıs bıen consentante,
Maıs sı ma tante ne vent pas
Daus un convent J y entre.
Ah due l'amour est charmante !
Maıs sı ma tante ne vent pas,
Daus un convent J'y entre,
J'y prıeraı Dılu four mes parents,
Maıs non pas four man tante

"आह ! प्रेम करने में कैसा सुख है ! यदि मेरी चाची सिर्फ इसके लिए आज्ञा दे दे। हाय ! इस बात को मैं कितना चाहती हूं ! यदि चाची ने आज्ञा न दी तो मैं उपासना मदिर मे जाऊँगी"

"आह प्रेम मे कैसा सुख हे ! किंतु यदि मेरी चाची मुझे इसकी आज्ञा न देगी, तो मै किसी उपासना मंदिर मे जाऊँगी वहाँ ईश्वर से सब के (सब संबंधियो के) लिये प्रार्थना करूँगी, पर अपनी चाची के लिये नहीं।"

Mon per' me dıt tonjours,
Marie toı, ma fille !
Non, non, mon, pere,
Je ne venx plus aımer,

Car mon amant est I earmeea
Elle s'est habileec
En brance militaire,
Ell'fit conper priser ses blonds chevenx.
A la facon d'son amourenx

"पिता नित्य मुझसे कहते हैं कि बेटी! दूसरे से व्याह कर ले। नहीं नहीं, पिता मैं फिर से दूसरे से प्रेम नहीं कर सकती, क्यों मेरे हृदय का देवता सेना मे है।"

"(प्रेमी के लौटने की संभावना न देखकर) बालिका ने पुरुषोचित वेष बनाया, प्रेमी की ही भाँति अपने सुंदर, मुलायम, घूँघरवाले बाल कटवा दिये। इसके बाद उसने सेना की ओर यात्रा की।"

कुछ उर्दू के पद्यों को भी देखिये।

गुल है जखमी बहार के हाथों। दिल है सदचाक यार के हाथों।
दम बदम कता होती जाती है। उम्र लैलो निहार के हाथों।
जाँ बलब हो रहा हूँ मिस्ले हुवाब। मैं तेरे इन्तजार के हाथों।
इक शिगूफा उठे हैं रोज नया। इस दिले दागदार के हाथों।
यह जो खटके है दिल में काँटा सा। मिजा है नोकेखार है क्या है?
चश्मे बददूर तेरी आँखो मे। नशा है, या खुमार है क्या है?

❀ ❀ ❀

कैसी वफा! कहाँ की मुहब्बत! किधर की मेह!
वाकिफ ही तू नहीं है कि होता है यार क्या?

संसार की जितनी प्रेम कहानियाँ है, उनमे से अधिकांश का आधार परकीया है। चाहे वे भगवान् श्रीकृष्ण अथवा श्रीमती राधिका संबंधिनी कथाएँ हो, चाहे लैला मजनूँ, चाहे शीरीं फरहाद आदि की दास्ताने। किसी भाषा के साहित्यिक ग्रंथो, काव्यो, उपन्यासो और नाटको को उठा लीजिये, उनमे से अधिकतर में प्रेमिक एवं प्रेयसी. आशिक-माशूक, और लवर एवं बिलवेड् की कथाएँ बड़ी रसीली और

अोजस्विनी भाषाओं में लिखी मिलेंगी। कारण इसका यह है कि इस प्रकार की रचनाओं में बड़ी हृदयग्राहिता होती है। स्वकीया का मार्ग कंटकाकीर्ण नहीं होता, और न उसके मार्ग में आदिम प्रेम के पचड़े होते, इसलिए उसके मानस में वे भाव नहीं उदित होते जो परकीया के हृदय में नाना प्रकार की विघ्न-बाधाओं का सामना करने के कारण उत्पन्न होते हैं। अनेक संकटों में पड़ने, नाना दुःख झेलने और सैकड़ों झंझटों से टक्कर लेने पर जो सफलता मिलती है वह बड़ी मुग्धकरी और आनंदमयी होती है। उसका वर्णन बहुत ही चमत्कारक और मनोहर होता है, इसलिए हृदयों को मोह लेने की उसमें अपूर्व सामग्री मिलती है। उस वर्णन में आपत्तिपतिता, प्रेमोन्मादिता, विह्वला और नितांत उत्कंठिता का जो द्रावक क्रंदन सुना जाता है, जो मर्मवेधी पीड़ा देखी जाती है, जो उद्भ्रांत भाव दृग्गोचर होता है, उससे कौन ऐसा सहृदय है जो प्रभावित नहीं होता, और कौन ऐसा हृदय है जो द्रवीभूत नहीं बनता। यही कारण है कि उसकी कथाएँ रोचक होती हैं, चाव से पढ़ी सुनी जाती हैं और सब उन्हें प्यार करते हैं। यदि परकीया में वास्तविकता न होती, उसकी बातें सत्य न होकर कल्पित होतीं, तो उसमें इतनी स्वाभाविकता न मिलती। इसी स्वाभाविकता के कारण संसार के साहित्य में उसका आदर है, और यह व्यापक आदर ही उसके अस्तित्व के महत्त्व का प्रतिपादक है।

साहित्य-दर्पणकार कहते हैं, परकीया दो प्रकार की होती है, एक वह अविवाहिता कन्या जो माता पिता अथवा किसी दूसरे अभिभावक के अधिकार में रहते किसी पुरुष से स्वतंत्र प्रेम करती है, और दूसरी वह जो पति के आधीन होते पर-पुरुषानुरागिणी बनती है। रसमंजरी-कार भी यही लिखते हैं—

अप्रकटपरपुरुषानुरागा परकीया। सा द्विविधा परोढा कन्यका च। कन्यायाः पित्राद्यधीनतया परकीयता।

पहली गुरुजन का वंधन तोड़ती है, और दूसरी पतिदेव का। वर्त्तमान सभ्य जगत की ललनाएँ आज कल यही तो कर रही हैं। यूरोप और अमेरिका की कन्याएँ माता-पिता की परवा न करके आप स्वयं किसी पुरुष को वरण कर लेती हैं। वहाँ की पतिवती ललनाएँ पति का त्याग कर जब जी में आता है किसी अन्य को प्रियतम वना लेती है। उन सभ्य देशो मे ऐसा करना अनुचित नहीं समझा जाता, वरन् यह स्त्री जाति का स्वत्व समझा जाता है और माना जाता है कि ऐसा करने ही मे स्त्री जाति की मर्यादा और महत्ता सुरक्षित रहती है। क्योंकि इस प्रणाली से उनकी पराधीनता की वेड़ी कटती है, और स्वतंत्रता का सच्चा सुख उन्हे प्राप्त होता है। आज कल भारत की सुशिक्षिता ललनाएँ भी इन प्रथाओं की ओर सतृष्ण नेत्रो से देख रही है, और स्वयवरा होने की ही इच्छा दिन-दिन प्रवल नहो हो रही है, पतियों के परित्याग का अधिकार प्राप्त करने का उद्योग भी चल रहा है। यदि वांछनीय यही है, तो परकीया को नायिकाओ में स्थान देकर प्राचीन साहित्यकारो ने स्त्री-जाति के स्वत्व की ही रक्षा तो की है, उन्होंने प्रकृति की नाड़ो टटोलकर उस समय उनके इस अधिकार का स्वीकार किया, उनकी वेदनाओ और उत्कंठाओ का मार्मिक भाषा मे उल्लेख किया, जिस समय समाज उनको जैसी चाहिये वैसी अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था। इतना निवेदन करने के वाद क्या यह वतलाने की आवश्यकता रही कि परकीया का वर्णन युक्तिसंगत है या नहीं!

अब रही गणिका। समाज मे गणिका का भी उपयोग है। नाट्यशास्त्रकार महात्मा भरत ने अपने ग्रंथ मे वड़े विस्तार से यह लिखा है, कि नाटको मे गणिका की उपयोगिता से कहाँ-कहाँ कौन सा लाभ उठाया जा सकता है। एक नीतिशास्त्रकार गणिका के विषय मे यह कहता है—

देशाटनं पण्डितमित्रता च वारांगना राजसभाप्रवेशः।
अनेक शास्त्राणि विलोकितानि चातुर्यमूलानि भवन्ति पंच॥

"देशाटन, पंडित की मित्रता, वारांगना का सहवास, राजसभा-प्रवेश, अनेक शास्त्रों का अवलोकन, ये पाँचो चातुर्य्यकला सीखने के मूल हैं।"

महाराज भर्तृहरि ने नृप-नीति को वारागना के समान लिखा है, इस पद्य में उन्होंने वारागनाओं के कुछ गुणों का भी उल्लेख किया है। देखिये—

सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च।
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरावदान्या।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च।
वारागणेव नृपनीति अनेकरूपा॥

"सत्या है, अनृता भी; परुषा है, प्रियवादिनी भी, हिंस्रा है, दयावती भी, अनुदारा है, वदान्या भी, नित्यव्यया है, प्रचुर धनागमा भी; वास्तविक बात यह है कि वारागना के समान नृप-नीति अनेक रूपा है।"

साहित्यदर्पणकार भी उसको 'कापि सत्यानुरागिणी' लिखते हैं, मृच्छकटिक की वसन्तसेना इसका प्रमाण है। वे यह भी लिखते हैं—

तस्करा पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा।
लिंगिनश्छन्नकामाद्या आसा प्रायेण वल्लभाः॥

"चोर, नपुसक, मूर्ख, जिनको अनायास धन मिल गया है वे और छद्म वेपधारी, प्रच्छन्न कामुक पुरुष प्राय वेश्याओ के वल्लभ होते हैं।" कम से कम इस पद्य से यह तो ज्ञात होता है, कि दुष्टों के एक बहुत बडे दल से कुलागनाएँ वेश्याओ के कारण सुरक्षित रहती हैं। कभी-कभी दुष्टजनो और बदमोशो का जो आक्रमण कुल ललनाओ पर होता रहता है, वही इसका प्रमाण है। छावनियो के सैनिकों के लिये जिस प्रकार उनका उपयोग होता है, वह भी अविदित नहीं।

इन बातों पर विचार करने से यह नहीं कहा जा सकता कि समाज मे गणिकाओं का कुछ उपयोग नहीं। वास्तविक बात यह है कि इन्हीं दृष्टियों से नायिकाओं मे उनकी गणना है। शरीर में कुछ ऐसे अंग हैं,

जिनका नाम लेना भी अश्लीलता है, फिर भी वे शरीर में हैं और उपयोगी हैं। इसी प्रकार वेश्याएँ कितनी ही कुत्सित क्यों न हो, पर वे समाज का एक अंग हैं और उनका भी उपयोग है। इसीलिये साहित्य में उनकी चर्चा है। किंतु यह स्मरण रहे कि जहाँ उनका वर्णन है, वहाँ उनकी कुत्सा ही की गई है। नायिका-विभेद के ग्रंथो मे उनको स्वार्थ-परायण ही अंकित किया गया है। उनके कपटमय मानसिक भावों के चित्रण में जैसी उच्च कोटि की कविताएँ की गई हैं, कला की दृष्टि से उनकी जितनी प्रशंसा की जावे, थोड़ी है। कामुकों के आँख खोलने, और लम्पटों को सावधान करने की भी पर्याप्त सामग्री उनमें पाई जाती है जब एक वेश्या के मुख से कोई कवि कहलाता है—'नाथ हमै तुमैं अंतर पारत हार उतारि इतै धरि राखो'—उस समय जहाँ वह कवि कला का कमाल दिखलाता है, एक स्वार्थमय मानस का विचित्र चित्र खींचता है, वहीं यह भी बतलाता है कि किस प्रकार गणिकाओं की मधुरतम बातों में प्रतारणा छिपी रहती है, और कैसे वह प्रेम का कपट जाल फैलाकर कामुको को फाँस लेती है। इस पद्य में विवेकियों के लिये यह सुंदर शिक्षा है, और असावधानों के लिये सावधानता का मंत्र। इसलिये जिस दृष्टि से देखा जावे साहित्य मे गणिकाओं का नायिका रूप से ग्रहण असंगत नहीं ज्ञात होता।

एक बात और सुनिये। हाल मे अमेरिका की किसी कौंसिल मे यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि वहाँ की गणिकायें नगर के बाहर बसाई जावें, और नगर मे रहने का उनका अधिकार हरण कर लिया जावे। प्रस्ताव उपस्थित होने पर यह तय पाया कि पहले यह निश्चित कर लिया जावे कि किन आधारों से कोई स्त्री गणिका मानी जा सकती है। यह बात स्वीकृत हुई और आधार निश्चित किये जाने लगे। किंतु कौन गणिका है और कौन अगणिका यह निश्चित करने मे इतना विवाद बढ़ा कि कोई बहुसम्मत आधार ही निश्चित न हो सका। परिणाम यह हुआ कि प्रस्तावक

को प्रस्ताव उठा लेना पड़ा। यह वर्तमान सभ्य जगत के सर्वप्रधान देश का हाल है, तर्क करने वाले महाशय इस रहस्य का उद्घाटन करके स्वयं सोचें कि गणिका का नायिकाओं में स्थान पाना सगत है या असगत।

साहित्यकारों ने स्वय यह बतलाया है कि कौन-कौन विषय अश्लील और जुगुप्सा-जनक हैं। यदि उन की दृष्टि में नायिका-भेद असमर्यादित और जुगुप्सा-मय होता तो कभी वे अपने ग्रथों मे उसे स्थान न देते और न उसे शृगार रस मानते। प्राय ब्रजभाषा की नायिका-भेद की रचनाओ पर कटाक्ष करते हुए यह कहा जाता है कि जिस समय भारत का पतन हो रहा था, और वह दुर्व्यसनों और भोग लिप्साओं मे फंस गया था, उन्हीं दुर्दिनो मे नायिका भेद की कल्पना की गई, और विषय-प्रिय लोगों के उत्साह दान से वह लालित, पालित और परिवर्द्धित हुई। किंतु इतिहास से ऐसा पाया नहीं जाता। नायिका भेद का इतिहास आप लोग सुन चुके। जिस काल में उसकी उद्भावना हुई, उस समय ब्रजभाषा का कंठ भी नहीं फूटा था, फिर उस पर इस प्रकार का कटाक्ष कहाँ तक सगत है।

शृगार रस का दुरुपयोग

ससार मे उत्तम से उत्तम और पवित्र से पवित्र कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसका दुरुपयोग न हो सके। सुधा स्वर्गीय पदार्थ है, और उसमें जीवनप्रदान क्षमता है। किंतु यदि किसी ससार-उत्पीड़क को जीवन दान करने के लिये उसका उपयोग होगा, तो यह उपयोग सदुपयोग न होगा, दुरुपयोग कहलावेगा। जल का नाम जीवन है, यदि उसका उपयोग उचित मात्रा मे होगा, तो वह स्वास्थ्यरक्षा का प्रधान साधन बनेगा, किंतु यदि वह आवश्यकता से अधिक पी लिया जावे, तो व्याधि का कारण और कष्टदायक होगा। इसलिये सब वस्तुओ का सदुपयोग ही वाछनीय है। शृगार रस क्या है, यह मै बतला चुका हूँ, उसकी उपयोगिता ससार-व्यापिनी है, किंतु दु ख है, उसका दुरुपयोग भी हुआ।

संस्कृत के कुछ महाकवियों ने भी ऐसा किया, और व्रजभाषा के अनेक कवि एवं महाकवियों ने भी। महाकवि कालिदास की कुछ रचनाएँ अश्लील है। कुमार संभव के अष्टम सर्ग में उन्होंने पार्वती देवी के साथ भगवान् शिव का जो विहार-वर्णन किया है वह अवर्णनीय था। अनेक संस्कृत के विद्वानों ने इसकी निंदा की है। साहित्यदर्पणकार लिखते है—

यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः—यथा कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगशृंगारवर्णनम्।

"जो जैसी प्रकृति का है, उसके स्वरूप के अनुरूप वर्णन न होने से प्रकृति विपर्यय दोष होता है, जैसे कुमारसंभव में उत्तम देवता श्रीपार्वती और महादेव का संभोग शृंगार वर्णन करना।

आचार्य मम्मट भी यही कहते हैं—

"रतिः संभोगशृंगाररूपा उत्तमदेवताविषयान वर्णनीया, तद् वर्णनं हि पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यमनुचितम्।"

"उत्तम देवता विषयक संभोग शृंगार वर्णन करना योग्य नहीं, उसका वर्णन माता-पिता के संभोग वर्णन समान अत्यन्त अनुचित है।"

उनका मेघदूत बड़ा ही अपूर्व ग्रंथ है, किंतु कभी-कभी सुरुचि पर उसके द्वारा भी वज्रपात होता है। शृंगार-लतिका का कोई-कोई पद्य-पुष्प भी जैसा चाहिये वैसा सुगंधित नहीं। नैषध हो, चाहे माघ, चाहे किरातार्जुनीय—लगभग सभी काव्य-ग्रंथों में कुछ न कुछ पद्य ऐसे हैं जो परिमार्जित रुचि के नहीं कहे जा सकते। गीत-गोविंद की कोमल कांत पदावली की जितनी प्रशंसा की जावे थोड़ी है, इस विषय में कोई काव्य ग्रंथ उसका समकक्ष नहीं। पद्यों को पढ़िये तो ज्ञात होता है कि एक-एक शब्द सुधा वर्षण कर रहा है। कांती की दृष्टि से वह अद्वितीय है। किंतु इस रस सरोवर में कुछ ऐसे भावकमल हैं, जिनको सुरुचि कमनीय नहीं मानती। नाटकों में प्रायः नांदी-पाठ के ऐसे पद्य मिलते हैं, जो सुरुचि संगत नहीं कहे जा सकते। वास्तविक बात यह है कि

संस्कृत-साहित्य अश्लीलता तो मानता है, किंतु जहाँ कोई विषय किसी भाव के न वर्णन करने से अपूर्ण रह जाता है, अथवा जहाँ कोई आशय प्रसंग प्राप्त सत्य है, वहाँ वह उसकी पूर्ति को ही प्रधानता देता है। उस समय वह अश्लीलता के फेर में नहीं पडता। क्योंकि अश्लीलता की भी सीमा है। वैद्यक ग्रंथों में जहाँ नाना रोगों की व्याख्या है, क्या वहाँ गुप्तांगों के रोगों का वर्णन न होगा, अवश्य होगा और यदि अवश्य होगा, तो उन अंगो के एक-एक अंश का क्या खुला निरूपण उसमे न मिलेगा? यदि मिलेगा, तो क्या इससे ग्रंथ में अश्लीलता आ जावेगी? कोषों में वे शब्द मिलते हैं, मुख से जिनका उच्चारण करते संकोच होता है। उनमें ऐसे शब्द मिलते ही नहीं, उनका पूरा विवरण भी होता है, तो क्या इससे कोष निंदनीय बन जाता है? स्त्री के वे अंग जो सदा गुप्त रखे जाते हैं, जिनकी ओर दृष्टि उठाकर देखना भी अभद्रता समझी जाती है, जिनकी चर्चा भी कलंकित करती है। डाक्टर उन्हीं अंगों की जाँच पडताल करता है, उनका स्पर्श करता है, आवश्यकता होने पर उनको टटोलता है, उनको चीरता-फाड़ता है, तरह-तरह से उन्हें देखता-भालता है, परन्तु यह कार्य गर्हित नहीं माना जाता और न डाक्टर ही को कोई बुरा कहता है, क्योंकि उसका उद्देश्य सत् है। ऐसा करने के समय वह मनोविकार-ग्रस्त नहीं होता, और न उसकी निर्दोष मनोवृत्ति पापवासना-मूलक होती। विशेषज्ञ लोग कला की सर्वांग पूर्णता के लिये साहित्य-कारों के अश्लीलता उपेक्षा-संबंधी कार्य को इसी प्रकार का मानते हैं। मत-भिन्नता को कहाँ स्थान नहीं, परन्तु एक हद तक यह सिद्धांत स्वीकार किया जा सकता है। मैं समझता हूँ, संस्कृत-साहित्य की इस प्रकार की बहुत सी रचनाएँ इस हद के अंदर आ जा सकती हैं। परंतु उसमें भी ऐसे कवि पाये जाते हैं, जिनकी काम-वासनामय प्रवृत्ति उनसे ऐसी अश्लील रचना कराने मे समर्थ हुई है, जो किसी भाँति

अनुमोदनीय नहीं। कुछ ऐसी ही रचनाएँ व्रजभाषा में भी है।'

श्रीमती राधिका का पद बहुत ऊँचा है, उनको वही गौरव प्राप्त है, जो किसी लोकाराधनीया ललना को दिया जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण यदि लोक-पूज्य महापुरुष है, तो श्रीमती राधिका सर्वजन आहता रमणी। वे यदि मूर्तिमान् प्रेम है, तो ये मूर्तिमती प्रेमिका। वे यदि विष्णु के अवतार है, तो ये है लक्ष्मी स्वरूपणी। वे यदि है देवादिदेव, तो ये है साक्षात् स्वर्ग की देवी। अपने सच्चे प्रणय और नि.स्वार्थ प्रेम के कारण ही उनके नाम को भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र नाम के प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। कहा जाता है, श्रीमद्भागवत मे उनका नाम नहीं, रामानुजाचार्य्य ने भी ईश्वरीय युगल मूर्ति की कल्पना के समय उनका स्थान रुक्मिणी देवी को दिया, इसलिये उनको अथवा उनके नाम को वह महत्ता नहीं प्राप्त होती, जो अन्य देव-विभूतियो को मिलती है। भागवत मे भले ही उनका नाम न हो, किंतु ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्ण-खंड और खिल हरिवंश पर्व मे उनका नाम मिलता है। महात्मा विष्णु स्वामी और निम्बार्काचार्य्य ने राधा नाम की प्रतिष्ठा की है, महाप्रभु वल्लभाचार्य्य ने भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना के साथ श्रीमती राधिका के स्वर्गीय प्रेम का प्रचार भी किया है। स्वामी हित हरिवंश ने तो राधा-वल्लभी एक संप्रदाय ही बना डाला, जिसमे उन्होंने उन्हीं को सर्वाराध्या बतलाया। चैतन्यदेव स्वयं मूर्तिवान् राधा थे, उन्होंने श्रीमती राधिका के उदात्त प्रेम का जो आदर्श उपस्थित किया वह अभूतपूर्व है। वंग कवि चंडीदास, मैथिल-कोकिल विद्यापति, पीयूषवर्षी महापुरुष जयदेव और प्रज्ञाचक्षु महाकवि सूरदास ने जिस विश्वव्यापी स्वर मे श्रीमती राधिका का गुणगान किया, वह लोक विश्रुत है। उत्तरीय भारत और गुजरात के लक्षाधिक मंदिरो मे भगवान् श्रीकृष्ण के साथ श्रीमती राधिका की मूर्त्ति आज भी प्रतिष्ठित है। लगभग सहस्र वर्ष से वे करोड़ो हिंदुओ के भक्ति-मंडित हृदय

सिंहासन पर विराजमान हैं। उनके विषय में उनके सम्प्रदाय वालों और संस्कृत के कुछ प्रधान ग्रंथों ने जो लिखा है, वह तो उनको सर्व लोकों से उच्च गोलोक की अधिष्ठातृ देवी और जगदंबिका बतलाता ही है, किंतु नव शिक्षा-दीक्षा दीक्षित लोगों ने वर्तमान काल में उनके विषय में जो लिखा है, वह भी उनकी महत्ता का पूर्ण द्योतक है—बंगभाषा ओ साहित्य-कार बाबू दीनेशचंद्र सेन बी० ए० अपने ग्रंथ के पृष्ठ २४४ में यह लिखते हैं—

"अपूर्व प्रेम और भक्ति के उपकरण से श्रीमती राधिका सुंदरी निर्मित हैं, वे आयशा अथवा कुंदनंदिनी नहीं हैं—जो उनके विरहजन्य कष्ट की एक कणिका वहन कर सके, अथवा उनके सुख-समुद्र की एक लहरी धारण करने में समर्थ हो, इस प्रकार का नारी चरित्र पृथ्वी के काव्योद्यान में कहाँ है।"

बंग प्रांत के प्रसिद्ध विद्वान् और लेखक श्रीयुत पूर्णचंद्र वसु अपने 'साहित्य चिंता' नामक ग्रंथ में श्रीमती राधिका के विषय में यह लिखते हैं—

"आर्यों के भक्ति शास्त्र में एक और भी आदर्श प्रेम है, राधा उस प्रेम की प्रतिमा हैं, गोपियाँ उस प्रेम की सहचरी हैं। राधिका मधुर गोपिका-प्रेम का प्रकृष्ट निदर्शन हैं। पति-पत्नी का प्रेम जहाँ तक उन्नत हो सकता है, उस उन्नतावस्था को राधिका का प्रेम पहुँचकर कृष्ण भक्ति से परिपूर्ण हो गया था। इसीसे इस भक्ति का नाम प्रेमा-भक्ति है। दाम्पत्य प्रेम की परिपूर्णता को भगवदर्पण करना ही इसका उद्देश्य है, क्योंकि भगवान ही प्राणवल्लभ हैं। राधिका और गोपियों के अतिरिक्त और कोई नहीं कह सकता कि भगवान् हमारे प्राणवल्लभ हैं। सत्यभामा ने ऐसा कहा था, पर राधिका-प्रेमी कृष्ण ने उनका यह दर्प चूर्ण कर दिया था। सत्यभामा का प्रेम दर्पित भक्ति का रूप था, वह राधिका की आत्मसमर्पण कारिणी प्रेमाभक्ति की तुलना नहीं कर सकता। रुक्मिणी की भक्ति में प्रेम की मधुरता दाम्पत्य प्रेम की मधुरता में मिल

गई थी, जिससे उनका प्रेम पूर्णता को प्राप्त हो चुका था। राधिका उसी प्रेम भक्ति मे उल्लासिनी और कृष्ण लीलामयी हो गई थीं। उनके लिये कृष्ण का प्रेम ही ससार था, वही उनका सर्वस्व था। कृष्ण ही राधा के धन, सुख और चिंता थे. वे श्याम के प्रेम मे ही मत्त थीं।"

श्रीमती राधिका की इस महिमामयी मूर्ति को व्रजभाषा के थोड़े से ही कवियो अथवा महाकवियो ने पहचाना, अधिकांश ने उनको एवं भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओ को साधारण दृष्टि से ही देखा और साधारण दृष्टि से ही उनको अंकित किया। इस प्रकार के कविगण भी अधिक उपालंभ योग्य नहीं, क्योंकि फिर भी उनकी रचनाएँ अमर्यादित नहीं। दु ख उन कवियो के कृत्य पर है, जिन्होने साधारण विपयी पुरुप स्त्री के समान उनके चरित्रो को अकित किया और इस प्रकार पवित्र शृंगार रस का दुरुपयोग करके व्रजभाषा को भी कलंकित बनाया। माता-पिता की विहार-संबंधी अनेक बातें ऐसी हैं, जिनको पुत्र अपने मुख पर भी नहीं ला सकता, उनके विषय में अपनी जीभ भी नहीं हिला सकता, क्योंकि यह अमर्यादा है। देखा जाता है, आज भी कोई पुत्र ऐसा करने का दुस्साहस नहीं करता। फिर भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमती राधिका के हास-विलास का नग्न चित्र क्यो अंकित किया गया? क्या वे जगत् के पिता माता नहीं और हम लोग उनके पुत्र नहीं? क्या ऐसा करके बड़ा ही अनुचित कार्य नहीं किया?

खेद है कि ऐसी धृष्टता उन्हीं कवियों के हाथ से अधिकतर हुई जिन्होंने नायिका भेद के ग्रंथ लिखे। उन्हीं लोगों के कारण ही आज-कल नायिका भेद की रचनाओ की इतनी कुत्सा हो रही हैं। नायक के रूप मे मुरली-मनोहर और नायिका के रूप में श्रीमती राधिका का ग्रहण किया जाना, उनके लिये अनर्थों का मूल हुआ। इस अविवेक का कहीं ठिकाना है कि करते हैं छीछालेदर जगत् के माता-पिता की और समझते हैं, उसको पवित्र भगवत् सुयश-गान! उत्तर काल में यह

भाव इतना प्रबल हुआ कि सत्-असत् का ज्ञान ही जाता रहा। मंदिरों मे भजन करने के लिये बैठे हैं, श्रोतृमडली भगवत् गुणानुवाद सुनकर पुण्य-सचय करने के लिये एकत्र है। किंतु हम प्रारभ करते हैं, ऐसे गान और पढ़ने लगते हैं ऐसी कविताएँ जिनको सुनकर निर्लज्जा के कान भी खड़े हो। परतु सोचते हैं यही कि स्वर्ग का द्वार उन्मुक्त हो रहा है और हम पर पुष्प-वृष्टि करने के लिये गगन-पथ में देवताओं के विमान चले आ रहे हैं। इससे बढकर दूसरा अज्ञान क्या होगा? कहते मर्मपीडा होती है कि यह अज्ञान हम लोगो मे इतना घुसा कि उससे समाज का बहुत बड़ा अपकार हुआ, आज भी हो रहा है, किंतु हमारी आँखे ठीक-ठीक कहाँ खुली!

यह मैं स्वीकार करता हूँ कि प्रेम-देव भगवान् श्रीकृष्ण और प्रेम-प्रतिमा श्रीमती राधिका को लाभ कर व्रजभाषा-साहित्य मे वह जीवन आया और उसका ऐसा शृंगार हुआ कि न भूतो न भविष्यति। व्रजभूमि ने यदि उसे भव्य बनाया, तो कलिंदतनया ने उसमे वह रस-धारा बहाई, उसको उन ललित लहरियों से लसाया, उन कल-कल रवो से और मनोहर दृश्यो से सुशोभित किया कि जिसकी प्रशसा शत मुख से भी नही हो सकती। कहाँ है वृन्दावन सा वन और कहाँ हैं व्रज की कलित कुजो-सी कुजें। किस भाषा की कविता मे वह अलौकिक मुरलिका बजी, वह विश्व विमुग्धकर गान हुआ, जिसको सुन पशु-पक्षी तक विमुग्ध हो गये, वृक्ष का पत्ता-पत्ता पुलकित हो गया। किस काव्य ससार को मनमोहन-सा रसिक शिरोमणि, माधव-सा मधुर हृदय, कोटि काम कमनीय कृष्ण-सा लोकमोहन और अखिल कलाकुशल केशव सा कामद कल्पतरु प्राप्त हुआ। किस साहित्य ने श्रीमती राधिका-सी लोकललाम रमणी, वृषभानु-नंदिनी-सी प्रेमपरायणा, सरल-हृदया, त्यागमयी, आनंद की मूर्ति युवती पाई। किंतु दुःख है कि कुछ अविवेकी कवियो ने इस महत्त्व को नहीं समझा और उलटी ही गंगा बहाई।

मै यह भी मानता हूँ कि जिस समय अपने सूफी धर्म के प्रेम की मधुरता और मोहकता की ओर कुछ मुसलमान धर्म के उन्नायक हिंदुओं के हृदय को आकर्षित कर रहे थे, मलिक मुहम्मद जायसी जैसे सत्कवि प्रेम कहानियाँ हिंदी मे लिखकर हिंदुओं के मानसचित्रपट पर लैला-मजनूँ, शीरीं फरहाद एव यूसुफ-जुलेखा की प्रेम प्रणाली का चित्र अंकित कर रहे थे। जब निर्गुणवादी संतों के चेले खंजरी पर विराग के गीत गा-गा हिंदू जनता को घर-बार छोड़ने के लिये उत्सुक बना रहे थे, उसके हृदय मे देवी देवता की अप्रीति उत्पन्न कर उसे निरुद्देश्य बनाने मे दत्त-चित्त थे, उस समय विष्णुस्वामी, निम्बार्काचार्य्य और विशेष कर महात्मा वल्लभाचार्य्य ने प्रेममय श्रीकृष्ण की उपासना के लिये श्रीमती राधिका का अनुराग और त्याग-पूर्ण-आदर्श उपस्थित कर जो उपकार हिंदू-जाति का किया वह स्वर्णाक्षरों मे लिखने योग्य है। उसके प्रभाव ने जहाँ ऐसे लोग उत्पन्न किये, जिन्होंने समझा कि भगवद्भक्ति अथवा ईश्वरानुराग प्राप्ति के लिये गृह-त्याग आवश्यक नहीं, वहाँ चैतन्य देव जैसे महापुरुष और मीराबाई जैसी पवित्र-चरित्रा रमणी को भी जन्म दिया। जिन्होंने श्रीमती राधिका के आदर्श पर प्रेममय जीवन व्यतीत कर अपना ही नहीं, भारतवर्ष के अनेक प्राणियों का उद्धार किया। आज भी बंगाल-प्रांत मे करोड़ों स्त्री-पुरुष चैतन्य देव के आदर्श पथ के पथिक हैं। मीराबाई के हृदय मे प्रेम की कैसी प्रबलधारा बही, उसको निम्नलिखित पद्यो मे देखिये—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल।
मोहनी मूरति साँवरी सूरति नयना बने बिसाल।।
अधर सुधारस मुरली राजित उर बैजंती माल।
छुद्र घंटिका कटितट सोभित नूपुर सब्द रसाल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई भक्तबछल गोपाल ॥ १ ॥

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
दूसरो न कोई साधा सकल लोक जोई।
भाई तजा बंधु तजा तजा संग सोई।
साधुन सँग बैठि बैठि लोकलाज खोई।
भगत देख राजी भई जगत देख रोई।
अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम-वेलि बोई।
अब तो बात फैल गई जानै सब कोई।
मीरा को लगन लगी होनि हो सो होई॥ २॥

कृष्णगढ़ के महाराज सावतसिंह उपनाम नागरीदास ने राधाकृष्ण-प्रेम-पथ के पांथ बनकर ही राज्य को तृणसमान त्यागा और प्रेम-रस निचुड़ती हुई ऐसी सरल कविताएँ कीं, जिनको पढ़कर आज भी सुधा-रस का आस्वादन होता है। रसखान जाति के मुसलमान थे, उन पर युगल-स्वरूप की माधुरी ने ऐसा जादू डाला कि वे अपना धर्म त्याग कर वैष्णव बन गये और ऐसी सच्ची वैष्णवता दिखलाई कि गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपनी २५२ वैष्णवों की वार्ता में उनको भी सादर स्थान दिया। देखिये, निम्नलिखित पद्यों में उनके हृदय का सच्चा प्रेम कैसा छलका पड़ता है—

मानुस हौं तो वही रसखान बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु मझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥ १॥

❀ ❀ ❀ ❀

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाय चराय बिसारौं।
आँखिन सों रसखान कबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करीर के कुंजन ऊपर वारौं॥ २॥

यह राधा-कृष्ण-प्रेम का प्रवाह हिंदी-साहित्य संसार में इतना व्यापक है कि जो प्रेम के रंग में सच्चे जी से रँगा, वही इस युगल-मूर्त्ति की प्रीति-डोरी में बँध गया। हित हरिवंश और हरिदास आदि महात्मागण, अष्ट छाप के वैष्णव और घनआनंद आदि सुकविगण ने इस रंग में रँगकर जो रचानाएँ की हैं वे बड़ी ही भावमयी एवं मधुर हैं; स्थान-स्थान पर उनमें सच्चे प्रेम का सुंदर चित्रण पाया जाता है—कुछ रचनाएँ घनआनंद की देखिये—

गुरनि बतायो राधा मोहन हूँ गायो सदा
सुखद सुहायो वृंदावन गाढे गहु रे।
अद्भुत अभूत महि मंडन परे ते परे
जीवन को लाहु हा! हा! क्यों न ताहि लहु रे।
आनँद को घन छायो रहत निरंतर ही
सरस सुदेय सों पपीहापन बहु रे।
जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर
ऐसे पावन पुलिन पै पतित परि रहु रे॥

❀ ❀ ❀ ❀

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेको सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साचे चलैं तजि आपनपौ झिझकै कपटी जो निसाँक नहीं।
घन आनँद प्यारे सुजान सुनौ इत एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

❀ ❀ ❀ ❀

हमसों हित कै कितकों नित ही चित बीच वियोगहि पोइ चले।
सु अखेबट बीज लौं फैलि पर्‌यो बनमाली कहाँ धौं समोइ चले।
घन आनँद छाँह वितान तन्यो हमें ताप के आतप खोइ चले।
कबहूँ तेहि मूल तौ बैठिये आइ सुजान जो बीजहिं बोइ चले॥

इतना ही नहीं, इस युगल मूर्ति के प्रेम और मधुर लीलाओं के रस का प्रवाह मर्यादित एवं सयत रामावत संप्रदाय में भी बहा। पहले पहल 'हरि' नामक संस्कृत के एक सुकवि और सहृदय विद्वान् ने 'जानकीगीतम' नामक एक गीति काव्य लिख कर 'गीतगोविद' का सफल अनुकरण किया। अभी इनका काल निश्चित नही हुआ, किंतु इन्हें विलास वर्णन और सरस पद विन्यास मे गीतगोविंदकार का समकक्ष कहा जा सकता है। उनका एक पद्य देखिये—यह पद्य गीतगोविद के 'ललित लवगलता परि-शीलन कोमल मलय समीरे' गीत के आधार पर लिखा गया है—

मृदुल रसाल मुकुल रसतुदिल पिकनिकरस्वन भासे।
माधविका सुमना नव सौरभ निर्भर सकलिताशे॥

❀ ❀ ❀ ❀

विलसति रघुपति रति सुख पुजे।
निर्मल मलयज कुकुम पकिल तनुरिह वरतनु पुजे।
विषम विशिख कर नखर निचय सम किंशुक कुसुम कराले।
मानवतीगणमानविदारिणि चञ्चलमधुकरजाले॥
धृत मकरन्द सुगध गधवह भाजि विराजित शोभे।
विविध वितान कान्ति परिशीलन जनित युवति जन लोभे।
हरि परिरचितमिद मधुवर्णन मनु रघुनाथमुदारम्।
पिबत बुधा मधु मधुर पदावलि निरुपम भजनसुधारम्॥

ऐसा करना उचित हुआ अथवा अनुचित, यह अन्य विषय है। किंतु इसका अनुकरण बहुत हुआ। साकेतपुरी—लक्ष्मण टीला के प्रसिद्ध महत युगलानन्यशरण इसके प्रभाव से विशेष प्रभावित हुए। उन्होंने श्रीमती जानकी देवी और उनकी सखियो को लेकर भगवान् रामचंद्र का रास-मडल तक लिख डाला। उनकी एवं उन्हीं की मडली के कतिपय सहृदय कवियों की रचनाएँ अष्टछाप के वैष्णवो की रचनाओं-सी ही सरस हैं। किंतु उनमे वास्तविकता कहाँ, काया काया है और छाया

छाया। हाँ, राधा कृष्ण की माधुर्य उपासना का रंग उनमें लबालब भरा है।

यह सब जानते और मानते हुए भी यह कहना पड़ता है कि ब्रज-भाषा मे कुछ ऐसी रचनाएँ है जिनमे वीभत्स कांड की पराकाष्ठा हो गई है। मैं उदाहरण के लिये कुछ ऐसी कविताएँ उद्धृत कर सकता हूँ, किंतु ऐसा करना युक्तिसंगत नही ज्ञात होता। जिस अश्लीलता की निंदा की जा रही है, उसी से इस ग्रथ के कलेवर को कलंकित करना क्या उचित होगा? ऐसी रचनाये प्राय. नायिका भेद के रीति ग्रंथो मे पाई जाती है। प्रेम के रंग मे रँगकर केवल प्रेम के निरूपण अथवा वर्णन में जो कविताएँ की गई अथवा ग्रंथ रचे गये उनमे इस प्रकार का दोप वहुत कम मिलता है।

हृदय के उद्गार मानसिक भावो के चित्र होते हैं। मनुष्य जैसा सोचता विचारता है, वैसे ही भाव अवसर आने पर प्रकट करता है। जो व्यसन-प्रिय है, जिसको नग्न चित्र अंकित करना ही प्यारा है, उससे यह आशा नही हो सकती, कि वह परमार्जित रुचि की वाते लिखेगा, अथवा कहेगा। संसार विचित्रतामय है, उसमें सभी प्रकार के लोग हैं। इसलिये यह नहीं सोचा जा सकता कि कभी इस प्रकार के लोग पृथ्वी मे न रहेंगे। यदि यह सत्य है तो यह भी सत्य है, कि अश्लीलता का किसी काल मे लोप न होगा, वह सदा रहेगी, समयानुकूल उसमे थोड़ा वहुत परिवर्तन भले ही होता रहे। कोई देश ऐसा नहीं जिसमें इस प्रकार के मनुष्य न हों, कोई समाज ऐसा नहीं, जिसमें यह रोग न लगा हो, और कोई साहित्य-सुमन ऐसा नहीं, जिसमे यह कंटक न हो। विश्व मे सुरुचि के लिये ही जगह है, कुरुचि के लिये नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। 'त्यागभूमि' के तीसरे वर्प के छठे अंक पृष्ठ ६८३ मे महात्मा गांधी का एक लेख 'नव-जीवन' से उद्धृत हुआ है, उसमे वे लिखते हैं—

'कोई देश और कोई भापा गंदे साहित्य से मुक्त नहीं है। जव तक

स्वार्थी और व्यभिचारी लोग दुनिया मे रहेंगे, तब तक गदा साहित्य प्रकट करनेवाले और पढ़नेवाले भी रहेंगे'।

उर्दू-साहित्य अश्लीलतामय है, उसमे चिरकीं और जाफर जटल ऐसी कुत्सित प्रवृत्ति के कवि हो गये हैं, कि जिनकी जितनी कुत्सा की जावे थोडी है। चिरकी का एक दीवान है, जो मलमूत्र के वर्णन से भरा पडा है। जाफर जटल भी उनसे पीछे नही है, गंदा मजमून लिखने मे वह अपना सानी नही रखता। इसीलिये मौलाना हाली यह लिखने के लिये विवश हुए—

बुरा शेर कहने की गर कुछ सजा है।
अबस झूठ बकना अगर नारवा है।
तो वह महकमा जिसका क़ाजी खुदा है।
मुकर्रर जहाँ नेको बद की सजा है।
गुनहगार वाँ छूट जावेंगे सारे।
जहन्नुम को भर देंगे शायर हमारे।

जव इन बातो पर दृष्टि डाली जाती है, तो व्रजभाषा के अपरिमार्जित रुचि के कवियो के अपराध की मात्रा अपेक्षाकृत न्यून हो जाती है, क्योंकि उनका इतना पतन नही हुआ। फिर भी वे क्षमा नही किये जा सकते। क्योंकि जिनको जगत् का पिता माता माना, उनका सुरत वर्णन करते उनकी लेखनी कुंठित नहीं हुई। साहित्यदर्पणकार ने यह लिखा है—

'सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्व तथा पुन'

'जहाँ कामगोष्ठी हो वहाँ अश्लीलत्व गुण होता है'

कुछ लोग इस सूत्र के आधार से यह अनर्गल प्रलाप करते है, कि जब कामगोष्ठी मे अश्लीलत्व गुण होता है, तो सुरत वर्णन मे जो अश्लीलता मिले, वह सदोष नही कही जा सकती। ज्ञात होता है संस्कृत के कुछ साहित्यकारो ने सुरत वर्णन मे जो अनुचित स्वतन्त्रता ग्रहण की है, उसका आधार इसी प्रकार का कोई प्राचीन सूत्र होगा। परतु वास्त-

बिक बात यह है कि साहित्यदर्पण के सूत्र का यह भाव कदापि नहीं है। वह तो यह कहता है कि यदि सुरत वर्णन के समय गुप्त स्थानों का खुला नाम अश्लीलता बचाने के लिये न लिखकर उसका पर्यायवाची ऐसा कोई शब्द उसके स्थानपर लिख दिया जावे, जिसका दूसरा अर्थ भी हो तो वह शब्द अश्लील न समझा जावेगा, क्योंकि उसका प्रयोग दोष दूरीकरण के लिये ही हुआ। ऐसी अवस्था मे साहित्यदर्पण का उक्त सूत्र सुरत वर्णन मे अश्लीलता का प्रतिपादक नहीं, वरन् विरोधी है। दूसरी बात यह कि जब स्पष्ट शब्दों मे कह दिया गया कि—

'अश्लीलत्व व्रीडाजुगुप्साऽमंगलव्यञ्जकत्वात् त्रिविधम्'

"लज्जा, घृणा और अमंगल व्यंजक होने से अश्लील तीन प्रकार का होता है।" साहित्यदर्पण।

तो फिर बात गढ़ कर उस पर पर्दा डालने से हास्यास्पद ही बनना होगा, इष्ट सिद्धि न होगी। अश्लीलता का रूप इतना व्यापक है कि जो वर्णन लज्जाजनक, घृणाव्यंजक, और अमंगलमूलक होगा, वह सब अश्लीलता दोष से दूषित हो जावेगा। सुरत का वर्णन ही लज्जाजनक और घृणाव्यंजक है, यदि साहित्य का अंग समझ कर उसका वर्णन किया जावे ही तो उसको संयत से संयत होना चाहिये, न यह कि खुल खेला जावे, और कोढ़ मे खाज पैदा की जावे। यह तो साधारण सुरत वर्णन की बात है। माता-पिता का सुरत वर्णन तो हो ही नहीं सकता। नायिका के अंग प्रत्यंग और उनके हास-विलास और क्रीड़ादि का वर्णन भी किसी किसी कवि ने असंयत भाव से कर अपनी रचना को कामुकता का अखाड़ा बना दिया है। ये ऐसे दोष हैं कि इन पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। फिर क्यों न कहा जावे कि इस प्रकार की रचनाओं में शृंगार रस का दुरुपयोग हुआ।

शृंगार रस और वर्त्तमानकाल

एक दिन था, जब भारतवर्ष मुसलमान सम्राटों के प्रबल प्रभाव से

प्रभावित था, और उनकी सभ्यता धीरे-धीरे उसके अंतस्थल में वैसे ही प्रवेश कर रही थी, जैसे आजकल पाश्चात्य रहन-सहन की प्रणाली उसके हृदय में स्थान ग्रहण कर रही है। मुसलमानो के साम्राज्य का सबसे अधिक प्रभाव भारतवर्ष पर अकबर के समय में पडा; जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में वह अक्षुण्ण रहा, औरंगजेब के समय में उसका ह्रास प्रारंभ हो गया। व्रजभाषा के प्रसार, विस्तार और समुन्नति का प्रधान काल यही है। इन डेढ सौ बरसों मे जैसा उसका शृंगार हुआ, जैसा वह फूली फली, जैसे सहृदय कवि उसमे उत्पन्न हुए, फिर वैसा नहीं हुआ। जैसा आजकल के शासको का प्रभाव उनकी सभ्यता रंग-ढग एवं उनकी रीति नीति का असर भारत की भाषाओं और भावों पर पड़ रहा है उस समय वैसा ही प्रभाव मुसलमान शासको की प्रत्येक बात का व्रजभाषा के साहित्य पर पडा था। कारण यह कि—यथा राजा तथा प्रजा। मुसलमान जाति विलास-प्रिय है। उसका साहित्य विलासिता के भावो से मालामाल है। प्रेम की कहानियो और प्रेमी एव प्रेमिकाओ के रग रहस्यो, और चोचलो की उसमें भरमार है। फारसी की कविताओं मे क्या है, इस बात को आप मुसलमानों की उर्दू कविताओ को पढ़कर जान सकते हैं, क्योंकि वही इसकी उद्‌गम भूमि है। उर्दू में जो हास, विलास, जो प्रेम के ढकोसले, पचडे, बखेड़े मिलते हैं, उसमें जो लपटता कामुकता, लिप्सा और वासनाओ के वीभत्स काड दृष्टिगत होते हैं, वे सब फारसी ही से उसे मिले हैं, फारसी के ग्रथ ही मुसलमान साहित्य के सर्वस्व हैं। उसपर अरबो की सस्कृति का भी बहुत बडा प्रभाव है, परतु पारस की सस्कृति का रंग ही उसका निजस्व है। इन दोनों सस्कृतियो से जैसी खिचड़ी पकी, उसका आस्वाद फारसी के साहित्य ग्रथों मे खूब मिलता है। वास्तविक बात यह है कि मुसलमान उनसे प्रभावित हैं और वे उनकी चिर सस्कृतियो के दर्पण हैं। जो अकबर बडा सभ्य और शिष्ट समझा जाता है, उसके मीनाबाजार की बातों को सुनकर

विलासिता भी कम्पित होती है। जहाँगीर और शाहजहाँ की बातें किससे छिपी हैं। औरंगज़ेब जो बड़ा मज़हबी आदमी समझा जाता है, उसकी सेना के वर्णन में एक अँगरेज़ ने लिखा है कि वह रंडी, भड़वों से भरी रहती थी। सिपहसालारों और सिपाहियों की यह अवस्था थी कि हथियार पीछे रह जावे तो मुजायका नहीं, पर क्या मजाल कि 'साजेतरब' हाथ से छूटे। प्रायः लोग नशे में चूर और मखमूर मिलते। सुबह को दवा खाते, और रात में नींद न आने की शिकायत करते पाये जाते। परिणाम यह हुआ कि औरंगजेब की आँख बंद होते ही राजकुल की विलासिता इतनी बढ़ी कि उसने बादशाही को ही निगल लिया। मुसलमानों की विलासिता की पराकाष्ठा वाजिदअलीशाह में दृष्टिगत होती है, जिसने उसपर अपने 'तख्तोताज' तक को निछावर कर दिया।

यह विलासिता व्रजभाषा में भी घुसी, और उसने उसके साहित्य ग्रंथों के कुछ अंगों को उपहास योग्य बना दिया। कारण सामयिक प्रभाव और उस काल के लोगों का मनोभाव है। जैसा समाज होता है, अधिकांश साहित्य का रूप वैसा ही होता है। शासक जब विलासिता-प्रिय है, और उसके साधनों को प्रश्रय देता है, तो अनेक कारणों से शसित में उसका प्रसार हुए बिना नहीं रहता। शासित को कुछ तो उसकी मनस्तुष्टि के लिये उसके जैसा बनना पड़ता है, कुछ अपने स्वार्थ-साधन के लिये और कुछ उसके संसर्ग प्रभाव से प्रभावित होकर। औरंगजेब के बाद का सौ वर्ष का काल ले लें, तो ज्ञात हो जावेगा कि इन सौ वर्षों में भी व्रजभाषा को लांछित करनेवाली कम कविताएँ नहीं हुईं। मैं यह स्वीकार करूँगा कि इस प्रकार की कुछ कविताएँ अपनी भाषा की मान रक्षा के लिये भी हुई हैं, क्योंकि प्रतिद्वंद्विता का अवसर आने पर कोई कितना ही दबा क्यों न हो पर अपने धन-मान की रक्षा का उद्योग करता ही है। कहा जाता है कि कविवर बिहारीलाल के अधिकांश दोहे उर्दू अथवा फारसी शेरों की बलंदपरवाज़ियों को नीचा दिखाने के लिये ही

लिखे गये हैं। यह सत्य भी हो सकता है, क्योंकि उनकी ना.ज़ुकख़यालो बंदिश, मुहावरो की चुस्ती, और कलाम की सफाई बडे-बडे उर्दू शोअरा के कान खड़े कर देती है। फिर भी यह स्वीकार करना पडेगा कि व्रज भाषा की अधिकाश अमर्यादित रचनाएँ सामयिक प्रवृत्तियो और प्रवाहो का फल हैं।

एक वह समय था, जिसने व्रजभापा की इस प्रकार की कविताओं को जन्म दिया, आज वह समय उपस्थित है, जब ऐसी कविताओ की कुत्सा की जा रही है, साथ ही व्रजभापा को भी भला बुरा कहा जा रहा है और शृगार रस का नाम सुनते ही नाक-भौं सिकोडी जा रही है। किंतु यह भ्राति है। व्रजभाषा साहित्य बहुत विस्तृत है, कबीर साहब के समय से लेकर आज तक जितन सत हो गये है, उन सब सतो की वाणी लगभग व्रजभापा मे है। जिस मुसलमान शासन काल मे व्रजभाषा मे अवाछित कविताएँ हुई, उसी काल में देश मे महाराणा प्रताप, गुरु-गोविंदसिंह, और वीर छत्रसाल आदि ऐसे-ऐसे नरकेशरी उत्पन्न हुए, जिन्होने निगले हुए कौर को शत्रु के गले में उँगली डालकर निकाल लिया। इतना ही नही, उनके उत्तेजन से व्रजभाषा साहित्य मे वीर रस तथा अन्य रसो के ऐसे उत्तमोत्तम ग्रंथ बने, जिनका जितना गौरव किया जावे थोड़ा है। शृगार रस की ही पवित्र प्रेम-संबंधिनी इतनी अधिक और अपूर्व कविताएँ उस समय हुई हैं, जिनके सामने थोडी-सी अमर्यादित कविताएं नगण्य और तुच्छ हैं, फिर क्या व्रजभाषा की कुत्सा करना उचित है? रहा शृगार रस—उसका नाम सुनकर जो कान पर हाथ रखता है, वह आत्म-प्रतारणा करता है, वह जानता ही नही कि शृगार रस किसे कहते है। मै जानता हूँ कि समय क्या है? और इस समय समाज और देश को किन बातो की आवश्यकता है, परंतु भ्रात बनने से काम नहीं चलेगा. उचित पथ ग्रहण करने से ही सिद्धि प्राप्त होगी। देशानुराग के गीत गाये जावे, सोये देश को जगाया जावे, ग्वीसृ

धमनियों में उष्ण रक्त का प्रवेश कराया जावे, बंद आँखे खोली जावे-भूलों को रास्ता बतलाया जावे, देशद्रोहियों को दबाया जावे, और एकता मंत्र का अपूर्व घोष किया जावे। ऐसी ओजमयी रचनाएँ की जावें. ऐसे मार्मिक पद्य लिखे जावे, ऐसे उत्तेजित करने वाले कवित्त बनाये जावें, ऐसे भावमय ग्रंथ रचे जावें और ऐसी ज्वलंत उत्साहमयी ग्रंथ-मालायें निकाली जावे जिनसे इष्ट-सिद्धि हो, उद्देश की प्राप्ति हो और भारतीय भी संसार मे अपना मुख उज्ज्वल कर सके, इसमे किसको आपत्ति है? वरन् आजकल का यह प्रधान कर्त्तव्य है। किंतु वातुल बनकर न तो सुधा को गरल कहा जावे, न चिंतामणि को काँच। शृंगार रस जीवन है, जिस दिन आप उसका त्याग करेंगे, उसी दिन आप का स्वर्ण-मंदिर ध्वंस हो जावेगा, और आप रसातल चले जावेगे। आवश्यकता है कि आप शृंगार रस के मर्म को समझे और दूसरे को समझावे। शृंगार रस ही वह रस है, जो निर्जीव को सजीव, नपुंसक को वीर, क्रियाहीन को सक्रिय और अशक्त को सशक्त बनाता है। शृंगार रस ही वह मंच है, जिस पर चढ़कर आप उन मर्मस्थलों को देख सकेंगे, जिनकी रक्षा से आप समुन्नति सोपान पर चढ़ उस श्रेय को प्राप्त कर सकेंगे, जो मानव जीवन का प्रधान उद्देश है। मै यह स्वीकार करूगा कि शृंगार रस के नाम पर कुछ ऐसे कार्य हुए है, जो हमको अविहित मार्ग की ओर अग्रसर करते हैं। परंतु परमात्मा ने बुद्धि-विवेक किसलिये दिये है? वे किस दिन काम आवेगे? जो देश का अथवा लोक का उद्धार करना चाहता है, और बुद्धि विवेक को ताक पर रख देता है, वह चाहता तो है स्वर्ग सोपान पर चढ़ना, किंतु उसके पास वे दोनो आँखे कहाँ है, जिनके बिना ससार की यात्रा भी नहीं हो सकती।

आजकल हिंदी काव्य-क्षेत्र मे तीन प्रकार के कवि देखे जाते हैं। एक वे हैं, जो बिलकुल प्राचीनता के प्रेमी हैं। आज भी वे उसी रंग मे रँगे हुए हैं, जिसमे कविवर देव, सहृदयवर बिहारीलाल एवं रसिक-

प्रवर पद्माकर आदि रंगे हुए थे। व्रजभाषा ही उनकी आराध्या देवी है, और वे उसकी अर्चना में ही निरत हैं। उनकी अधिकांश रचनाएँ नायक नायिकाओं पर ही होती हैं, या वे अपने ढंग पर भगवान कृष्ण-चंद्र अथवा मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र का गुण गा-गाकर अपनी संसार-यात्रा समाप्त कर रहे हैं। आज कल देश की क्या दशा है, देश में क्या हो रहा है, देशवासियों पर क्या बीत रही है, और किस प्रकार दिन-दिन हिंदू जाति का पतन हो रहा है, उनको इन बातों से प्रयोजन नहीं। देख कर भी इन बातों को वे नहीं देखते, और सुनाने पर भी उनको सुनना नहीं चाहते। वे अपने रंग में मस्त हैं, अपने धुन के पक्के हैं, उनको दुनिया के झगडों से प्रयोजन नहीं। खडी बोली की कविता कितनी ही सुंदर क्यों न हो, परंतु उनकी दृष्टि में उसका कोई आदर नहीं, वे उसे रूखी-सूखी भाषा समझते हैं, फिर अपनी रसमयी व्रजभाषा को छोड कर उसकी ओर क्यों दृष्टिपात करें। वे अपनी शांति को भंग करना नहीं चाहते। परंतु जब कोई प्राचीन कवियों पर आक्रमण करता है, व्रजभाषा को खरी-खोटी सुनाता है, तब उनके धैर्य का बाँध टूट जाता है, और उस समय जो कुछ मुँह में आता है कह डालते हैं। वे छायावाद की कविताओं को फूटी आँखों से भी देखना नहीं चाहते, चाहे उनमें स्वर्ग-सौंदर्य ही क्यों न भरा हो। वे छायावादियों को कवि भी नहीं मानते, क्योंकि वे समझते हैं कि ऊटपटांग बकने के सिवा उनको आता ही क्या है। उनमें अजब बेपरवाई है, और कुछ ऐसी अकड भरी हुई है, कि वे अपनी रूई सूत में ही उलझे रहते हैं, दूसरी बातों की ओर आँख उठाकर भी देखना नहीं चाहते। इस समय देश के प्रति समाज के प्रति, जाति के प्रति और मानव समुदाय के प्रति उनका क्या कर्त्तव्य है, इन बातों को वे विचारना भी नहीं चाहते, या विचार ही नहीं सकते। वे किसी राह के रोड़े भी नहीं, यदि कोई दूसरा उनको अपनी राह का रोडा न बना ले। इस दल में अधिकतर वयोवृद्ध हैं जो निश्चित

भाव से रहकर अपने स्वच्छंद जीवन को व्यतीत कर देना चाहते

दूसरे दल मे अधिकतर वे अल्पवयस्क अल्हड़ कविजन हैं. जो
समय हिंदी-साहित्य क्षेत्र मे नवीनता का आह्वान कर रहे हैं। उ
हृदय में उमगे लहर मार रही है. उत्साह उनमे कूट-कूट कर भरा
'नूतनम् नूतनम् पदे पदे' उनका महामंत्र है। वे प्राचीन लकीरो को पी
नही चाहते, वे अपना एक प्रशस्त मार्ग अलग निर्माण करने की
धुन मे हैं। उनको प्राचीनता से घृणा है, चाहे वह भारतीय आ
रत्न का भंडार ही क्यो न हो। ये प्राचीन प्रतिष्ठित कवियो की प
उछालते रहते है, और प्राचीन व्रजभाषा को रसातल पहुचाकर ही
लेना चाहते हैं। उनकी भाषा नई, उनका भाव नया. उनकी सूझ
उनका विचार नया. रग नया, ढंग नया, छंद नया, प्रबध नया,
नई, नीति नई. कोष नया, व्याकरण नया, उनका जो-कुछ है सब न
ही नया है—चाहे यह सच न हो। वे हिंदी-भाषा के प्रेमी हैं. किंतु
भी प्राचीना है, शायद इसीलिये उसको वे-तरह नोच खसोट रहे
पुराने मुहावरे लिखना पसंद नही, या लिख ही नही सकते, किंतु
मुहावरो का ढेर लगा रहे हैं। वाक्यो का कुछ अर्थ हो या न हो, परं
गढ़े जावेंगे अवश्य। यदि ब्रह्मा भी आकर कहें यह क्या, तो उनका
भी मल दिया जावेगा; यदि किसी संकोच से ऐसा न किया
सकेगा तो कान मलने को हाथ तो अवश्य उठ जावेगा। बात
समय उनसे भले ही काम लिया जावे, पर कविता लिखने के स
क्या मजाल कि बोलचाल की कोई कल ठीक रहने पावे। वे
करेंगे बडी लम्बी लम्बी, तोड़ेंगे आसमान के तारे ही, चाहे वे कि
की समझ मे भले ही न आवे, और उनका हाथ भले ही यहाँ तक
पहुँच सके। वे प्राचीनो की रचनाएँ सुनकर कान पर हाथ रख
होठ काटेंगे, चाहे उनकी कविताएं इस-योग्य भी न हो कि किसी
कानो मे पड़े। देश-प्रेम से उनका भी कोई संबंध नहीं, ऐसा करना

विश्वभ्रातृत्व के विरुद्ध समझते हैं। वे कौड़ी बड़ी दूर की लाना चाहेंगे, पर घर की लुटती मुहरों के बचाने से बचेंगे। आँसू की लड़ियों को लेकर मोती पिरोवेंगे, पर भारतमाता के आँसुओं की उन्हें परवा नहीं। वे राग गायेंगे ससार भर के भ्रातृभाव का, किंतु अपने भाई का गला कटता देखकर आँखें बद कर लेंगे। वे शिक्षा देंगे अहिंसा वृत्ति की परंतु उनके हृदय में प्रतिहिंसा-वृत्ति ही चक्कर लगाती रहती है। जाति का स्वर बिगड़ जावे, देश का गला न चले, समाज की घिग्घी बँध जावे, तो वे क्या करेंगे, वे तो अपनी टूटी वीणा उठावेंगे, और मस्त होकर उसे बजाते रहेंगे, चाहे उसको कोई सुने या न सुने। यदि कहीं से वाह-वाह की आवाज आ गई तो फिर क्या माँगी मुराद मिल जावेगी।

तीसरे दल में कुछ प्राचीन और कुछ युवक कवि हैं। उनकी संख्या थोड़ी है, परंतु मातृ-भाषा के सच्चे सपूत वे ही हैं। वे ब्रजभाषा को सर आँखों पर रखते हैं, और खड़ी बोली को गले लगाते हैं, उनको दोनों से प्यार है। वे हिंदी-भाषा की दोनों मूर्तियों को सर नवाते हैं, और दोनों को ही अर्चनीय समझते हैं। उनका विचार है, प्रतिभा किसी एक की नहीं, ब्रजभाषा में भी उसका विकाश देखा जाता है, और खड़ी बोली में भी। उन्हें भाव चाहिये, चाहे वह ब्रजभाषा में मिले, चाहे खड़ी बोली में। वे ब्रजभाषा के प्राचीन कवियों को गुरु मानते हैं, और कहते हैं कि ये ही वे महापुरुष हैं, जिन्होंने हिंदी-भाषा को अलंकृत किया, उसे रत्नों से सजाया, उसमें जीवन डाला, उसको सुधामयी बनाया, और उसकी वह सेवा की जो अलौकिक कही जा सकती है। ये उन नवयुवक सुकवियों का भी आदर करते हैं जो खड़ी बोली को सुरभित सुमन प्रदान कर रहे हैं, उसे सरस, मधुर और भावमयी बना रहे हैं, उसमें वह शक्ति ला रहे हैं, जिससे वह ज्योतिर्मयी, नव-नव उक्तिमयी, अनुपमयुक्तिमयी, रागमयी और देशानुरागमयी, बन सके। वे सोचते हैं, मातृ-भाषा के सेवकों में परस्पर कलह-विवाद

अच्छा नहीं, ये तो भाई-भाई हैं। उनके क्षीर-नीर समान मिले रहने मे ही भलाई है। प्राचीनों के लिये यदि स्थान है, तो आधुनिक लोगों के लिये भी। यदि गुरु का स्थान है, तो शिष्य का भी। किसी काल में गुरु भी शिष्य था, काल पाकर शिष्य भी गुरु हो सकता है। योग्य शिष्य संसार मे कभी-कभी गुरु से भी अधिक चमके, पर वे गुरु की गुरुता को कभी नहीं भूले। परमात्मा ने जिनको प्रतिभा दी है, वे प्रकाशमान होकर ही रहे। उनको यह इच्छा कभी नहीं हुई कि गुरु की कीर्ति को लोप कर हम अपना मुख उज्ज्वल करें। जो प्राचीनों की कुत्सा इसलिये करते है कि उनकी कीर्ति को मलिन कर अपनी कीर्ति का विकाश करे, वे भूलते हैं। मयंक यदि सूर्य के प्रकाश की महत्ता स्वीकार न करेगा तो उसकी सत्ता ही न रह जावेगी, उनका विचार है कि जो सहृदय है, उसकी असहृदयता अच्छी नहीं, जो रस-धारा बहा सकता है, वह नीरस क्यों बने?

इन तीनों दलों में कैसा रुचि वैचित्र्य है, और कैसी विचार भिन्नता। परंतु शृंगार रस के प्रभाव से तीनों ही प्रभावित हैं। पहले दलवाले आज भी उसी नशा की झोंक में हैं, जिस नशा ने उनकी परंपरा वालों को आज से तीन चार सौ बरस पहले बदमस्त बनाया था। न आज वह महफिल है, न वह साकी, न वह पैमाना है, न वे दूसरे सामान। फिर भी उनको नशा आता है, और वे ऐसी बाते बक जाते हैं, जिनको अब ज़बान पर न आनी चाहिये। भगवद्‌गुणानुवाद गाये जाये, नीति की बातें कही जावें, शृंगार रस का संयत भाव से वर्णन किया जावे, इसमें किसको क्या आपत्ति हो सकती है; परंतु अब ऐसी रचनाएं न की जावें, जो शृंगार रस के साथ व्रजभाषा को भी कलंकित करती हैं। मातृ-भूमि की सेवा करना सब का धर्म है, उसके गाढ़े दिनों मे काम आना प्रधान कर्त्तव्य है। यदि यह न हो सके और लेखनी इस प्रकार का विचार लिखने में कुंठित हो, तो समाज में गंदगी फैलाने से

बचा जावे। जो बात किसी विशेष काल में विशेष कारणों से हो गई, जो चूक विषयासक्त राजा-महाराजाओं के संसर्ग से, थोडे या बहुत धन के लालच से की गई, उसकी पुनरावृत्ति व्यर्थ न होनी चाहिये। परंतु वे आज भी सावधान नहीं हैं, वही अपना पुराना राग गाये जा रहे है।

दूसरे दलवाले शृंगार रस के नाम से ही चिढते हैं, व्रजभाषा से उनको विशेष घृणा इसलिये है कि वे उसको उसका जननी समझते है। उनकी इस चिढ़ की उत्पत्ति विशेषकर शृंगार रस की उन असंयत रचनाओं के कारण हुई, जो सर्वसाधारण मे प्राय उन्होंने सुनी या शृंगार रस की प्राय प्रचलित पुस्तको मे देखी। जिस शृंगाररस पर वे खड्गहस्त है, वह शृंगाररस का बीभत्स रूप है। शृंगार रस का वास्तविक रूप वह है, जो स्वयं उनकी सब से अच्छी रचनाओं मे पाया जाता है, परंतु इस बात को वे समझ नहा पाते। वे न समझें, परंतु शृंगार रस से उनकी रचनाऍ ओतप्रोत हैं। उनको मै ही नही कहता, आजकल के अधिकांश हिंदी के साहित्य सेवियो की यही सम्मति है। इन लोगों के जो दस-बीस ग्रंथ प्रकाशित हो चुके है, उनमे से किसी को उठा लीजिये, उस समय यह ज्ञात हो जावेगा कि मेरा कथन कहॉ तक सत्य है। उसके अधिकाश भाग मे अवलोकन करने पर शृंगार रस की धारा ही बहती मिलेगी।

अब रहा तीसरा दल, इस दल में ही, सामयिकता अधिक है। युवकजन ही देश के प्राण हैं, उन्हींका मुख अवलोकन कर मातृभूमि की सूखी नसो मे गर्म लोहू प्रवाहित होता है। फिर यदि वे ही इस महामंत्र का मर्म न समझें, तो इससे बढ़कर दु ख की बात दूसरी कौन होगी? यह दल ही इस बात को भलीभॉति समझता है, और इसीलिये उसकी सेवा में तनमन धन से रत रहता है। उसकी अधिकांश कविताऍ भी देशानुरागमयी होती हैं, फिर भी वह शृंगार रस की कविताओं का अनादर नहीं करता। वह यथावसर उसकी सेवा भी करता रहता है, और ऐसी रचनाएँ उपस्थित करता है, जिनसे हृदय की

कलिकाएँ खिल जाती हैं, क्योंकि वह जानता है कि मनुष्य-जीवन से उसका कितना सरस संबंध है।

आजकल हिंदी-साहित्य के सामने एक और विषम समस्या उपस्थित है, चाहे गद्य हो चाहे पद्य, उसमें इन दिनों एक विचित्र ऊधम मचा हुआ है। कुछ स्वतंत्र विचार के जीव इस उच्छृंखलता के विधाता हैं। उनका संबंध इन तीनों दलों में से किसी से नहीं है, वे निरंकुश हैं, और हैं अपने मन के, परन्तु देश-प्रेम के पर्दे मे अपने को छिपाये हुए हैं। किसी के पास जाति-सुधार का बल है, और किसी को समाज-सेवा की लगन। कोई प्रचलित रूढ़ियों के मिटाने का दीवाना है, और कोई हिंदुओं की वंशगत बुराइयों के दूर करने का कामुक। एक स्कूल-कॉलेजों के अध्यापकों और छात्रों के दुश्चरित्रों की आलोचना करता है, तो दूसरा स्त्री-जाति की दुर्दशाओं का हृदय-विदारक चित्र अंकित करने मे लग्न है। कोई जाति-बंधन तोड़ना चाहता है, कोई अछूतों के उठाने का प्रयत्न करता है; परन्तु इनमे कितने प्रति-हिंसापरायण है, और कितने अर्थलोलुप। कितने वृत्ति के दास है, कितने कुचरित्र। कितने दुर्जन और दुष्ट-प्रकृति है, कितने अपवित्र हृदय और लपट। कितने नाम चाहते है, कितने दाम। कितने अपने पत्र का प्रचार चाहते हैं, कितने अपनी पुस्तकों का प्रसार। वेष उनका मराल का है, परन्तु चाल बगलों की। वे मुख से और लेखनी से सदुद्देश का प्रचार करते हैं, परन्तु हृदय से है वायसवृत्ति, मलिन पदार्थ को ही प्यार करते हैं। उनके हाथ मे झंडा है उपकार का, किंतु उनका व्रत है अपकार। ऐसे लोगों के हाथों में पड़ कुछ पत्रों और पत्रिकाओं मे आजकल ऐसे लेख निकल रहे हैं, जिससे स्त्री पुरुष के द्वंद्व की मात्रा प्रति दिन वर्द्धनोन्मुख है, किंतु इन दिनों ऐसे लेख लिखना समाज-सेवा समझा जाता है। यदि कुछ स्त्रियाँ पुरुषों के अत्याचार के लेख लिख-लिखकर कालम के कालम काले करती है, तो स्त्रैण पुरुष उनका कान भी

काटते हैं—वे पुरुष जाति को भरपेट गालियाँ दे डालते हैं। इस तरह के लेख आद्योपांत अश्लीलतामय होते हैं, परंतु यह है इस काल का प्रधान कर्त्तव्य, और पुरुष जाति को निष्पक्षपातिता का प्रमाण पत्र लाभ करने का प्रधान अवसर। चाहे समाज ध्वंस क्यों न हो जावे, और पाश्चात्य देश के समस्त दुर्गुण पवित्र भारतवर्ष में क्यों न फैल जावें। इतना ही नहीं, आजकल कुछ ऐसे गंदे उपन्यास निकल रहे हैं, और उनमें ऐसे कुत्सित और घृणित चरित्र अंकित होते हैं कि अश्लीलता उनको स्पर्श नहीं कर सकती, और बेहयाई उनकी ओर आँख उठाकर देख नहीं पाती। परंतु उनमें है हिंदू जाति की बुराइयों का कच्चा चिट्ठा, जिनके प्रदर्शन बिना सुधार हो ही नहीं सकता, फिर उनको क्यों न फड़कते शब्दों में लिखा जावे, कोई पागल 'घांसलेटी' 'घासलेटी' भले ही चिल्लाये, उसकी सुनता कौन है। ऐसी और बातें बतलाई जा सकती हैं, जिनसे दिन दिन हिंदी-साहित्य की समस्या जटिल हो रही है, किंतु क्या उसका उचित प्रतीकार हो रहा है। व्रजभाषा में शृंगार रस का दुरुपयोग हुआ, और यह निस्संदेह सामयिक दुर्गुण था, जो विलास-प्रिय बादशाहों, राजाओं, महाराजाओं के कारण उसमें आया। इस एक दुर्गुण के कारण, अनेक गुण गौरवशालिनी व्रजभाषा की निंदा हो रही है, और वर्त्तमान काल का पठित समाज यह कार्य कर रहा है। परंतु आज यह क्या हो रहा है? उस समय में जिस समय विश्वमोहिनी पाश्चात्य सभ्यता की विमुग्धकर ज्योति से भारत वसुंधरा प्रकाशित है, यह महा अश्लील साहित्य का घना अंधकार उसमें क्यों फैल रहा है?

मैं समझता हूँ सामयिक दुर्गुणों का ज्ञान प्रायः समय पर नहीं होता। काल पाकर जब दुर्गुणों के दोष प्रकट होने लगते हैं, उस समय उसका यथार्थ ज्ञान होता है। मुसलमान राज्य के कारण जो दुर्गुण व्रजभाषा में आये, उस समय कई कारणों से वे ही उपयोगी जान पड़े, इसी लिये वे अधिकांश लोगों में गृहीत हुए। क्या उस समय दुर्गुणों के विरोधी यहाँ

थे ? अवश्य थे परंतु स्वार्थ मनुष्य को अंधा बना देता है। स्वार्थी मनुष्य स्वार्थ के सामने रहने पर न तो दुर्गुणों को देखता है, और न किसी हित की बातें सुनता है। यह स्वार्थ कई प्रकार का होता है, वह धन सम्पत्ति की प्राप्ति तक ही परिमित नहीं होता, इसमें यश, मान की कामना, मर्यादा की रक्षा, कार्योद्धार, गौरव-लाभ, एवं विपत्ति निवारण आदि सभी बातें, सम्मिलित रहती हैं। दूसरी बात यह कि जब समाज के अग्रणी अथवा प्रधान किन्हीं कारण से उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं, तो साधारण मनुष्य उनका निराकरण समष्टि रूप में नहीं कर सकते, व्यष्टि रूप में भले ही कर लें। आजकल की भी यही अवस्था है। अंग्रेज जाति हमारी शासक है, पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा से ही इन दिनों अधिक लोग शिक्षित दीक्षित हैं, नाना रूप और नाना मार्गों से पाश्चात्य भाव यहाँ के लोगों के हृदय में स्थान पा रहे हैं, इस लिए वहाँ की सभ्यता ही लोगों को पसंद आ रही है, और वहाँ की रहनसहन प्रणाली ही प्यारी लग रही है। आज का नव शिक्षित समाज, स्त्री स्वतंत्रता, युवती-विवाह, सहभोज, विधवा-विवाह आदि का पक्ष-पाती, और बाल-विवाह, जाति-पाँति एवं धर्म-बंधन आदि का विरोधी है, यह यथातथ्य शासक जाति और पाश्चात्य भावों का अनुकरण है। ये बातें जिस रूप में गृहीत हो रही हैं भारत की हितकारिणी हैं; या नहीं, इनका क्या परिणाम होगा, इसको बतलाने पर भी आज कोई नहीं सुनता। समय का प्रवाह आज इन बातों के अनुकूल है, अतएव इन्हीं विचारों में उन्नति शील या सुधारकजन बह रहे हैं और दूसरों को भी अपना साथी बना रहे हैं। जो लोग इनका विरोध कर रहे हैं, उनकी गत बनाई जा रही है, और उनके प्रतिकूल घृणित से घृणित बातें कही जा रही हैं। समाचार-पत्रों में उनके विरुद्ध जो कार्टून निकाले जा रहे हैं, होली इत्यादि के अवसरों पर जैसी गालियाँ उनको पत्रों में दी जाती हैं, जैसा उनको कोसा जाता है, जैसी बेहूदा बातें उन्हें कही जा रही हैं, उनमें अश्ली-

लता की भरमार होती है, और निर्लज्जता की ही पराकाष्ठा। इसी प्रकार शिक्षा दोष अथवा नवीन सभ्यता के संसर्ग से जो दुर्व्यसन और चरित्रगत कुसंस्कार छात्रों, मास्टरों, एवं नव शिक्षितों में प्रतिदिन वर्द्धनोन्मुख हैं, समाज के प्रबन्धकों के आचार-व्यवहार से जो निंदनीय बातें देश में फैल रही हैं, असंयत, उच्छृंखल, और ढोंगियों के प्रपचों से जो बुराइयाँ जाति में स्थान पा रही हैं, रँगे सियारों और नाम के नेताओं के कारण जो अपकार हिंदुओं का हो रहा है उनका वर्णन आजकल जिन शब्दों में होता है, जिस प्रकार उनका खुला चिट्ठा जनता के सामने रखा जाता है, जैसे उनके कुत्सित कार्यों का पर्दाफाश किया जाता है, उसकी अधिकांश प्रणाली भी बड़ी ही घृणित और हेय है। परंतु सुधार का उन्माद और जातिगत एवं व्यक्तिगत द्वेष इन बातों के विचारने का अवसर ही नहीं देते। लेखनी हाथ में आने पर पेट का कुल मल बाहर निकाल देने में ही चैन आता है, चाहे पत्र के कालम कितने ही कलंकित क्यों न हो जावें। जी की कुढ़न अश्लील से अश्लील वाक्यों में ही निंदनीयों को स्मरण करती है, चाहे वे नरक-कुंड भले ही बन जावें।

जो सच्चे और ईमानदार होते हैं उनका भाषण परिमित होता है, और उनकी लेखमाला मर्यादित। पर ऐसे लोग कितने हैं? अधिकतर ऐसे ही लोग दुनियाँ में देखे जाते हैं, वे हवा का रुख देखकर चलते हैं और पेट पालने के लिये, चार पैसा कमाने के लिये, अपना मतलब गाँठने के लिये, दिल की कसर निकालने के लिये, या झूठमूठ की वाहवाही लूटने के लिये कुछ से कुछ बन जाते हैं। वे लोग अपना कच्चापन अथवा नकली भाव छिपाने के लिये अपनी बातों को इतना रंजित करते हैं, उनमें इतना नमक-मिर्च लगाते हैं कि असलीयत गधे के सींग की तरह गायब हो जाती है। ये बातें यदि हजो की, निंदा की अथवा भंड-प्पन की होती हैं, तो वे उनकी इन काररवाइयों में इतनी निंदनीय बन जाती हैं, कि मूर्तिमान बीभत्स के अकांड तांडव उनमें दृष्टिगत होने

लगता है। परंतु किसमे शक्ति है कि आज की इस आवश्यक चहक को धता बता सके। आज जो इसके सामने पड़ेगा, उसीका कचूमर निकल जावेगा। जो इससे टकरायेगा वही चूर-चूर हो जायेगा। स्त्री-स्वतंत्रता के पक्ष और विपक्ष मे इन दिनो कुछ पत्र-पत्रिकाओ मे ऐसे गंदे लेख निकल रहे हैं, कि अगला समय होता, तो कोई उनको अपनी बहू-बेटियो को छूने भी न देता। परन्तु आजकल वे पत्र-पत्रिकाएँ मूल्य देकर मँगाई जा रही हैं और आदर के साथ कुलांगनाओ को अर्पण की जा रही हैं। कारण इसका सामयिक प्रवाह और वर्त्तमान काल का उत्तेजित मनो-भाव है। इस समय उनका विरोध करना, असफलता को निमंत्रण देना है। यह समय न रहने पर और प्रचलित आंदोलनो का दोष प्रकट होने पर ही उनके दुर्गुणो का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। चाहे जो हो, इस समय इन बातो के कारण हिंदी-साहित्य कितना कलुषित हो रहा है, यही प्रकट करना, इन विषयो की चर्चा का उद्देश है।

आशा है, मेरे भावों के समझने मे भूल न की जावेगी। मैंने जो कुछ लिखा है, उसका मतलब उचित आंदोलन की निंदा नहीं है। सुधार-संबंधी अथवा देशोद्धार मूलक जितने आंदोलन ईमानदारी से सच्चे लोगो के द्वारा हो रहे हैं, न तो वे निंदनीय हैं, न आक्षेप योग्य। बाल-विवाह का विरोध अथवा विधवा-विवाहादि का जो प्रचार मर्यादित रीति से किया जा रहा है, वह सर्वथा अनुमोदनीय है। मैं स्वयं उनसे सहानु-भूति रखता हूँ। मैंने निंदा की है भंडाचार की, और उस प्रणाली की जो घृणित भावो से भरी है। मैंने बुरा कहा है, उन लोगो को जो बनते हैं सुधाकर परन्तु हैं राहु, जो वेष रखते हैं साधु का, परन्तु हैं कालनेमी। जो आर्य-संस्कृति के शत्रु हैं, किंतु सुधार के बहाने उसके मित्र बनते है। मेरा लक्ष्य उस नीति की कदर्थना है, जिसके अधार से पाश्चात्य दुर्गुण, सद्गुण के रूप मे गृहीत हो रहे हैं, और विजातीय भाव समादृत होकर जातीयता को ठोकरे जमा रहे हैं। जो मेरे भाव को न समझकर व्यर्थ

आस्फाल न करेंगे, अथवा टट्टी को ओट मे शिकार खेलना चाहेंगे, वे अपने चित्त के कल्मप को प्रकट करेंगे, मेरे मानस के उद्गारों को नहीं।

क्या लिखते क्या लिख गया, विपयान्तर हो गया। परतु अपने वक्तव्य को स्पष्ट करने के लिये ही मुझको इस पथ का पथिक होना पड़ा। कहना यह है कि प्राय सामयिकता के नाम पर बहुत-सी बुराइयाँ, भलाइयाँ बनकर समाज मे गृहीत हो जाती हैं। वर्त्तमान काल का हिंदू-समाज और उसका अधुनिक कुत्सित साहित्य इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। वास्तविक बात यह है कि जितना कलुषित आजकल हिंदी-साहित्य का कुछ अश हुआ अथवा हो रहा है, ब्रजभापा उतनी कलुषित कभी नहीं हुई। घृणित बाल-प्रेम के आधार से शृगार रस की इन दिनो जैसी मिट्टी पलीद हो रही है, उसके जैसे नारकीय चित्र उपन्यासो मे अकित किये जा रहे है, मासिक पत्रो और पुस्तकों मे हिंदू जाति के घर की भीतरी बातों का जैसा कच्चा चिट्ठा लिखा जा रहा है, वे रोमाचकर है, उनको इस रूप मे देश और समाज के सामने लाना अनुचित है। विना दोष प्रदर्शन किये दोष का क्षालन नहीं हो सकता, यह सत्य है, परतु जुगुप्सा का नग्न नृत्य कदापि वाछनीय नहीं। उसके द्वारा वर्त्तमान हिंदी-साहित्य जितना लाछित हुआ, ब्रजभापा वैसी कलकित कभी नहीं हुई। ब्रज-भापा मे जो शृगार रस का दुरुपयोग हुआ और उसमे अश्लील रचनाएँ हुईं, इसका कारण समय है। उस समय उसको अपनी इस प्रकार की रचनाओ मे सुरक्षित रखना असभव था, उसी प्रकार जैसे कि आजकल खडी बोली के गद्य पद्य अपने को उन सामयिक दोपों से नहीं बचा रहे है, जो उसमे सुधार के बहाने प्रवेश कर रहे हैं। ब्रजभापा मे जो दोप है—हैं, उन-पर उँगली उठाना व्यर्थ है, उनसे यह शिक्षा क्यों नहीं ली जाती, कि खडी-बोली भी चहले मे न फँसे। ब्रजभापा पर कीचड किस मुख से उछाला जा रहा है, जब खडीबोली उससे भी गई बीती बन रही है। दोनो अपनी ही सम्पत्ति हैं, उनकी उज्ज्वलता हमारा मुख उज्ज्वल करेगी, उनकी कालिमा

हमें कलंकित बनावेगी। आपस का वितंडावाद अच्छा नहीं, पारस्परिक कलह बुरा है। ब्रजभाषा के सेवकों की संख्या आज भी कम नहीं है, उनका धर्म है कि वे प्राचीन बुरी प्रणाली को त्यागकर उसको उत्तमोत्तम नवीन आभरणों से सजावें। हिंदी-साहित्य-क्षेत्र आजकल खड़ीबोली के उन्नायकों के हाथ में है, उन्हें चाहिये कि वे जिस प्रकार उसको सुसज्जित कर रहे हैं, उसी प्रकार उसको कूड़े-करकट से भी बचावें। उचित दृष्टि होने पर एक दूसरे के मार्ग का कंटक न बनेगी, और अपना उचित स्थान लाभकर समुचित कीर्त्ति प्राप्त करने में समर्थ होगी। वर्त्तमान समय शृंगार रस के अपने वास्तविक रूपमें विकसित होने का है, इस तत्व को हिंदी संसार जितना समझेगा, उतना ही शृंगारित और सुसज्जित होगा और वह स्थान लाभ कर सकेगा, जिसको संसार की समुन्नत भाषाएँ प्राप्त कर सकी हैं। कला के साथ उपयोगिता सम्मिलित होकर कितना उपकारक बन जाती है, मैं समझता हूँ इस विषय में विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं।

वात्सल्य रस

बालक परमात्मा का अधिक समीपी कहा जाता है, उसमें सांसारिक प्रपंच नहीं पाया जाता। जितना वह सरल होता है, उतनाही कोमल। छल उसे छूता नहीं, कपट का उसमें लेश नहीं। उसके मुखड़े पर हँसी खेलती रहती है, और उसकी चमकीली आँखों से आनंद की धारा बहती जान पड़ती है। उसके मुसकुराने में जो माधुर्य्य है, वह अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। वह जितना ही भोला-भाला होता है, उतना ही प्यारा। उसकी तुतली बातें हृत्तंत्री में संगीत उत्पन्न करती है, और उसके कलित कंठ का कलनाद कानों में सुधा बरसाता है। वह दांपत्य सुख का सर्वस्व है, भाग्यवान् गृहस्थ-गृह का उज्ज्वल प्रदीप है, और है स्वर्गीय लीलाओं का ललित निकेतन। परमात्मा का नाम आनंदस्वरूप

है, बालक इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। एक उत्फुल्ल बालक को देखिये, इस मधुर नाम की सार्थकता उसके प्रत्येक उल्लास से हो जावेगी। बालकों की इस आनंदमयी मूर्ति का चित्रण अनेक भावुक कवियों ने बड़ी ही मार्मिकता से किया है। इस रससमुद्र में जो जितना ही डूबा, वह उतना ही भाव-रत्न सञ्चय करने में समर्थ हुआ। एक अंग्रेज सुकवि की लेखनी का लालित्य देखिये। वह लिखता है—

'I have no name :
I am but two days old',
What shall 'I call thee ?'
'I happy am,
Joy is my name.'
'Sweet joy befall thee !
Pretty Joy !
Sweet Joy, but two days old,
Sweet Joy I call thee :
Thou dost smile
I sing the while,
Sweet joy befall thee !! —W. Blake.

मेरा नामकरण अभी नहीं हुआ है, मैं दो दिन का बच्चा हूँ। तो हम तुमको क्या कहकर पुकारें ? मैं मूर्तिमान् उल्लास हूँ, मेरा नाम आनन्द है। तो तुमको मधुरतर आनंद प्राप्त हो !

मेरे प्रियतर आनन्द ! मेरे मधुरतर आनंद ! मेरे दो दिन के प्यारे बच्चे ! तुमको मधुर से मधुर आनंद प्राप्त हो !

तुम मधुर हँसी हँसो, मुसकुराओ, मैं भी स्वर्गीय गान आरंभ करता हूँ—भोले-भाले बच्चे, तुमको अधिकाधिक आनन्द प्राप्त हो !

बालभावों का चित्रण करने में, उनके आनंद और उल्लासों के

-वर्णन में कविकुलशिरोमणि सूरदासजी की सुधावर्षिणी लेखनी ने बड़ी मार्मिकता दिखलाई है—आहा ! देखिये—

सोभित कर नवनीत लिए ।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि-लेप लिए ।
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिए ।
लट लटकनि, मनो मत्त मधुपगन मादक मदहिं पिए ।
कठुला कंठ, वज्र, केहरि नख, राजत रुचिर हिए ।
धन्य 'सूर' एको पल या सुख का सत कल्प जिए ॥ १ ॥

*　　　*　　　*

हौं बलि जाऊँ छबीले लाल की ।
धूसर धूरि घुटुरुवनि रेंगनि बोलन वचन रसाल की ।
छिटिक रहीं चहुँ दिसि जु लटुरियाँ लटकन लटकति भाल की ।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कंठ कमल-दल-माल की ।
कछुके हाथ कछू मुख माखन चितवनि नैन बिसाल की ।
'सूर' सु प्रभु के प्रेम मगन भई ढिग न तजनि व्रज बाल की ॥ २ ॥

*　　　*　　　*

हरिजू की बाल छवि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज-सोभा-हरनि ।
मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूखन भरनि ।
मनहुँ सुभग सिंगार सुरतरु फऱ्यो अदभुत फरनि ।
लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि ।
जलज संपुट सुभग छवि भरि लेत उर जनु धरनि ।
पुन्य फल अनुभवति सुतहि विलोकिकै नँदघरनि ।
'सूर' प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि ॥ ३ ॥

हिंदी-साहित्य-गगन-मयंक गोस्वामी तुलसीदासजी का कवित्व-संबंधी सर्वोच्च सिंहासन बाललीला-वर्णन में भी सर्वोच्च ही रहा है । क्या भाव-

सौंदर्य्य, क्या शब्दविन्यास, सभी बातों में उनकी कीर्तिपताका भगवती वीणापाणि के उच्चतर करकमलों में ही विद्यमान है। देखिये, रससमुद्र किस सरसता से तरंगायित है—

नेक विलोकि धौं रघुबरनि।
चारि फल त्रिपुरारि तोको दिये कर नृपघरनि।
बाल भूखन बसन तन सुदर रुचिर रज भरनि।
परसपर खेलनि अजिर उठि चलनि, गिरि गिरि परनि।
झुकनि झाँकनि छाँह सो किलकनि, नटनि, हठि लरनि।
तोतरी बोलनि, बिलोकनि, मोहनी मनहरनि।
चरित निरखत बिबुध 'तुलसी' श्रोट दै जलधरनि।
चहत सुर सुरपति भयो सुरपति भए चहैं तरनि॥ १॥

* * *

छँगन मँगन अँगना खेलत चारु जारयो भाई।
सानुज भरत लाल लखन राम लोने लरिका लखि मुदित मातु समुदाई।
बाल बसन भूखन धरे नखसिख छबि छाई।
नील पीत मनसिज सरसिज मजुल मालनि मानो है देहनि तें दुति पाई।
ठुमुक ठुमुक पग धरनि नटनि लरखरनि सुहाई।
भजनि मिलनि रूठनि तूठनि किलकनि अवलोकनि बोलनि बरनि न जाई।
सुमिरत श्रीरघुबरन की लीला लरिकाई।
'तुलसिदास' अनुराग अवध आनँद अनुभवत तब को सो अजहुँ अघाई॥ २॥

* * *

छोटी छोटी गोड़ियाँ अँगुरियाँ छबीली छोटी
नखजोति मोती मानो कमल-दलनि पर।
ललित आँगन खेलैं ठुमुक ठुमुक चलैं,
झुँझनु, झुँझनु पाय पैजनी मृदु मुखर॥

किंकिनी कलित कटि हाटकजटित मनि,
मंजु कर कंजन पहुँचियाँ रुचिरतर।
पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली,
बालक दामिनि ओढ़ी मानो बारे बारिधर॥
उर बघनहा, कंठ कठुला, झँडूले केस,
मेढ़ी लटकन मसि बिंदु मुनि मनहर।
अंजन रंजित नैन, चित चोरै, चितवनि मुख-
सोभा पर वारौं अमित कुसुमसर॥
चुटकी बजावति नचावति कौसल्या माता
बालकेलि गावति मल्हावति सुप्रेम भर।
किलकि किलकि हँसैं, द्वै द्वै दँतुरियाँ लसैं
'तुलसी' के मन बसैं तोतरे बचन बर॥ ३॥

कैसा सरस और अद्भुत बाल-केलि वर्णन है। ऐसे और कई एक पद गीतावली में हैं, किंतु सबके उद्धृत करने का स्थान कहाँ! इच्छा होने पर भी उनको छोड़ता हूँ। कुछ रचनाएँ खड़ीबोली की भी देखिये। सामयिक रुचि की रक्षा के लिये ही ऐसा किया जाता है, नहीं तो अमृतरस-पान कराकर इक्षुरस पिलाने का उद्योग कौन करेगा?

लड़कपन

भोला-भाला बहुत निराला लाखों आँखों का उँजियाला।
खिले फूल सा खिला फबीला बड़े छबीले मुखड़ेवाला॥ १॥
हँसी खेल का पुतला प्यारा बना रँगीला नोखा न्यारा।
जगमग जगमग करनेवाला उगा हुआ चमकीला तारा॥ २॥
स्वर्ग लोग में रहनेवाला रस सोतों में बहनेवाला।
जा को बहुत लुभानेवाला बात अनूठी कहनेवाला॥ ३॥
रस के किसी पेड़ से टूटा फल उमग हाथों का लूटा।
समय बड़ी सुथरी चादर पर कढ़ा सुनहला सुंदर बूटा॥ ४॥

मटॅक भरे फूलों का दोना हँसती हुई आँख का टोना।
लेनेवाला मोल मनों का खरा चमकनेवाला सोना ॥ ५ ॥
साथ रंग-रलिया के खेला मीठा बजनेवाला बेला।
मनमानापन का मतवाला बड़ा लड़कपन है अलबेला ॥ ६ ॥

चंद-खिलौना

चंदा मामा दौड़े आओ दूध कटोरा भरकर लाओ।
उसे प्यार से हमें पिलाओ मुझपर छिड़क चाँदनी जाओ ॥१॥
मैं तेरा मृगछौना लूँगा उसके साथ हँसूँ खेलूँगा।
उसकी उछल कूद देखूँगा उसको चाटूँगा चूमूँगा ॥२॥
तू है अगर चाँदनीवाला तो मैं भी हूँ लाल निराला।
जो तू अमृत है बरसाता तो मैं भी रस-सोत बहाता ॥३॥
जो तेरी किरणें हैं न्यारी तो मेरी बातें हैं प्यारी।
तू है मेरा चंद खिलौना मैं हूँ तेरा छुन्ना मुन्ना ॥४॥

बाल-विभव

बालकों में कैसी आकर्षणी शक्ति होती है, उनके भाव कितने भोले होते हैं, उनमें कितनी विनोदप्रियता, रंजनकारिता और सरसता होती है, ऊपर की रचनाओं को पढ़कर यह बात भली-भाँति हृदयंगम हो गई होगी। ऐसे बालक किसके वल्लभ न होंगे, कौन उन्हें देखकर उत्फुल्ल न होगा, कौन उन्हें प्यार न करेगा, और वे किसके उल्लास-सरोवर के सरसीरुह न बनेंगे? माँ-बाप के तो बालक सर्वस्व होते हैं, ऐसी अवस्था में उनको देखकर उनके हृदय में अनुराग संबंधी अनेक सुंदर भावों का उदय होना स्वाभाविक है। माँ-बाप अथवा गुरुजनों का यह भाव परिपुष्ट होकर विशेष आस्वाद्य हो जाता है, वही, कुछ सहृदय जनों की सम्मति है कि वात्सल्य रस कहलाता है। अधिक-तर आचार्य्यों ने नौ रस ही माने हैं वे वात्सल्य भाव को अलग रस

नहीं मानते। इस भाव ही को नहीं, बड़ों का छोटों के प्रति जो अनुराग होता है, उन सबको वे वात्सल्य कहते हैं और 'रति' स्थायी भाव में उनका अंतर्भाव करते हैं। उन लोगों का विचार है कि रस का जितना परिपाक शृंगार में होता है, वात्सल्य में नहीं, अतएव इसको वे 'भाव' ही मानते हैं, रस नहीं। कुछ सम्मतियाँ देखिये—

काव्यप्रकाशकार ने रसों का नाम उल्लेख करने के पहले लिखा है— "तद्विशेषानाह"। इसकी व्याख्या करते हुए, 'बालबोधिनी' टीकाकार लिखते हैं—

"केचिदाहुरेक एव शृंगारो रस इति। केचिच्च प्रेयासदातोद्धतैः सह वक्ष्यमाणा नवेति द्वादशरसाः। तत्र स्नेहप्रकृतिकः प्रेयासः। अयमेव वात्सल्य इति बोध्यम्। धैर्य्य स्थायीभावको दांतः, गर्वस्थायीभावक उद्धत। तन्मतनिरासाय सामान्यज्ञानोत्तर विशेषजिज्ञासोदयाच्च वृत्तिकृदाह—तद्विशेषानाहेति—तद्विशेषान् तस्य रसस्य विशेषान् भेदान्। रससामान्यलक्षण तु रसत्वमेव, न च तत्र मानाभावः, रसपदशक्यतावच्छेदकतया तत्सिद्धेः"।

किसी की सम्मति है कि एक शृंगार रस ही रस है। किसी ने प्रेयांस दांत, उद्धत के साथ वर्णित नवरस को द्वादश रस माना है। जिस रस का स्थायी स्नेह हो उसको प्रेयांस कहते हैं, इसीका नाम वात्सल्य है। जिसका स्थायी धैर्य्य है, उसको दांत, जिसका स्थायी गर्व है उसको उद्धत कहा गया है। इन मतों के निरसन के लिये और सामान्य ज्ञान के उपरांत विशेष जिज्ञासा उदय होने पर वृत्तिकार कहते हैं "तद्विशेषानाह"— उस रस के विशेष भेदों को बतलाता हूँ। रस का सामान्य लक्षण रसत्व है, इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, रस पद की शक्यता से ही वह सिद्ध है।

एक दूसरे स्थान पर वे लिखते है—

प्रेयासादित्रयस्तु भावांतर्गता इति भाव। एतेनाभिलापस्थायिको लौल्यरस,

श्रद्धास्थायिको भक्तिरस स्पृहास्थायिकः कार्पण्याख्यो रसोऽतिरिक्त इत्यपास्तम् । त्रयाणामपि भावान्तर्गतत्वात् ।

"प्रेयासादि तीनो को 'भाव' के अंतर्गत माना है। जिसका स्थायी अभिलाष है उसको लौल्य रस, जिसका स्थायी श्रद्धा है उसको भक्ति रस, जिसका स्थायी स्पृहा है उसको कार्पण्य रस कहा है, किंतु ये तीनों भी भाव ही के अंतर्गत हैं'।

सोमेश्वर की सम्मति निम्नलिखित बतलाई गई है—

"स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति रतेरेव विशेषा.। तेन तुल्ययोरन्योन्य रति. स्नेह, अनुत्तमस्योत्तमे रतिर्भक्ति उत्तमस्यानुत्तमे रतिर्वात्सल्यम् इत्येवमादौ भावस्यैवास्वाद्यत्वमिति"।

स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्यो की अन्योन्य रति का नाम स्नेह, उत्तम में अनुत्तम की रति का नाम भक्ति और अनुत्तम मे उत्तम की रति का नाम वात्सल्य है। आस्वाद्य की दृष्टि से ये सब 'भाव' ही कहे जाते हैं।

एक अन्य विद्वान् की अनुमति यह है—

'स्नेहो भक्तिर्वात्सल्य मैत्री आवध इति रतेरेव विशेषा । तुल्ययोर्मिथोरतिः स्नेह. प्रेमेति यावत् । तथा तयोरेव निष्कामतया मिथो रतिर्मैत्री, अवरस्य वरे रतिभक्ति. सैव विपरीता वात्सल्यम् । सचेतनानामचेतने रतिरावध इति ।"

स्नेह, भक्ति, वात्सल्य, मैत्री, आबंध, रति के ही विशेष रूप हैं। तुल्य लोगों की परस्पर रति, स्नेह अथवा प्रेम, उनकी परस्पर निष्काम रति 'मैत्री', श्रेष्ठ मे साधारण की रति 'भक्ति', छोटों मे बडों की रति 'वात्सल्य' और अचेतन में सचेतन की रति 'आबंध' कहलाती है।

ऊपर के अवतरणो के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि वात्सल्य को रति का ही रूप माना गया है, और यह बतलाया गया है कि यह 'रस' नहीं 'भाव' है। साहित्यदर्पणकार 'भाव' का लक्षण यह बतलाते हैं—

'सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥"

"प्रधानता से प्रतीयमान निर्वेदादि संचारी तथा देवता, गुरु आदि के विषय में अनुराग एवं सामग्री के अभाव से रस रूप को अप्राप्त उद्बुद्धमात्र रति, हास, आदिक स्थायी, ये सब 'भाव' कहाते हैं"।

दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं—

"देव-मुनि-गुरु-नृपादिविषया च रतिरुद्बुद्धमात्रा विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्याः।"

"देवता, मुनि, गुरु और नृपादि-विषयक रति (अनुराग) भी प्रधानतया प्रतीत होने पर 'भाव' कहलाती है, और उद्बुद्धमात्र अर्थात् विभावादि सामग्री के अभाव से परिपुष्ट न होने के कारण रस रूप को अप्राप्त हास, क्रोधादि भी 'भाव' ही कहलाते हैं"।

काव्यप्रकाशकार की भी यही सम्मति है। वे लिखते हैं—

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाजितः—भावः प्रोक्तः।"

बालबोधिनी टीकाकार की व्याख्या यह है—

"रतिरिति सकलस्थायिभावोपलक्षणम्। देवादिविषयेत्यपि अप्राप्तरसावस्थोपलक्षणम्। तथा शब्दश्चार्थे। तेन देवादिविषया सर्वप्रकारा, कान्तादिविषयापि अपुष्टारतिः, हासादयश्च अप्राप्तरसावस्थाः, विभावादिभिः प्राधान्येनाजितो व्यंजितो व्यभिचारी च भावः प्रोक्तः भावपदाभिधेयः।"

भावार्थ इसका यह है कि देवता, मुनि, गुरु, नृप अथच पुत्रादि-विषयक अनुराग (रति) कांतादि विषयिणी अपुष्ट रति, विभावादि के प्राधान्य से व्यंजित व्यभिचारी, और रस अवस्था को अप्राप्त हासादिक स्थायी की 'भाव' संज्ञा होती है।

'भाव' का लक्षण आप लोगों ने देखा, अब 'रस' का लक्षण देखिये। नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि लिखते हैं—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'।

विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी भाव के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

काव्यप्रकाशकार की यह सम्मति है—

"कारणान्यथ कार्याणि सहकाराणि यानि च।
रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यते व्यभिचारिण ।
व्यक्त स तैर्विभावाद्यै. स्थायी भावो रसस्मृतः ॥"

नाट्य और काव्य मे रति आदिक स्थायी भावो के जो कारण, कार्य और सहकारी होते हैं, उनको विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी क्रम से कहते है। इन विभावादि की सहायता से व्यक्त स्थायी, भाव की रस सज्ञा होती है।

विभावादिको की व्याख्या 'बालबोधिनी' टीकाकार ने यह की है—

'वासनारूपतयातिसूक्ष्मरूपेणावस्थितान् रत्यादीन् स्थायिन विभाववति आस्वादयोग्यता नयतीति विभावा ।'

वासना रूप से अति सूक्ष्म आकार मे स्थिति रति आदिक स्थायी भावो को जो आस्वादन योग्य बनाते हैं उनको विभाव कहते है—यथा नायक नायिका, पुष्पवाटिकादि।

'रत्यादीन् स्थायिन अनुभावयति अनुभवविषयीकुर्वतीति अनुभावा. ।'

रति आदिक स्थायी भावो को जो अनुभव का विषय बनाते हैं, उन को अनुभाव कहते है—यथा कटाक्षादि।

"विशेषेणाभित (सर्वांगव्यापितया) रत्यादीन् स्थायिन काये चारयति संचारयति मुहुर्मुहुरभिव्यंजयतीति वा व्यभिचारिणः।" "स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ."

सर्वांग में व्यापित होकर जो रति आदिक स्थायी भावो के शरीर में सचरण करते हैं, समुद्र मे कल्लोल-समान उठते और विलीन होते हैं, उनको सचारी भाव कहते हैं—हर्ष, उद्वेग, चपलता आदि इसके उदाहरण हैं।

रस की यह परिभाषा अथवा लक्षण साहित्यिक है, इससे जैसा चाहिये वैसा प्रकाश प्रस्तुत विषय पर नहीं पड़ता। काव्यप्रकाशकार ने रस की जो निम्नलिखित व्याख्या की है, वह सर्वबोधगम्य एवं मानव अवस्था की सूचक है।

"पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रसः।"

"पानक रस के समान जिनका आस्वाद होता है, जो स्पष्ट झलक जाते हृदय में प्रवेश करते, व्याप्त होकर सर्वांग को सुधारससिंचित बनाते, अन्य वेद्य विषयों को ढक लेते, और ब्रह्मानंद के समान अनुभूत होते हैं, वे ही अलौकिक चमत्कारसंपन्न शृंगारादि रस कहलाते हैं।"

भाव किसे कहते है ? रस मे क्या विशेषता है ? ऊपर के अवतरणों को पढ़कर यह बात आप लोगो ने समझ ली होगी। वास्तविक बात यह है कि विशेष उत्कर्षप्राप्त, हृदयग्राही, व्यापक, अनिर्वचनीय आनंदप्रद अधिकतर मनोमुग्धकर भाव ही रस कहलाता है। दुग्ध की स्वाभाविक सरसता और मधुरता कम नहीं, किंतु अवट जाने पर जब वह अधिक गाढ़ा हो जाता है, सुस्वादु मेवों के साथ जब उसमें सिता भी सम्मिलित हो जाती है, तो उसका आस्वाद कुछ और ही हो जाता है, रसों की भी कुछ ऐसी ही अवस्था है। नाट्यशास्त्र-प्रणेता कहते है—

"न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्।"

"रस के बिना भाव नहीं और भाव के बिना रस नहीं होते। इन रस और भावों की सिद्धि एक दूसरे पर निर्भर है।"

रस और भावों मे इतनी स्पष्टता होने पर भी रस और भाव के निरूपण मे एकवाक्यता नहीं है। विभिन्न मत इस विषय मे भी हैं, और अब तक कोई ऐसा सिद्धांत निश्चित नहीं हुआ, जो सर्वमान्य हो। ऊपर

आप यह वाक्य देख चुके हैं, "केचिदाहुरेक एव शृंगारो रस इति" जिससे पाया जाता है कि कोई-कोई आचार्य शृंगार रस को ही रस मानते हैं, और किसी रस को रस मानना ही नहीं चाहते। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं कि उनके पितामह पंडितप्रवर नारायण अद्भुत रस को ही रस मानते हैं अन्य रसों को वे स्वीकार ही नहीं करते। यथा—

"रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।"

"सब रसों में चमत्कार सारसरूप से प्रतीत होता है। और चमत्कार (विस्मय) के साररूप (स्थायी) होने से सब जगह अद्भुत रस ही प्रतीत होता है, अत पंडित नारायण केवल एक अद्भुत रस ही मानते हैं।"

उत्तररामचरितकार करुण रस को ही प्रधान मानते हैं, वे लिखते हैं—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान् अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

"एक करुण रस ही निमित्तभेद से भिन्न होकर पृथक्-पृथक् परिणामों को ग्रहण करता है। जल के आवर्त्त, बुद्बुद, तरंगादि जितने विकार हैं, वे समस्त सलिल ही होते हैं।"

नाट्यशास्त्रकार ने आठ ही रस माने हैं। यथा—

"शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥"

"नाट्य में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत आठ रस माने गये हैं।"

काव्यप्रकाशकार ने नवाँ शांत रस भी माना है। यथा—

"निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शांतोऽपि नवमो रसः।"

"नवम रस शांत है जिसका स्थायी भाव निर्वेद है।"

रसगंगाधरकार कहते हैं—

"अथ कथमेत एव रसाः ? भगवदालम्बनस्य रोमाचाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य, भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भावमर्हति, अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात्। उच्यते—भक्तेर्देवादिविषयरतित्वेन भावांतर्गततया. रसत्वानुपपत्तेरिति।"

"क्या रस इतने ही है ? भगवान् जिसके आलंबन हैं, रोमांच अश्रुपातादि जिसके अनुभाव हैं, भागवतादि पुराणश्रवण के समय भगवद्भक्त भक्तिरस के उद्रेक से जिसका अनुभव करते हैं, वही भगवदनुरागरूपा भक्ति यहाँ स्थायी भाव है। शांत रस में इसका अंतर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि अनुराग और वैराग्य परस्पर विरोधी हैं। किंतु भक्ति देवादि रति विषय से संबंध रखती है, अतएव वह भाव के अंतर्गत है, इसमे रसत्व नही माना जा सकता।"

रसगंगाधरकार पंडितराज जगन्नाथ असाधारण विद्वान् थे। वे स्वयं प्रश्न उपस्थित करते हैं कि क्या रस इतने ही हैं ? प्रश्न उपस्थित करने के उपरांत पूर्व पक्ष का प्रतिपादन बड़ी योग्यता से करते हैं। जिन विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के आधार से स्थायी भाव रसत्व को प्राप्त होता है, उसका निरूपण भी यथेष्ट करते हैं, उनकी पंक्तियों को पढ़ते समय ज्ञात होने लगता है कि आप भक्ति को रस स्वीकार करेंगे, किंतु उन्होंने उसको देवादि-विषयिनी रति कहकर 'भाव' ही माना और यह भी नहीं बतलाया कि देव-विषयक रति को रसत्व क्यो नहीं प्राप्त होता। परमात्मा का नाम रस है, श्रुति कहती है, 'रसौ वै सः'। रस शब्द का अर्थ है, 'यः रसयति आनन्दयति स रसः'। वैष्णवों को माधुर्य उपासना परम प्रिय है, अतएव भगवदनुरागरूपा भक्ति को वे रस मानते हैं। यह विषय पंडितराजजी के लक्ष्य मे था, इसलिये उन्होने पूर्व-पक्ष में उसको ग्रहण किया, किंतु प्राचीन आचार्यों की सम्मति को प्रधान मानकर उसको भाव ही बतलाया।

आगे के पृष्ठो मे आप पढ़ चुके है कि कुछ रसनिर्णायको ने प्रेयास, दात, उद्धत, लौल्य, भक्ति और कार्पण्य को भी रस माना है। ज्ञात होता है कि इन लोगों का विचार भी पडितराजजी के ध्यान में था, और इस-लिये भी सबमें भक्ति को प्रधान समझकर उन्होंने उसके रस होने के विरुद्ध अपनी लेखनी चलाई। जो हो, मेरे कथन का अभिप्राय यह है कि रस-निरूपण का विपय निर्विवाद नहीं हैं। जैसा आप लोग देख चुके, इस विपय मे भी भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। हॉ, यह अवश्य है कि अधिक सम्मति नवरस संबंधिनी है। जिस प्रकार यह सत्य है, उसी प्रकार यह भी सत्य है कि कुछ मान्य विद्वानो ने वात्सल्य रस को भी दसवॉ रस माना है। उनमें मुनींद्र और साहित्यदर्पणकार का नाम विशेप उल्लेख योग्य है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"स्पष्ट चमत्कारक होने के कारण वत्सल को भी रस कहा गया है।"

"स्फुट चमत्कारितया वत्सलं च रस विदु ❀ "

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी अपने नाटक नामक ग्रंथ मे 'वत्सल' को रस माना है। उन्होंने रसों के नामों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

"शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत, बीभत्स, शांत, भक्ति वा दास्य, प्रेम वा माधुर्य, सख्य, वात्सल्य, प्रमोद वा आनंद।"

'प्रकृतिवाद' बँगला का एक प्रसिद्ध कोप है। उसके रचयिता बंग भापा के एक प्रसिद्ध विद्वान् हैं। वे रस शब्द का अर्थ बतलाते हुए लिखते हैं—

❀ भोजदेव ने भी अपने 'शृंगारप्रकाश' नामक ग्रंथ में 'वत्सल' को रस माना है और रसों की संख्या दस बतलाई है। वे लिखते हैं—

शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यरौद्रबीभत्सवत्सलभयानकशांतनाम्न ।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वदंति शृंगारमेव रसनाद्रस मामनाम॰ ॥

शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, रौद्र बीभत्स, वत्सल, भयानक, और शांत नामक दश रस बुद्धिमानों ने बतलाये हैं, किन्तु आस्वादन पर दृष्टि रखकर शृंगार ही रस माना जा सकता है।

"केहो केहो वात्सल्यकेओ रस वलियाथाकेन, तन्मते रस दश प्रकार।"—"कोई-कोई वात्सल्य को भी रस कहते हैं, उनके मत से रस दश प्रकार का होता है।"

साहित्यदर्पणकार ने वत्सल को रस मानने का कारण उसका स्पष्ट चमत्कारक होना वतलाया है, साथ ही उसको मुनींद्रसम्मत भी लिखा है। मेरा विचार है कि वत्सल मे उतना स्पष्ट चमत्कार नहीं है, जितना भक्ति मे, किंतु उसको उन्होंने भी रस नहीं माना। वाबू हरिश्चंद्र ने भक्ति वा दास्य लिखकर उसको दास्य तक परिमित कर दिया है, किंतु भक्ति वहुत व्यापक और उदात्त है, साथ ही उसमे इतना चमत्कार है, कि शृंगार रस भी उसकी समता नहीं कर सकता। वैष्णव विद्वानों ने भक्ति को रस माना है, और अन्य सब रसों से उसको प्रधानता दी है। आचार्यवर मधुसूदन सरस्वती अपने 'भक्तिरसायन' नामक ग्रंथ मे लिखते हैं—

"रसांतरविभावादिसंकीर्णा भगवद्रतिः।
चित्ररूपवदन्यादृग्रसतां प्रतिपद्यते॥
रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः।
भावः प्रोक्तो रसो नेति यदुक्तं रसकोविदैः॥
देवांतरेषु जीवत्वात् परानंदाप्रकाशनात्।
तद्योज्य—परमानंदरूपेण परमात्मनि॥
कांतादिविषया वा ये रसाद्यास्तत्र नेदृशम्।
रसत्वं पुष्यते पूर्णसुखास्पर्शित्वकारणात्॥
परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥"

"अन्य रसों के समान विभावादि से युक्त होकर भक्ति चित्र-फलक के सदृश मनोरंजन वनकर रसत्व को प्राप्त होती है। रसकोविदों ने देवादिविषयक रति और अंजित व्यभिचारी को भाव वतलाया है—रस नहीं, किंतु इस विचार को अन्य देवताओं तक ही परिमित समझना

चाहिये, क्योंकि उन लोगों की रति अलौकिक आनददायिनी नहीं होती, परमानंदस्वरूप परमात्मा की भक्ति के विपय मे यह बात नही कही जा सकती। कातादिविपयक रसो में रसत्व का पोषण यथेष्ट नहीं होता, क्योंकि उनको पूर्ण-सुख स्पर्श नहीं करते। प्राकृत क्षुद्र रसो से परिपूर्णरसा भगवद्भक्ति वैसी ही बलवती है, जैसी खद्योतो मे आदित्य की प्रभा।

सभव है, इस उक्ति को रंजित माना जावे, किंतु अभिनिविष्ट चित्त से विचार करने पर वह सत्य समझी जावेगी। भक्ति नव प्रकार की होती है।

"श्रवणं कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम्।
अर्चन वदन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

भारतेंदुजी ने जिन नवीन रसो की चर्चा अपने लेख मे की है, लगभग उन सब का अतर्भाव भक्ति से हो जाता हैं। भक्ति दास्य ही नहीं है, यह बात इस श्लोक मे स्पष्ट हो गई। आचार्यप्रवर मधुसूदन 'सरस्वती' की उक्ति का समर्थन भी अधिकाश में नवधा भक्ति करती है। पादसेवन से लेकर दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन तक भक्ति का चमत्कार है। दाम्पत्य धर्म का सर्वस्व भी दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन है। यो तो भगवदाज्ञा है, कि 'ये यथा मा प्रपद्यते तास्तथैव भजाम्यहम्', किंतु व्यापक भगवदुपासना तीन ही रूप मे होती है। १—पिता-पुत्र भाव, २—स्वामी-सेवक भाव और ३—पति-पत्नी भाव मे। शृगार रस मे प्रधान नायक पति और नायिका स्वकीया होती है। ऐसी अवस्था मे शृगार रस का भी अधिकाश भक्ति के अतर्गत आ जाता है। कबीर साहब निर्गुण उपासक माने जाते हैं। कुछ लोग उनको आधुनिक मत मत के निर्गुण उपासकों का आचार्य भी समझते हैं। निर्गुण उपासना का अधिकाश सबंध ज्ञानमार्ग से है, उसका आध्यात्मिक उत्कर्ष बहुत कुछ बतलाया जाता है। किंतु जब भक्ति अथवा प्रेम का उद्रेक हृदय मे होता है, तब सगुण उपासना ही सामने आती है, और उपासना के उक्त तीनो रूपा मे से किसी एक का अथवा तीनो का आश्रय चित्त की वृत्ति के अनुसार

ग्रहण करना पड़ता है। निर्गुणवादी होकर भी कबीर साहब को इस पथ का पथिक होना पड़ा है। उनको तीनो रूपो में परमात्मा को स्मरण करते देखा जाता है, किंतु पत्नी भाव की उनकी उपासना बहुत ही हृदयग्राहिणी है। यह उपासना माधुर्यमयी है, इसकी वेदनाएँ मर्म-स्पर्शिनी होती हैं, अतएव उनमे विचित्र रस-परिपाक पाया जाता है। कबीर साहब की निम्नलिखित रचनाओ मे कितनी मार्मिकता है आप लोग स्वयं उसका अनुभव कीजिये—

विरहिन देय सँदेसरा सुनो हमारे पीव।
जल बिन मछली क्यों जिए पानी में का जीव॥
अँखियाँ तो झाईं परी पथ निहार निहार।
जीहड़ियाँ छाला पड़ा नाम पुकार पुकार॥
विरहिन उठि उठि भुइ परै दरसन कारन राम।
मूए पाछे देहुगे सो दरसन केहि काम॥
मूए पाछे मत मिलो कहै कबीरा राम।
लोहा माटी मिल गया तब पारस केहि काम॥
सब रग ताँत रबाब तन बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुन सकै कै साईं कै चित्त॥
पिया मिलन की आस रहौं कब लौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नहीं ठहराय चढ़ूँ गिरि गिरि परूँ।
फिरि फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अंग अंग थहराय तो बहुविध डरि रहूँ।
करम कपट मग घेरि तो भ्रम मे परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है॥

अतर पट दे खोल सब्द उर लावरी।
दिल बिच दास कबीर मिलैं तोहि बावरी॥

इन पक्तियो मे कैसा आत्मनिवेदन है, उसे बतलाना न होगा। प्रत्येक शब्द में वह व्यजित है। आत्मनिवेदन का अर्थ आत्मोत्सर्ग लीजिये, चाहे आत्मदशानिवेदन, दोनों ही भाव उनमें मौजूद हैं। अतएव उनमें भक्ति रस का प्राचुर्य स्पष्ट है। काव्य-प्रकाशकार ने रस का जो व्यापक और मानसिक अवस्था-प्रदर्शन संबधी लक्षण लिखा है, भक्ति में वह जितना सुविकसित पाया जाता है, अन्य रस में उसका उतना विकाश नहीं देखा जाता। वे लिखते हैं—'पानक रस के समान रस को आस्वाद्य होना चाहिये' उनके कहने का भाव यह है कि जैसे पीने का रस चीनी, दूध केवड़ा, इलायची आदि भिन्न-भिन्न पदार्थों से बनकर उन सबसे पृथक् एक विचित्र स्वाद रखता है, और अधिक स्वादिष्ट भी होता है, उसी प्रकार, विभावादि के मिश्रण से जो रस बनता है, उसका आस्वादन भी अपूर्व और विलक्षण होना चाहिये। भक्ति में यह गुण और रसों से अधिक पाया जाता है। जब भगवद्-प्रेम विषयक स्थायी भाव, परमानंद-स्वरूप परमात्मा आलबन विभाव को पाकर पुलक, अश्रुपात आदि अनुभावो एव हर्ष, आवेग, विबोध, औत्सुक्य आदि संचारी भावों के सहारे भक्ति में परिणत होता है, उस समय भक्त जनो के हृदय में जिस अलौकिक रस का आविर्भाव होता है, वह कितना लोकोत्तर तथा दैवी विभूति सम्पन्न देखा जाता है, क्या यह अविदित है। क्या उसीके आस्वादन-जनित आमोद का वर्णन इन शब्दो में नहीं है?

"त्वत्साक्षात्करणाह्लादविशुद्धाब्धिस्थितस्य मे।
सुखानि गोष्पदायन्ते ·· ·· ····· ·· ॥"—भागवत

'तुम्हारे साक्षात्करण आह्लाद के विशुद्ध समुद्र में स्थित होने के कारण मुझको समस्त सुख गोष्पद समान ज्ञात होते हैं।"

क्या उसी रसास्वादनकारो की अद्‌भुत दशा का उल्लेख यह नहीं है?—

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिंतया क्वचिद्धसंति नंदंति वदंत्यलौकिकाः ।
नृत्यति गायत्यनुशीलयंत्यज भवंति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

"अच्युत का चिंतन करके कभी रोते हैं, कभी हँसते, आनंदित होते और अलौकिक बातें कहते हैं । कभी नाचते, गाते, भगवान् का अनुशीलन करते और परमात्मा को प्राप्त कर संतोष लाभ करने के उपरांत मौन हो जाते हैं ।"

क्या उसी रस का प्याला पीकर भक्तिमयी मीरा ने यह नहीं गाया ?—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई ।
साधुन सँग बैठि बैठि लोकलाज खोई ।
अब तो बात फैल गई जानै सब कोई ।
अँसुवन जल सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई ।
मीरा को लगन लगी होनि हो सो होई ॥

क्या उसी रस की सरसता के स्वाद ने उनके समस्त राजभोगों को भी नीरस नहीं बनाया था ?

क्या उसी रस का भांड लेकर भक्ति-अवतार गौरांग ने बंगाल प्रांत को प्रेमोन्मत्त नहीं बनाया ? स्वयं उस रस से सिक्त होकर क्या उन्होंने वह रस-प्लावन नहीं किया, जिसमें भारत का एक विशाल प्रांत आज भी निमग्न है ? आज से चार सौ वर्ष पहले इस पुण्यभूमि ने जो स्वर्गीय गान सुना, जो त्रिलोकमोहन नर्तन देखा, जो अभूतपूर्व भक्तिउद्रेक अवलोकन किया, क्या वह उसी रस की महत्ता नहीं थी ?

क्या उसी रस से सराबोर मंसूर ने सूली पर चढ़कर यह नहीं पुकारा—

'यह उसके बाम का जीना है आए जिसका जी चाहे ।'

क्या उस रस के रोम-रोम में, रग रग मे भीनने का ही यह निरूपण नहीं है—

'बाद मरने के हुआ मनसूर को भी जोशे इश्क।
खून कहता था अनल हक्क दार के साया तले॥'

कोई सामने आये और बताये कि दूसरे किस रस का आस्वाद ऐसा है!

रस की और विशेषता क्या है? यह कि वह स्पष्ट झलक जाता है, हृदय मे प्रवेश कर जाता है, सर्वांग को सुधारस सिंचित बनाता है और अन्य वेद्य विषयों को तिरोहित कर देता है। अन्य रसो पर भी यह लक्षण घटित हो सकता हैं, दूसरे रसो में भी यह विशेषता पाई जा सकती है, किंतु भक्ति रस मे तो इस लक्षण और विशेषता की पराकाष्ठा हो जाती है, वरन् कहना तो यह चाहिये कि भक्ति रस में ही इन विशेषताओ की वास्तविक सार्थकता होती है। जब भक्ति अन्य वेद्य विषयो को तिरोहित कर देती है, तभी तो वह स्पष्ट झलक जाती है, तभी तो हृदय मे प्रवेश करती है और तभी तो सर्वांग सुधारस-सिंचित होता है। यदि ऐसा न होता तो यह क्यों कहा जाता—'प्रेम एव परो धर्म्म." "God is love, love is God"? क्यो गोस्वामीजी महाराज कहते 'जेहि जाने जग जाय हेराई' और वेद्य विषयो की बात ही क्या जब भक्ति रस के प्रभाव से 'रसो वै स' का ज्ञान हो जाता है, तो ससार स्वय तिरोहित हो जाता है, स्वय खो जाता है, क्योकि जिसको उसकी खबर हो जाती है उसको स्वय अपनी खबर नहीं रहती। "आँरा कि खबर शुद खबरशबाज नयामद'। और तो और, बेचारी मुक्ति को भी कोई नहीं पूछता। जब भक्ति हृदय मे प्रवेश कर गई तो मुक्ति को उसमे स्थान कहाँ। उसका तिरोधान तो हो ही जावेगा—

"राम-उपासक मुक्ति न लेहीं। तिन कहँ राम भक्ति निज देहीं।'

श्रीमद्‌भागवत का भी यही वचन है। सुनिये—

"न किञ्चित साधवो धीरा भक्ता ह्येकांतिनो मम।
वाछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥"

'मेरे एकात भक्त धीर साधुजन कुछ नहीं चाहते, मम प्रदत्त कैवल्य और अपुनर्भव की भी कामना नहीं रखते।' रहा सर्वांग का सुधारस-सिंचित होना, इसका अनुभव किस भावुक पुरुष को नहीं है? जिस समय किसी देवालय तथा किसी सात्विक स्थान-विशेष में भक्तिमय भगवद्-सुयश का गान प्रारंभ होता है, अथवा जब किसी भक्तिरस-पूर्ण हृदय के मुख से उनकी कथामृत की वर्षा होने लगती है, उस समय कौन है जो सुधास्रोत में निमग्न नहीं हो जाता? परम भागवत राजा परीक्षित भक्ति-अवतार श्रीशुकदेवजी से क्या कहते हैं; सुनिये—

"नैषातिदुःसहा क्षुन्मा त्यक्तोदमपि बाधते।
पिबंत त्वन्मुखाम्भोजच्युत हरिकथामृतम्॥"

'परम दुःसह क्षुधा और पिपासा भी मुझको बाधा नहीं पहुँचा रही है, क्योंकि आपके कमल-मुख से निःसृत सुधा मैं पान कर रहा हूँ।' जो क्षुधा अंग-अंग को शिथिल कर देती है, शरीर को निर्जीव बना देती है, जो पिपासा यह बतला देती है, कि जीवन का आधार जीवन ही है, राजा परीक्षित कहते हैं, कि वही क्षुधा और वही पिपासा, सो भी साधारण नहीं, परम दुःसह, उनको बाधा नहीं पहुँचाती है, उनकी आकुलता अथवा निरानंद का कारण नहीं होती है, इस कारण कि वह एक भक्ति-भाजन महात्मा के मुख से निकले हरिकथामृत का पान कर रहे हैं। आपने देखा, भक्ति-रस का सर्वांग में सुधा-सिंचन। यदि भक्ति में यह शक्ति न होती तो क्या राजा परीक्षित के मुख से ऐसी अपूर्व बात कभी निकल सकती? आपमें यदि कभी भक्ति का उद्रेक होता है, या यदि कभी आपने किसी भक्ति-उद्रिक्त प्राणी को अभिनिविष्ट चित्त से देखा है, तो आपको इस बात का अनुभव होगा कि जिस समय हृदय में भक्ति-स्रोत प्रवाहित होता है, उस समय उसकी क्या दशा होती है। क्या उस समय समस्त अंगों में अलौकिक रस-सिंचन नहीं होने लगता, क्या यह नहीं ज्ञात होता कि शरीर पर कोई अमृत-कलस ढाल रहा है,

कोई रग-रग मे किसी ऐसे आनद की धारा प्रवाहित कर रहा है जिसका आस्वादन सर्वथा लोकोत्तर है? यही तो सर्वाग मे सुधारस सिंचन है। ब्रह्मानद का अनुभव ऐसे ही अवसरो पर तो होता है। भक्ति रस के अतिरिक्त दूसरा कौन रस है, जिसके द्वारा ब्रह्मानद की प्राप्ति यथातथ्य हो सके? रस को ब्रह्मानंद-सहोदर कहा है, किंतु भक्ति रस मे ही इस लक्षण की व्याप्ति है। सांख्यकार ने त्रिविध दु:ख की अत्यन्त निवृत्ति को परम पुरुषार्थ कहा है। किंतु भक्तिरस-सिक्त मनुष्यों को दु:ख का अनुभव होता ही नही, क्योकि 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' वह जानता है, 'सर्वं खल्विद ब्रह्म'। वह समझता है 'आनदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते आनदेन जातानि जीवति 'आनद प्रयान्त्यभिसविशति'। आनद ब्रह्मणो विद्वान् तस्यैवानदस्यान्ये मात्रामुपजीवति' और किस रस में इस सिद्धात के अनुभव की शक्ति है? भक्ति ही वह आधार है जिसके आश्रय से इस भाव का विकाश होता है। भक्तिमान को छोडकर कौन कह सकता है, 'राम-सियामय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥' कौन कह सकता है—बर्गे दरख्तान सब्ज दरनजरे हुशियार। हरवरके दफतरेस्त मारफते किर्दगार॥' 'द्रष्टा की दृष्टि मे हरे वृक्षो का एक-एक पत्ता परमात्मा के रहस्य-ग्रथ का एक-एक पन्ना है'। कितनी गहरी भक्तिमत्ता है। गुरु नानक देव कहते हैं—

गगन तल थाल रवि चद दीपक बने तारकामडला जनुक मोती।
धूप मलयानिलो पवन चँवरो करै सकल बनराय फूलत जोती॥
कैसी आरती होय भव खडना।

"गगनतल के थाल मे तारकमडल मोती के समान जगमगा रहे हैं, सूर्य चद्र उसमे दीपक सदृश शोभायमान हैं। मलयानिल धूप का काम देता है, समीर चमर झलता है, समस्त तरु पुष्प लेकर खड़े हैं, इस प्रकार भवभयनिवारण करनेवाली परमात्मा की अखड आरती होती रहती है"।

कैसी उदात्त और आनदमयी कल्पना है। जिसकी भक्ति के उच्छ्वास ने ससार को परमानदमय बना दिया है, उसी के प्रफुल्ल हृदय का

यह उद्गार है। ब्रह्मानंद का अनुभव यहीं तो है। यही है वह भक्तिभाव जिसे पाकर कुर्वंति कृतिनः केचिच्चतुर्वर्गं तृणोपमम्'

अब रही चमत्कार की बात। भक्ति का चमत्कार और विलक्षण है। भक्तिरस के रसिक ही के विषय में यह कहा गया है—

"न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रधिष्ण्य न सार्वभौम न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भव वा वाञ्छन्ति यत्पादरज प्रपन्नाः॥"—भागवत

'परमात्मा के चरणरज के प्रेमिक न तो कैलाश की कामना करते हैं, न स्वर्ग की, न सार्वभौम की, न राज्य की, न योगसिद्धि की, न अपुनर्भव की।' कैसा अलौकिक चमत्कार है! और सुनिये भगवान् उद्धव से क्या कहते हैं—

"न साधयति मां योगो न सांख्य धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥"—भागवत

'न तो मैं योग से मिलता हूं न सांख्य धर्म से, न स्वाध्याय से, न तप से; लोग मुझे ऊर्जित भक्ति से ही पा सकते हैं।' ऐसा चमत्कार किस रस का है? और भी सुनिये। भगवद्वाक्य है—

"यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।"—भागवत

'जो कर्म से, तप से, ज्ञान से, वैराग्य से, योग से, दान से, धर्म से एवं दूसरे श्रेयों से पाया जा सकता है, वह सब मेरा भक्त एक भक्ति-योग द्वारा ही पा जाता है।' भक्ति की कैसी अपूर्व चमत्कृति है।

वैदिक काल से प्रारंभ करके पौराणिक काल तक का जितना साहित्य है, उसके बाद के जितने काव्य अथवा अन्य धार्मिक किंवा ऐतिहासिक ग्रंथ हैं, वे समस्त भक्ति के चमत्कार से भरे पड़े हैं। वैदिक साहित्य के प्राकृतिक देवतों और ईश्वर की भक्ति का चमत्कार ही संसार के ज्ञान-

भाडार का विकाश है। महाभारत, रामायण और पुराणों के महामहिम पुरुषों की उदात्त देवभक्ति, गुरुभक्ति, पितृभक्ति आदि का चमत्कार क्या भारतवर्ष का पवित्र और जकदादर्शभूत महान् आत्मत्याग और अलौकिक सदाचार नहीं है। बुद्धदेव और बौद्धधर्म मे अशोक की अनन्य भक्ति का चमत्कार उसका वह बौद्धधर्म-प्रचार है, जिसके आलोक से लगभग समस्त एशिया महादेश आलोकित है, और जिसकी छाया आज-कल दूरवर्ती यूरोप और अमेरिका आदि अन्य महादेशो पर भी पड़ रही है। महात्मा ईसा की, जगत्पिता की, उदात्त भक्ति का चमत्कार वह ईसवी धर्म है, जिसके माननेवालो की संख्या आज ससार मे सबसे अधिक है।

ससार के अनत धर्ममंदिर अपने गगनस्पर्शी गुबदों और मीनारो द्वारा क्या ईश्वरभक्ति के चमत्कारों का ही उद्घोष नहीं कर रहे हैं? क्या उसी के गुणगान मे धर्म-सबधी विविध बाजे और गगनभेदी गभीर निनाद नहीं सलग्न है? संसार के तीर्थों की अपार जनता का समारोह, धार्मिक असख्य कार्य्य-कलाप, धर्मयाजकों अथच उपदेशको का विश्व-व्यापी धर्मप्रचार क्या किसी अचिंत्य शक्ति की भक्ति के चमत्कार का ही परिणाम नहीं है? ससार में आजकल जो नाना परिवर्तन हो रहे हैं, विविध आविष्कार और उद्योग किये जा रहे हैं, क्या वे विश्वभक्ति, देशभक्ति, समाजभक्ति जाति-भक्ति और आत्मभक्ति के ही चमत्कार नहीं हैं? यदि इन बातो का उत्तर स्वीकृति है, तो यह स्पष्ट है कि भक्ति जैसा चमत्कार किसी रस में नहीं है इस दृष्टि से भी उसकी सब रसों पर प्रधानता है।

काव्यप्रकाशकार ने जो व्यापक लक्षण रसो के बतलाये थे, उसके आधार से विचार करने पर भी भक्तिरस का स्थान उच्च ही नहीं उच्चतर सिद्ध हुआ। भक्ति-साहित्य भी किसी अन्य रस के साहित्य से अल्प नहीं, हिंदी-ससार में तो सतो की वाणियो ने उसका भाडार भली-भांति भर दिया है। फिर भी भक्ति को भाव ही माना जाता है, उसे रस नहीं

कहा जाता। इस विषय में पंडितराज जगन्नाथजी ने भी उसका पक्ष नहीं लिया। तो भी अनेक वैष्णव विद्वानों ने उसके रस-प्रतिपादन का उद्योग किया है और यह बड़े हर्ष की बात है।

वात्सल्य रस के प्रसंग में भक्तिरस पर कुछ लिखना विषयांतर था। किंतु मैंने वात्सल्य रस का पक्ष पुष्ट करने के लिये ही यह कार्य्य किया है। मैं कहना यह चाहता हूँ कि जब भक्ति जैसे प्रधान रस की उपेक्षा हो सकती है, तो वात्सल्य रस का उपेक्षित होना आश्चर्यजनक नहीं। मैं पहले दिखला आया हूँ कि वात्सल्य को कुछ प्रसिद्ध विद्वानों ने रस माना है। अब मैं देखूंगा कि उसमें रस होने की योग्यता है या नहीं। किसी भाव को रस मानने के लिये यह आवश्यक है कि वह विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा परिपुष्ट हो। यह बात वत्सल रस में पाई जाती है। साहित्यदर्पणकार लिखते हैं—

"स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालंबनं मतम्॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः।
आलिंगनांगसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम्॥
पुलकानंदबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः।
संचारिणोऽनिष्टशंकाहर्षगर्वादयो मताः॥"

"प्रकट चमत्कारक होने के कारण कोई-कोई वत्सलरस भी मानते हैं। इसमें वात्सल्य स्नेह स्थायी होता है। पुत्रादि इसके आलंबन और उसकी चेष्टा तथा विद्या, शूरता, दया आदि उद्दीपन विभाव हैं। आलिंगन, अंगस्पर्श, सिर चूमना, देखना, रोमांच, आनंदाश्रु आदि इसके अनुभाव हैं। अनिष्ट की आशंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी माने जाते हैं।"

यदि कहा जावे कि अपने विभाव, अनुभाव आदि के द्वारा स्थायी वत्सलता स्नेह उतना परिपुष्ट नहीं होता जो रसत्व को प्राप्त हो तो यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती। यह सच है कि उद्बुद्धमात्र कोई

स्थायी भाव तव तक रस नहीं माना जा सकता जब तक उसमें स्थायिता और विशेप परिपुष्टि न हो, किंतु जो रस माने जाते हैं, उनसे वत्सलरस किसी वात मे न्यून नहीं है, उसमें भी विशेप स्थायिता और रस-परिपुष्टि है। काव्यप्रकाशकार ने रस के जो व्यापक और मनोभावद्योतक लक्षण वतलाये हैं, उनपर मै वात्सल्य रस को कसता हूँ। आशा है उससे प्रस्तुत विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा। वे लक्षण ये है—

(१) रसो का आस्वाद पानक रस समान होता है, (२) वे स्पष्ट झलक जाते है, (३) हृदय मे प्रवेश करते है, (४) सर्वांग को सुधारस-सिंचित बनाते हैं, (५) अन्य वेद्य विपयो को ढक लेते हैं, ६) ब्रह्मानंद के समान अनुभूत होते हैं और (७) अलौकिक चमत्कृति रखते हैं।

पानक रस किसे कहते है, पहले मै यह वतला चुका हूँ। अनेक वस्तुओ के सम्मिलन से जो रस बनता है, उसका स्वाद जैसे उन भिन्न-भिन्न वस्तुओ से भिन्न और विलक्षण होता है उसी प्रकार विभाव, अनु-भावादि के आधार से वने हुए रस का आस्वाद भी उन सवो से अलग और विलक्षण होना चाहिये। वात्सल्य रस मे यह वात पाई जाती है। वालको की वालक्रीड़ा देखकर माता पिता में जो तन्मयता होती है, वह अविदित नहीं। उनकी तोतली वातो को सुनकर उनके हृदय मे जो रस-प्रवाह होता है, क्या वह अपूर्व और विलक्षण आस्वादमय नहीं होता? माता पिता को छोड़ दीजिये, कौन मनुष्य है जिसे वाललीला विमोहित नहीं करती? देखिये, निम्नलिखित पद्य मे इस भाव का विकास किस सुदरता से हुआ है—

बर दंत की पंगति कुंदकली अधराधर पल्लव खोलन की।
चपला चमकै घन बीच जगै छवि मोतिन माल अमोलन की।
घुघुरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।
निवछावर प्राण करै तुलसी वलि जाउँ लला इन बोलन की॥

वात्सल्य स्नेह विभाव, घुघुरारी लटें, वोलन आदि उद्दीपन, मधुर

छवि-अवलोकन आदि अनुभाव, और हर्ष संचारी भाव के मिलन से जिस रस का आस्वाद आस्वादनकारिणी को हुआ है, जो पद्य के प्रति पदों मे छलक रहा है, क्या पानक रस के आस्वाद से कहीं विलक्षण नहीं है ? क्या विमुग्धता का स्रोत उसमें, नहीं बह रहा है ?

सरित्, सरोवर आदि में लहरें उठती ही रहती हैं किंतु सब लहरें न तो स्पष्ट होती हैं, न यथातथ्य दृष्टिगोचर होती हैं। यही बात मानस-तरंगों अथवा हृदय के भावों के विषय में भी कही जा सकती है। अनेक लहरें हृदय मे उठती है, और तत्काल विलीन हो जाती हैं। किंतु कुछ भावों की लहरें ऐसी होती हैं, जो स्पष्ट झलक जाती हैं, और उनमें स्थायिता भी होती है। रस-प्राप्त भाव ऐसे ही होते हैं। वात्सल्य-रस भी ऐसा ही है। सहृदय शिरोमणि सूरदासजी के निम्नलिखित पद्य में उसका बड़ा सुंदर विकाश है। अंतिम वाक्य 'कीन्हें सात निहोरे' ने तो इस पद्य मे जान डाल दी है—

जेंवत नंद कान्ह इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दुहूँ कर बालक हैं अति भोरे।
बड़ो कौर मेलत मुख भीतर मिरिच दसन टुक तोरे।
तीछन लगी नयन भरि आए रोवत बाहर दौरे।
फूँकति बदन रोहिनी माता लिये लगाइ अँकोरे।
सूर स्याम को मधुर कौर दे कीन्हें सात निहोरे।

बालक समान हृदयवल्लभ कौन है ? वही तो कलेजे की कोर है, वही तो कलेजे का टुकड़ा (लख्त-जिगर) है, फिर उसके भोले भाले भाव हृदय में प्रवेश क्यों न करेंगे। बालकों के समान हृदयविमोहन, संसार में कौन है ? कुसुमचय भी बड़े मनोहर होते हैं, किंतु बालकों जैसी सजीवता उनमें कहाँ। देखिये हृदय-प्रविष्ट भाव की सरसता ! गोस्वामी जी निम्नलिखित पद्य लिखकर, मैं तो कहूँगा कि, रस की रसता भी छीने लेते हैं—

पौढ़िए लालन पालने हौं झुलावौं ।
कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन भँवर भुलावौं ।
बाल विनोद मोद मंजुल मनि किलकनि खानि खुलावौं ।
तेइ अनुराग ताग गुहिबे कहँ मति मृगनयनि बुलावौं ।
तुलसी भनित भली भामिनि उर सो पहिराय फुलावौं ।
चारु चरित रघुबर तेरे तेहि मिलि गाइ चरन चित लावौं ॥

बालक का मयंक सा मुखड़ा आँखों में सुधा बरसाता है, उसकी तुतली बातें कानों में अमृत की बूँद टपकाती हैं, उसके चुम्बन के आस्वाद के सम्मुख पीयूष ऊख बन जाता है, और उसका आलिंगन अंग अंग पर चाँदनी छिड़क देता है। जब वह हँसता-खेलता आकर शरीर से लपट जाता है, या किलकारियाँ भरता हुआ गोद में आ बैठता है, तब क्या उस समय 'सर्वांगीणमिवालिंगन्' का दृश्य उपस्थित नहीं हो जाता ? यह वात्सल्य भाव की रस में परिणति ही तो है, और क्या है। देखिये सुधा निचोड़ती हुई एक माता क्या कहती है—

मेरे प्यारे बेटे आओ ।
मीठी मीठी बातें कहके मेरे जी की कली खिलाओ ।
उमग उमग कर खेलो कूदो लिपट गले से मेरे जाओ ।
इन मेरी दोनों आँखों में हँसकर सुधा बूँद टपकाओ ॥

जिसने कभी बालकों के साथ खेला है, वह जानता है कि उस समय कितनी तन्मयता हो जाती है। बालक उस समय जो कहता है, वही करना पड़ता है। उस समय वास्तव में अन्य वेद्य विषय तिरोहित हो जाते हैं, यदि न हों तो खेल का रंग ही न जमेगा। यदि खेल का रंग न जमा तो बाल-विलास का आनंद ही जाता रहेगा। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ग्लाडस्टोन एक दिन अपने पौत्र के साथ खेल रहे थे। आप घोड़ा बने हुए थे, और पौत्र उनकी पीठ पर सवार होकर उनसे घोड़े का काम ले रहा था। उसी समय उनसे मिलने के लिये एक सज्जन आये, और

उनका यह चरित्र देखकर उनके पास ही कुछ दूर पर खड़े हो गये। किंतु वे अपनी केलि-क्रीड़ा मे इतने तन्मय थे, कि वहुत देर तक उनका ध्यान ही उधर नहीं गया। खेल समाप्त होने पर जब यह बात उनको ज्ञात हुई, तो वे हँस पड़े। बोले, आशा है आपके यहाँ भी लड़के होंगे। इसीको कहते हैं वेद्य विपय का तिरोभाव। इसी तन्मयता का चित्र महात्मा सूरदासजी किस सहृदयता से खींचते हैं, देखिये। अंतिम पद्य मे 'स्याम को मुख टरत न हिय ते' वड़ा मार्मिक है—

आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी।
तारी दै दै गावहीं मधुरी मृदु वानी
पायन नूपुर वाजई कटि किंकिनि कूजै।
नन्हीं एड़िअन अरुनता फलबिंव न पूजै।
जसुमति गान सुनै स्रवन तव आपुन गावै।
तारि वजावत देखिकै पुनि तारि वजावै।
नाँचि नचि सुतहिं नचावई छवि देखत जिय ते।
सूरदास प्रभु स्याम को मुख टरत न हिय ते।

रस का परिपाक ब्रह्मानंद समान अनुभूत होता है, इसकी वास्तवता चिंतनीय है। बीभत्स रस एवं भयानक और रौद्र रस में इसकी चरितार्थता तादृश नहीं होती। हाँ! शांत, शृंगार, करुण, अद्‌भुत और विशेष दशाओं मे हास्य और वीर मे भी इस लक्षण की सार्थकता हो सकती है। भक्तिरस मे तो यह लक्षण पूर्णता को पहुँच जाता है; वत्सलरस मे भी उसका पर्याप्त विकाश दृष्टिगत होता है। संसार मे जो आनंद-स्वरूप परमात्मा का कोई मूर्तिमान् आकार है, तो वह वालक है। ब्रह्म के संसार से निर्लिप्त होने का भाव जो कहीं मिलता है, तो बालक मे मिलता है। दुःख सुख में सम वालक ही देखा जाता है, निरीहता उसीमे मिलती है। फिर वात्सल्य रस ब्रह्मानंद-सहोदर क्यो

न होगा। गोस्वामी तुलसीदासजी का इसी भाव का एक बड़ा सुंदर पद है, जो अपने रंग में अद्वितीय है—

माता लै उछ्ग गोबिंद मुख बार बार निरखै।
पुलकित तनु आनद घन छन छन मन हरखै।
पूछत तोतरात बात मातहि जदुराई।
अतिसय सुख जाते तोहि मोहि कहु समुझाई।
देखत तव वदन कमल मन अनद होई।
कहै कौन? रसन मौन जाने कोई कोई।
सुन्दर मुख मोहि देखाउ, इच्छा अति मोरे।
मम समान पुन्यपुज बालक नहिं तोरे।
तुल्सी प्रभु प्रेमबस्य मनुज रूपधारी।
बाल-केलि-लीला-रस ब्रज जन हितकारी।

तुतलाकर लीलामय ने माता से पूछा, तुमको अपार सुख किसमें है? माता ने कहा—तेरा कमलवदन देखकर मन आनंदित होता है कैसा आनद होता है, इसको कौन कहे, रसना तो चुप है, इसको कोई कोई जानता है। लीलामय ने कहा—वह सुन्दर मुखड़ा मुझे दिखला। माता ने कहा—मेरे समान तेरा पुण्यपुज कहाँ! यहाँ पर ब्राह्मानंद को भी निछावर कर देने को जी चाहता है। ससार में बालक के मुख अवलोकन के आनद का अनुभव माता ही को हो सकता है। और कोई ससार मे इस अनुभव का पात्र नहीं, पिता भी नहीं। बालक-कृष्ण भी पित ही के वर्ग का है, इसीलिये माता ने कहा तेरा पुण्यपुंज ऐसा कहाँ फिर जो आनंद ऐसा अलौकिक और अनिर्वचनीय है, कि जिसको रसना भी नहीं कह सकती, जिसको कोई-कोई जानता ही भर है, कि कह वह भी नहीं सकता, उसे वे कैसे कहें। यही तो ब्रह्मानद है। जिस की अधिकारिणी कोई कोई यशोदा जैसी भाग्यशालिनी माता ही हैं

स्वयं अवतारी बालक कृष्ण भी नहीं। अपने मुख को आप कोई कैसे देख सकता है, जब तक विमल बोध का दर्पण सामने न होवे।

चमत्कार के विषय में तो वात्सल्य रस वैसा ही चकितकर है, जैसा कि स्वयं बालक। जब बालक-मूर्ति ही चमत्कारमयी है तब उससे संबंध रखनेवाले भाव चमत्कृतकर क्यों न होंगे! बालक का जन्मकाल कितना चमत्कारमय है और उस समय चारों ओर कैसा रस का स्रोत उमड़ पड़ता है, इसका अनुभव प्रत्येक हृदयवान् पुरुष को प्राप्त है। उस समय के गीतों के गान में जो झंकार मिलती है, सोहरों मे जो विमुग्धकरी ध्वनि पाई जाती है, वह किसी दूसरे अवसर पर श्रुतिगोचर नहीं होती। संतान ही वंश-वृद्धि का आधार, पिता का आशास्थल, माता का जीवन-सर्वस्व और संसार-बीज का संरक्षक है। उसीमे यह चमत्कार है कि जैसी ममता उसकी पशु पक्षी कीट पतंग को होती है वैसी ही देवता मनुष्य और दानवों को भी। उसकी लीलाएँ जितनी मनोरंजिनी हैं, जितनी उसमें स्वाभाविकता और सरलता मिलती है, मानव जीवन की किसी अवस्था मे उतनी मनोरंजन आदि की सामग्री नहीं पाई जाती। ये बातें भी चमत्कारशून्य नहीं, तो भी नीचे मैं वात्सल्य रस के कुछ पद्य देता हूँ। आप देखें, इनमें कैसा स्वभाव-चित्रण और कविता-गत-चमत्कार है। बालक जैसे सरल और कोमल होते हैं, वैसे ही उनके भाव और विचार भी सरल और कोमल होते हैं, उद्धृत कविताओं मे आपको उनका बड़ा ही मनोहर स्वरूप दिखलाई पड़ेगा।

मैया! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।
देख तुही छीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो।
मुख दधि पोंछि कहत नँदनदन दोना पीठ दुरायो।
डारि साँट मुसुकाइ तबहि गहि सुत को कंठ लगायो।

बाल विनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप दिखायो।
सूरदास प्रभु जसुमति के सुख सिव बिरंचि बौरायो ॥

शिव विरंचि बावले बने हों या न बने हों, किंतु महात्मा सूरदासजी का बड़ी ही सजीव भाषा में सहज बाल-स्वभाव का चित्रण अत्यंत मार्मिक और हृदयग्राही है। एक-एक चरण में विमुग्धकारी भाव हैं और उनको पढ़कर रसोन्माद-सा होने लगता है। चमत्कार के लिए इतना ही बहुत है। शिव विरंचि का उन्माद तो बड़ा ही चमत्कारक है, सभव है हमारे दिव्यचक्षु महाकवि ने इसको अवलोकन किया हो। बालक कृष्ण की विचित्र लीला क्या नहीं कर सकती !

अबहि उरहनो दै गई बहुरो फिरि आई।
सुनु मैया ! तेरी सौं करौं याकी टेव लरन की सकुच बेंचि सो खाई ॥
या ब्रज मैं लरिका घने हौं ही अन्याई।
मुहलाए मूँडहि चढ़ी अतहु अहिरिन तोहि सूधी कर पाई ॥
सुनि सुत की अति चातुरी जसुमति मुसुकाई।
तुलसिदास ग्वालिनि ठगी, आयो न उतर कछु कान्ह ठगौरी लाई ॥

अहीरिन ने भी अच्छे घर बैना दिया था, बेचारी दो दो बार उलाहना देने आई, पर फिर भी उसीको मुंह की खानी पडी। उसने मुंह की ही नहीं खाई, भोले-भाले बालक द्वारा ठगी भी गई। दूध दही तो गया ही था, उल्लू भी बनी, जवाब तक न सूझा। बालक कृष्ण ने ऐसी बातें गढीं कि यशोदादेवी को मुसकाना ही पडा। इन गढी बातों को सुनकर किसके दाँत नहीं निकल आयेंगे ! हमारे कृष्ण भगवान् ने चाहे जो किया हो, किन्तु गोस्वामी तुलसीदासजी की लेखनी का चमत्कार इस पद्य मे चमत्कृतकर है।

जो कसौटी मैंने वात्सल्य रस के कसने की ग्रहण की थी, मेरे विचार मे उसपर कस जाने पर वात्सल्य रस पूरा उतरा। 'इसके अतिरिक्त जब मैं विचार करता हूँ तो वात्सल्य रस उन कई रसो से अधिक व्यापक

और स्पष्ट है, जिनकी गणना नवरस 'में होती है। हास्य रस का स्थायी भाव हास है; हास्य मनुष्य-समाज तक परिमित है; पशु-पक्षी-कीट-पतंग नहीं हँसते, किंतु वात्सल्य रस से ये जीवजंतु भी रहित नहीं. चींटी तक अपने अंडे-बच्चों के पालन मे लगी रहती है, मधुमक्खियाँ तक इस विषय मे प्रधान उद्योग करती दृष्टिगत होती हैं। यदि वनस्पति-संबंधी आधुनिक आविष्कार सत्य हैं, और उनमें भी स्त्री पुरुष मौजूद है, तो वत्स और वात्सल्य भाव से वंचित वे भी नहीं हैं: फिर भी 'हास्य' को रस माना गया, और 'वात्सल्य' इस कृपा से वंचित रहा। वीभत्स में भी न तो वत्सल इतनी रसता है, न व्यापकता, न सचरणशीलता; फिर भी वह नव रस मे परिगणित है और 'वत्सल' को वह सम्मान नहीं प्राप्त है। वीभत्स रस भी मानव-समाज तक ही परिमित है। इतर प्राणियों मे उसके ज्ञान का अभाव देखा जाता है, इस दृष्टि से भी वत्सल की समानता यह नही कर सकता, तथापि वह उच्च आसन पर आसीन है। वत्सलरस का साहित्य निस्संदेह थोड़ा है, इस विषय में वह रस-संज्ञक स्थायीभावो का सामना नही कर सकता। हिंदी-भाषा के किसी आचार्य्य अथवा प्रतिष्ठित विद्वान् ने 'वत्सल' को रस नही माना, इस-लिये उसकी कविता साहित्य-ग्रंथों में प्रायः दुष्प्राप्य है। केवल बाबू हरिश्चंद्र ने उसको रस माना है, किंतु उनकी भी इस रस की कोई कविता मुझे देखने मे नहीं आई। जितने हिंदी भाषा मे रस-संबंधी ग्रंथ है, उन सबमें आवश्यकतावश नव रस की कविता मिलती है, किंतु यह गौरव वत्सल को नहीं मिला। साहित्य से किसी भाव की व्यापकता का पता चलता है, क्योंकि इससे जनसमुदाय की मानसिक स्थिति का भेद मिलता है। अतएव यह स्वीकार करना पड़ता है, कि इस विषय में वत्सल रस उतना सौभाग्यशाली नहीं है। फिर भी मैं यह कहूँगा कि हिंदी संसार मे जितना साहित्य वात्सल्य रस का पाया जाता है, वह अद्भुत, अपूर्व और बहुमूल्य है। कविशिरोमणि सूरदास और कविचूड़ामणि गोस्वामी

तुलसीदासजी की वत्सलरस-संबंधी रचनाएँ अल्प नहीं हैं, और इतनी उच्च कोटि की है, कि उनकी समानता करनेवाली कविता अन्यत्र दुर्लभ है। वत्सलरस के साहित्य के गौरव और महत्त्व के लिये मैं उनका यथेष्ट समझता हूँ, क्योंकि वे जितनी हैं उतनी ही अलौकिक मणि समान हिंदी समार-क्षेत्र को उद्भासित करनेवाली हैं। आजकल बाल-साहित्य के प्रचार के साथ वत्सलरस की विभिन्न प्रकार की सरस रचनाओं का भी प्राचुर्य्य है। ज्ञात होता है, कुछ दिनों में शृंगार, हास्य, वीर आदि कतिपय बड़े-बड़े रसों को छोड़कर इस विषय में भी वात्सल्य रस अन्य साधारण रसों से आगे बढ़ जावेगा। यदि इस एक अंग की न्यूनता स्वीकार कर लें तो भी अन्य व्यापक लक्षणों पर दृष्टि रखकर मेरा विचार है कि वत्सल की रसता सिद्ध है, और उसको रस मानना चाहिये। मतभिन्नता के विषय में कुछ वक्तव्य नहीं, वह स्वाभाविक है।

'हरिऔध'

'रसकलस' की रचना में सहायतार्थ पुस्तकों की सूची

गणनाक	पुस्तक का नाम	पुस्तक प्रणेता का नाम	भापा
१	अग्निपुराण	महर्षि व्यास	संस्कृत
२	श्रीमद्भागवत	,,	,,
३	नाट्यशास्त्र	महामुनि भरत	,,
४	भक्तिसूत्र	देवर्षि नारद	,,
५	शब्दविवेक	कश्चित्	,,
६	शब्दकल्पद्रुम	कश्चित्	,,
७	शृंगारप्रकाश	भोजदेव	,,
८	धर्मशास्त्रसंग्रह	कश्चित्	,,
९	काव्यप्रकाश	आचार्य्य मम्मट	,,
१०	रसगंगाधर	पंडितराज जगन्नाथ	,,
११	साहित्यदर्पण	आचार्य विश्वनाथ	,,
१२	रघुवंश	महाकवि कालिदास	,,
१३	कुमारसंभव	,,	,,
१४	उत्तररामचरित	महाकवि भवभूति	,,
१५	भक्तिरसायन	मधुसूदन सरस्वती	,,
१६	रसमंजरी	कश्चित्	,,
१७	गीतावली रामायण	गोस्वामी तुलसीदास	हिंदी
१८	सूरसागर	प्रज्ञाचक्षु सूरदास	,,
१९	रामचंद्रिका	आचार्य केशवदास	,,

गणनांक	पुस्तक का नाम	पुस्तक प्रणेता का नाम	भाषा
२०	कविप्रिया	आचार्य केशवदास	हिंदी
२१	रसिकप्रिया	"	"
२२	देवग्रंथमाला	कविपुंगव देवदत्त	"
२३	रहिमनशतक	रहीमखाँ खानखाना	"
२४	मतिराम-ग्रंथावली	मतिराम	"
२५	बिहारी सतसई	कविवर बिहारीलाल	"
२६	जगद्विनोद	पद्माकर भट्ट	"
२७	कबीर ग्रंथावली	कबीर साहब	"
२८	हरिश्चंद्र-ग्रंथावली	भारतेंदु-हरिश्चंद्र	"
२९	हिंदी-शब्दसागर	कतिपय प्रसिद्ध विबुध	"
३०	काव्यप्रभाकर	बाबू जगन्नाथप्रसाद भानु	"
३१	काव्यकल्पद्रुम	बाबू कन्हैयालाल पोद्दार	"
३२	नवरस	पं० बाबूराम बित्थरिया	"
३३	हिंदी रसगंगाधर	पं० पुरुषोत्तम शर्मा	"
३४	रसकुसुमाकर	महाराज अयोध्या	"
३५	मीरा भजनावली	मीराबाई	"

इन ग्रंथों के अतिरिक्त सामयिक पत्र-पत्रिकाओं और अनेक अँगरेजी, फारसी, उर्दू और बँगला ग्रंथों से भी इस ग्रंथ की रचना में सहायता ली गई है।

विषय-सूची

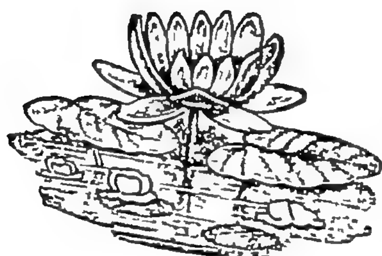
विषय

विषय — पृष्ठ

रसकलस



'हरिऔध'



रस-कलस

मंगलाचरण

मनहरण

कुंठितकपालन की कालिमा कलित होति
अवलोके सुललित लालिमा पदन की।
सुंदर - सिंदूर - मंजु गात सुख वितरत
दरत दुरित-पुंज दिव्यता रदन की॥
'हरिऔध' सकल अमंगल विदलि देति
मंगल-कलित कांति मंगल-सदन की।
संकट-समूह-सिंधु-सिंधुता विलोपिनी है
वंदनीय सिंधुरता सिंधुरबदन की॥ १॥

तुरत तिरोहित अपार उर-तम होत
पग - नख - तारक - प्रसूत जोति परसे।
रुचिर विचार मंजु सालि वहु बिलसत
जन-अनुकूलता विपुल बारि बरसे॥
'हरिऔध' सब-रस-बलित बनत चित
दयावान मन के सनेह-साथ सरसे।
सकल अभाव, भाव भूति भव-भूति होति
भारती-विभूति भूतिमान मुख दरसे॥ २॥

सुकबि - समूह - मंजु - साधना-विहीन जन
लोक-समाराधना को साज कैसे सजिहै।
विभु की विभूति ते विभूतिमान बनि बनि
भाव-साथ कूर क्यों सुभावना को भजिहै॥
'हरिऔध' असरस उर क्यों सरस ह्वैहै
कैसे अरुचिरता अचारु-रुचि तजिहै।
मेरी मति-बीन तो मधुर ध्वनि पैहै कहाँ
एरी बीनवारी जो न तेरी बीन बजिहै॥ ३॥

बचन-विलास ते न जाको मन बिलसत
छहरत छवि ते न जाकी मति छरी है।
विविध रसन ते न जाको चित सरसत
रुचि की रुचिरता न जाहि रुचिकरी है॥
'हरिऔध'-भारती न भूलिहूँ लुभैहै ताहि
जाके उर माहिं भारतीयता न अरी है।
वैभव मैं जाके है अभाव मंजु भावन को
भावुकता नाहिं जाकी भावना मैं भरी है॥ ४॥

कोकिल की काकली को मान कैसे कैहै काक
भील कैसे मंजु मुकतावलि को पोहैगो।
कैसे वर वारिज विलोकि मोद पैहै भेक
दादुर विभाकर-विभव कैसे जोहैगो॥
'हरिऔध' कैसे 'रस-कलस' रुचैगो ताहि
जाको उर रुचिर रसन ते न सोहैगो।
आँखिन मैं बसत कलंक-अंक ही जो अहै
कोऊ तो मयंक अवलोकि कैसे मोहैगो॥ ५॥

स्थायी भाव

स्थायी भाव

जिसकी रस में सदा स्थिति होती है अथवा रसानुकूल हृदय में जो विकार (भाव) उत्पन्न होता है उसे स्थायी भाव कहते हैं। उसके निम्नलिखित नव भेद हैं—

१–रति २–हास, ३–शोक, ४–क्रोध. ५–उत्साह, ६–भय, ७–ग्लानि, ८–आश्चर्य और ९–निर्वेद।

१—रति

प्रिय वस्तु में मन की प्रेमपूर्ण परायणता का नाम 'रति' है। इसके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

(क) उत्तम रति

सदा एकरस रहनेवाली अनन्य प्रीति को 'उत्तम रति' कहते हैं। यह अधिकांश स्वार्थशून्य होती है। इसमें सेव्य-सेवक-भाव की प्रधानता रहती है।

कवित्त—

नैन मैं मधुरता मनोहरता भावन मैं
चावन मैं चारुता-विकास दरसत है।
जानति न रीति अनरीति औ अनीति की है
पूत परतीति रोम-रोम परसत है॥
'हरिऔध' पति-प्रीति-पाग-पगी अंगना के
भाग-भरे भाल पै सुहाग बरसत है।
देह मैं सदेह बिलसति सुकुमारता है
नेह-भरे उर मैं सनेह सरसत है॥१॥

चंद - मुख की ही बनी रहति चकोरिका है
सरस-सनेह-स्वाति-बूँद की है चातकी।
प्यारो तन कारो करि राखति नयन - तारो
वारति गोराई वा पै गोरे-गोरे गात की ॥
'हरिऔध' औगुनी को औगुनहूँ गुन होत
देति है कुबातहूँ को उपमा नबात की।
पात लौं हिलति पवि-पात सिर पै है होत
पातक-निरत पतिहूँ को कहे पातकी ॥२॥

वंदनीय-विरद विलोकि पुलकति बाल
पावन विचार की प्ररोचना मैं बोरी है।
विमल विवेक की विमलता बखानति है
कीरति-कलित - रस - कनक - कसोरी है ॥
'हरिऔध' गौरव निहारि गौरवित होति
गुन-गन-गान ते गरीयसी न थोरी है।
चावमयी पिय-चाव-स्वाति-जल-चातकी है
रुचिर-चरित-चारु-चंद की चकोरी है ॥३॥

भाग भोग राग ते सोहाग को सराहति है
साजिकै सहज साज बनति सजीली है।
फूल ते फबति न फबति कनफूल ते है
मन की फबन ही ते फबति फबीली है ॥
'हरिऔध' भावमयी भाव-सिंधु-इंदिरा है
माधव-मधुर-छबि-छकित छबीली है।
गौरव गनति है अगौरव-दरब कौंहिं
पति - प्रेम - गौरव - गरब - गरबीली है ॥४॥

सवैया—

पौर-परोसिनी पै पति को सुनि प्यार-पगी कबौं टोकत नाहीं।
भीतर-भौन अलीनहूँ मैं परे कामहूँ के कछु ठोकत नाहीं॥
रोस किये 'हरिऔध' के चाल वे बैन सुधा-सने रोकत नाहीं।
लाज-भरी अँखियान उठाइ मयंकहूँ को अवलोकत नाहीं॥ ५॥

(ख) मध्यम रति

अकारण परस्पर प्रीति को 'मध्यम रति' कहते हैं। इसमें मैत्रीभाव की प्रधानता होती है। इसका स्वार्थ तरल और एकदेशीय होता है।

कवित्त—

दोऊ दुहूँ चाहैं दोऊ दुहुँन सराहैं सदा
दोऊ रहैं लोलुप दुहूँन छवि न्यारी के।
एकै भये रहैं नैन-मन-प्रान दोहुँन के
रसिक वनेई रहैं दोऊ रस-क्यारी के॥
'हरिऔध' केवल दिखात द्वै सरीर ही है
नातो भाव दीखै हैं महेस-गिरिबारी के।
प्रानप्यारे चित मैं निवास प्रानप्यारी रखै
प्रानप्यारो बसत हिये मैं प्रानप्यारी के॥ ६॥

सवैया—

चूमत पी को कपोल तिया तिय को पियहूँ अधरा-रस चाखै।
अंक गहै 'हरिऔध' को कामिनि पी नवला को भुजा भरि भाखै॥
आपने जीवन-प्रान-समान लला को लली करिबो अभिलाखै।
लालहूँ नेहमयी नव बाल को आँखिन की पुतरी करि राखै॥ ७॥

(ग) अधम रति

जिस प्रीति में स्वार्थ की प्रधानता होती है उसे 'अधम रति' कहते हैं। सांसारिक व्यवहार में यही प्रीति अधिकतर सर्वत्र दृष्टिगत होती है।

कवित्त—

काके बाल बाल लोक-कालिमा-निकेतन हैं
काके मद-भाल पै कलंक-अंक आँके हैं।
काकी केलि सकल प्रवंचना-सहेलिका है
काके हाव-भाव पाप-पथ के पताके हैं॥
'हरिऔध' वार-वनिता-सी को बिलासिनी है
छल-छंद-छुरे काके अंग छवि-छाके हैं।
गरल-भरित काके वयन सलोने अहैं
लोने-लोने नयन लहू मैं सने काके हैं॥ ८॥

उबरि उबरिहूँ न उबरि सकत कोऊ
बार-बार वारिधि-बिपत्ति महिँ बोरै है।
सुधा-सने बैन कहि कबहूँ निहोरति है
तेह करि नेह के तगा को कबौं तोरै है।
कबहूँ चुरैल की चची बनि चिचोरति है
कबौं चाव चौगुनो दिखाइ चित्त चोरै है।
रंच न सकाति कै अकिंचन कुबेरहूँ को
कंचन-से तन कौंहिं कंचनी निचोरै है॥ ९॥

सवैया—

बैन विचारि बिनै सौं कहे तबहूँ पत बापुरे की न बची रहै।
ताकि सकै नहिं भौंहैं पिया तऊ त्योर चढ़े रहैं तेह-तची रहै॥
जी उचटावन मैं 'हरिऔध' चुरैलहू की बनी खासी चची रहै।
रोम रहै रस की बतियाहुँ मैं प्यारहूँ मैं महा रार मची रहै॥१०॥

२—हास

विचित्र वचन-चातुरी अथवा विनोदपूर्ण रूप-रचना के प्रभाव से आनन्द-युक्त मनोविकार को 'हास' कहते हैं।

कवित्त

बिना पूँछ वानर बनाइ मत पीछूँ परै
पूछत न बात तो पकरि न पछारि दै।
कारो हौं कुरूप हौं मैं तू तो रूपवारी अहै
चूमन न देत तो कत्रौं तो चुमकारि दै॥
'हरिऔध' सूधो कहा साधहूँ रखत नाहिं
तू तो सुघरी है मेरी बिगरी सुधारि दै।
घरी-घरी घूरन चहत घरवारो तोहि
एरी घरवारी नेक घूँघट उघारि दै॥ १॥

नेक ही नजर बदले पै ना परत कल
कौन कहै ताको होत हाल फिरके पै जौन।
हुकुम के मारे सदा नाक मैं रहत दम
आनन बिलोकत ही होत दिन-रैन गौन॥
'हरिऔध' एतेहू पै बचत न क्यौंहू प्रान
मुख ते कढ़त याते नहिं रहि जात मौन।
मरद बिचारो जाते हारो सो रहत होस
ऐसी सबला को काहैं अबला कहत कौन॥ २॥

कैसे तो न तुपक निहारि आँखि तोपि लेहिं
बार-बार छाती जा छरी के छुए धरके।
कैसे उतपात नाम ही ते ना सकात रहैं
थर-थर गात काँपि जात पात खरके॥
'हरिऔध' कहै कैसे कत्रौं अरि सौं हैं होहिं
जात हैं रसातल जो पाँव ही के सरके।
कैसे डरे दौरि कै न द्वार के किवारे देहिं
का करैं बिचारे हैं दुलारे बीरबर के॥ ३॥

सरिता-सलिल है वहत कल-कल नाहिँ
खिलखिल हँसि है हुलास-पगो हुलसत ।
दारिम-फलन दंत-राजि है निकसि लसी
खोलि मुँह बिकच-सुमन-बृंद सरसत ॥
'हरिऔध' हेरि-हेरि राका रजनी को हास
मुदित दिगंत है बिकास-भरो बिलसत ।
हँसि-हँसि लोटि-लोटि जात चारु चाँदनी है
मंजुल मयंक अहै मंद-मंद बिहँसत ॥ ४

सवैया—

हौं मन को, मन ही को मनाइहौं मानिहौं बात नहीं वहसी की
ना रहिहौं कस मैं कवौं काहु के कान न कैहौं कही अकसी की ।
लोक की लाज ते काज कहा जब लाज रही हरिऔध' न सी की
है हँमी होति तो होति हँसी रहै है न हमैं परवाह हँसी की ।

दोहा—

सुछवि छई छिति-तल-जयी बिजयी छितिप समान ।
है वसुधा को मोहती सुधामयी मुसुकान ॥ ६

विसराए विसरति नहीं मोहति तन - मन - प्रान ।
जन - मन - नयनन मैं वसी मनमोहन मुसुकान ॥ ७

[हसन-क्रिया के छः भेद]

उत्तम—स्मित और हसित

मध्यम—विहसित और उपहसित

(क) स्मित

जब नेत्रों तथा कपोलों पर कुछ विकास हो और अधर आरंजित तब 'स्मित' होता है, इसमें दाँत नहीं निकलते। आश्रय-स्थान—गंभीर और शिष्ट-जन-मुख-मंडल।

सवैया—

अनखान भरे सब सौतिन के उर मैं विख-धार बहावति-सी।
तम-पूरे अनेहिन के हिय-भौन मैं चाँदनी चारु उगावति-सी॥
रसिया 'हरिऔध' के अंतर मैं रस कौ सुभ सोत लसावति-सी।
मुसुकावति आवति है ललना अँखियान सुधा बरसावति-सी॥ ८॥

दोहा—

अहै बनावति रस बरसि मानस को मधु-मान।
विकसित ललित कपोल करि अधर-बसी मुसुकान॥ ९॥

(ख) हसित

यदि नेत्रों और कपोलों के विकास के साथ दाँत भी दिखलाई पड़ें तब वह 'हसित' होता है। इसका आविर्भाव भी प्रायः गंभीर और शिष्ट मुखमंडल पर ही देखा जाता है।

दोहा—

दरसावति दमकत दसन लालहिं करति निहाल।
हँसि बरसावति है सुधा बरसाने की बाल॥१०॥

(ग) विहसित

नेत्रों और कपोलों के विकास के साथ दाँत दिखलाते हुए जब आरंजित मुख से कुछ मधुर शब्द भी निकलें तब 'विहसित' होता है।

दोहा—

हँसी मजु मुख मोरि कै किलकी बनी ललाम।
वदन-राग-रजित भई रागमयी वर वाम ॥११॥

(घ) उपहसित

विहसित के लक्षणों के साथ जब सिर और कधे कँपने लगते हैं, फूल जाती है, तिरछे ताका जाता है, तब 'उपहसित' होता है।

दोहा—

तिरछी अँखियन ते चितै चित चोरति चलि चाल।
खिलि-खिलि आनन खोलिकै खिलखिलाति है बाल ॥१२

(ङ) अपहसित

आँसू टपकाते हुए उद्धत हास को 'अपहसित' कहते हैं।

दोहा—

वहु हँसि-हसि हाँसी करति कहति रसीले बैन।
सिर हिलि-हिलि सरसत रहत मोती बरसत नैन ॥१३॥

(च) अतिहसित

आँसू बहाते हुए ताली देकर ऊँचे स्वर से ठठाकर हँसने को 'अति कहते हैं।

दोहा—

तिय तारी दै-दै हँसति हिलति लता लौं जाति।
पुलक-वारि लोयन भरे पुलकित विपुल लखाति ॥१४॥

३—शोक

हित की हानि अथवा इष्ट नाश किंवा प्रिय पदार्थ की अप्राप्ति से जो दुःख होता है उसका नाम 'शोक' है।

कवित्त—

छन-छन छीजत न देखहिँ समाज-तन
हेरहिँ न विवश ह्वै टूक होत छतियान।
जाति को पतन अवलोकहिँ न आकुल ह्वै
भूलि ना विलोकहिँ कलंकी होत कुल-मान॥
'हरिऔध' छिनत लखहिँ ना सलोने लाल
लुटत निहारहिँ न लोनी-लोनी ललनान।
खोले कछु खुलीं पै कहाँ हैं ठीक-ठीक खुलीं
अधखुली अजौं हैं हमारी खुली अँखियान॥ १॥

काहू की ठगौरी परे ठग ह्वै गये हैं सग
वन गये परम विमुख मुख कौर कौर।
जाति को है ठोकर पै ठोकर लगति जाति
काठ सी कठोरता पुकारति है और-और॥
'हरिऔध' करत कठिन ठकठेनो काल
ठुकराई ठकुराइनैं हैं ठाढ़ी पौर-पौर।
है न वह ठाट वह ठसक न वह टेक
ठिठके दिखात ठूँठे ठाकुर हैं ठौर-ठौर॥ २॥

तावा के समान है तपत उर तापवारो
गरम हमारो लोहू सियरो भयो नहीं।
पीर लहि मुख पियरानो पीर वारन को
वदन दिखात तऊँ पियरो भयो नहीं॥
'हरिऔध' जोहि-जोहि निरजीव जीवन कौ
जीवन-विहीन मीन जियरो भयो नहीं।
जाति टूक-टूक भई टूको ना मिलत माँगे
टूक-टूक तऊ हाय हियरो भयो नहीं॥ ३॥

नाविक जो नाविकता-नियम बिसारि दैहै
बनि वीर बीरता-बिरद जो न बरिहै।
नाव को सवार ही जो कैहै छेद नाव माहिँ
सकल बचाव के उपाव ते जो अरिहै॥
'हरिऔध' बहि-बहि प्रबल बिरोध-बायु
बार-बार पथ जो उबार को बिगरिहै।
कैसे जाति-उपकार-पोत मँझधार परो
आपदा-अपार-पारावार पार करिहै॥ ४॥

मर्मवेध

मुनिन-सरोज को दिनेस अथयो अकाल
गुनिन-कुमुद-चंद राहु-मुख परि गो।
'हरिऔध' ज्ञानिन को चितामनि चूर भयो
मानिन-प्रदीपहूँ को तेज सब हरि गो॥
पारस हेराइ गयो हीन-जन-हाथन कौ
भारती को प्यारो एकलौतो तात मरि गो।
सागर सुखानो आज सतजन-मीनन कौ
दीनन को हाय देव-पादप उखरि गो॥ ५॥

सवैया—

बातेँ सरोस कबौं कहिकै हित सौं कबहूँ समझाइबो तेरो।
मेरे घने अपराधन को बहु ब्यौंत बनाइ दुराइबो तेरो॥
छोह किये कपटी 'हरिऔध' के रचकहूँ न रिसाइबो तेरो।
मारिबो पी कौ न सालत है पर सालत मौत बचाइबो तेरो॥ ६॥

दोहा—

खोले ना अँखिया खुलति बनि दुखिया है मूक।
होति बिपति बतिया सुने छतिया नाहिं छ टूक॥ ७॥

दिन-दिन छीजत जाति है रही न पति छिति माहिं ।
रेजो - रेजो होत है कठिन करेजो नाहिं ॥ ८ ॥

४—क्रोध

शत्रु के अपमान, आग्रह और दंभ से उत्पन्न हुए हर्ष के प्रतिकूल मानसिक भाव को 'क्रोध' कहते हैं। हृदय के प्रिय और अनुकूल भावों पर आघात होने से भी 'क्रोध' का प्रादुर्भाव होता है।

कवित्त—

जैहै जो बिगरि तो पकरि कै रगरि दैहौं
देखि अनखैहै तो अनख बनि जैहौं मैं।
सूधे जो न बोलिहै तो ठौंकि-ठौंकि सूधो कैहौं
बात जो बनाइहै तो लातहूँ लगैहौं मैं॥
'हरिऔध' ऐंठिहै तो ऐंठिबो रहैगो नाहिं
दाँत पीसिहै तो दौरि दाँत तोरि दैहौं मैं।
आँख फोरि डारिहौं दिखाइहै जो आँख मोहिं
कोऊ आँखि काढ़िहै तो आँखि काढ़ि लैहौं मैं॥ १ ॥

रोस भये अरि को मसक-सम मीसि दैहै
रार मचे सूर-साधना को ना सरेखिहै।
भीर परे भीरुता न भरिहै रगन माहिं
लाग लगे पवि को पतौआ सम लेखिहै।
'हरिऔध' अरे ह्वै है अचल हिमाचल लौं
भिरे पुरहूत को पतंगम लौं पेखिहै।
लोहा लिये कालहूँ के काल ते सकैहै नाहिं
लाल-लाल आँखि कोऊ लाल कैसे देखिहै॥ २ ॥

मनमानी किये कबौं मानिहौं मनाये नाहिं
वडे-वडे मानिन को मान मोरि दैहौं मैं।
प्रतिकूल परम-प्रवल-दल-पोत कॉहिं
निज वल-वारिधि मैं वोरि-वोरि दैहौं मैं॥
'हरिऔध' गारिहौं गरव मगरूरिन कौ
वडे दगादार कौ तगा लौं तोरि दैहौं मैं।
गाल मारिहै तो अरि-गाल फारि मोद पैहौं
ऑख दिखराई है तो ऑख फोरि दैहौं मैं॥ ३॥

आग वरसाइहौं अरिन के अगारन मैं
गरल सुधारस-सरोवर मैं घोरिहौं।
वॉके-वॉके वीरन की वीरता विगारि दैहौं
छिति के छितिप की छितिपता को छोरिहौं॥
'हरिऔध' तेह भये पूरिहौं पयोनिधि कौ
वड़े-वडे तरु को तिनूका सम तोरिहौं।
फोरिहौं गिरिन को उतारि लैहौं तारन को
रवि को विथोरि दैहौं ससि को निचोरिहौं॥ ४॥

सवैया—

सूधियै नीकी लगै सवको भला वकता भौंहन को कत दीजत।
नूतन लालिमा लाभ किये कत गोल कपोल की है छवि छीजत॥
चूक परी न चलै 'हरिऔध' पै नाहक ही इतनो कत खीजत।
वाल हौं यौंहीं निहाल भई अव लाल कहा ऑखियान को कीजत॥ ५॥

दोहा—

चिनगी लाइ चितै-चितै हरहिं चारु चित-चैन।
दहत नेह की देह हूँ तेह-तये तिय-नैन॥ ६॥

रिसहूँ में सरसत रहत बरबस बनत रसाल।
ललना-लोचन लाल ह्वै लालहिं करत निहाल ॥ ७ ॥

५—उत्साह

शूरता, दान और दया से उत्पन्न हुई प्रबल इच्छा के आविर्भाव को 'उत्साह' कहते हैं। बल, विद्या, प्रताप, दयालुता, दान-सामर्थ्य, कार्यकारिणी शक्ति और धर्म-उद्रेक इसके आधार हैं।

कवित्त—

जागि-जागि केहूँ जे न जागहिँ जगाइ तिन्हैं
सूखी धमनीन मैं रुधिर-धार भरिहौं।
सुधरि सुधारि कै समाजहिं उधारि लैहौं
परम-अधीरता निवारि धीर धरिहौं ॥
'हरिऔध' उबरि उबारि बरिहौं विभूति
वीरता अवीरता अवनि मैं वितरिहौं।
धोइ दैहौं कुजन-मयंक को कुअंक-पंक
जाति-भाल-अंक को कलंक सब हरिहौं ॥ १ ॥

बास-हीन विरस असंयत सनेह कौंहि
बासवारे-सुमन-सुबास सो बसैहौं मैं।
सकल सुपास सुख-संचन कसौटिन पै
रंच न सकैहौं चाव-कंचन कसैहौं मैं ॥
'हरिऔध' जाति-हित करि हारिहौं ना कबौं
वैर-धूरि कौंहि बारि-पात ह्वै नसैहौं मैं।
विविध विरोध-बारिनिधि बारि को सुधारि
बारिधर की-सी बारिधारा बरसैहौं मैं ॥ २ ॥

पीछे जो हटैंगे तो पगन काँहिं पंगु कैहौं
कर जो कँपैंगे तो करन को कटैहौं मैं।
छिलि जैहै जो न जाति-उर के छतन ते तो
छल-धाम छाती काँहिं छलनी बनैहौं मैं॥
'हरिऔध' जो न कढ़ि पैहैं चिनगारियाँ तो
लोचनता लोचनन केरि छीनि लैहौं मैं।
भीति ते भरैगो तो रहैगो भेजो भेजो नाहिं
काँपिहै करेजो तो करेजो काढ़ि दैहौं मैं॥ ३॥

सवैया—
पारि सकौं अपने परपच की वेरी परीनहूँ के वर पायन।
आनि सकौं ससिहूं की कला अपने कल कौसल और उपायन॥
कामिनि कौन तिहूं पुर मैं 'हरिऔध' हौं जाकौ सकौं अपनाय न।
आन तियान की बात कहा ठगि लाऊँ कहो दिवि की ठकुरायन॥४॥

दोहा—
छ्वै उछाह-कर बनत है मरु छिति छविमय कुंज।
कनक कनकता लहत है रजत होत रज-पुंज॥ ५॥
उर उमगे उधरति धरा नभ विचरत नभ-यान।
नख पै ते गिरि नहिं गिरत जल पै तिरत पखान॥ ६॥

६—भय

अपराध, भयकर शब्द, विकृत चेष्टा और रौद्रमूर्ति जीवादि द्वारा जो मनोविकार उत्पन्न होता है उसका नाम 'भय' है।

कवित्त—
संका की चुरैल है चनावति दुचित-चित
भूत-अभिभूत भाव उर को गयो नहीं।
भूरि भीरुता है होति भीति-अनुभूति ही ते
भरि जात जी मैं कब भभर नयो नहीं॥

'हरिऔध' पात खरकत है कँपत गात
कब छिति माहिं छोभ रहत छयो नहीं।
सभय नयन मॉहिं भय अजहूँ है भरो
सभय हमारो मन, अभय भयो नहीं ॥ १ ॥

काको चार बाँह है बड़ो है बलवान कौन
का न हमैं बीरता-विभूति को सहारो है।
काहे फिर अरि अवलोकत बजत दाँत
काहे भूत-अभिभूत होत भाव सारो है॥
'हरिऔध' काहे रोम-रोम है भभर-भरो
काहे भीति-पूरित विलोचन को तारो है।
धरकत उर काहे खरकत पात ही के
थर-थर काहे गात काँपत हमारो है ॥ २ ॥

सवैया—

हाँस-भरी गगरीन भरे हौं चली हरुये 'हरिऔधहिं' हेरी।
बावरो बानर औचक आइ गह्यो अचरा मग मैं अरि एरी ॥
काँपि उठी भभरी चली भाजि हौं टूटी गिरे गगरी सिर केरी।
बीर अजौं बतिया न कढ़ै धरकी छतिया रतिया भर मेरी ॥ ३ ॥

दोहा—

है न देस हित भय भरो है न भयावह बात।
उभरि-उभरि कत चित्त तू भभरि-भभरि भजि जात ॥ ४ ॥

भव-जन-मानस भय-भरे क्यों न भभरि महराहिं।
है न भूत-भावन-भजन भूत-भावना मॉहिं ॥ ५ ॥

७—जुगुप्सा

किसी अपराध के हृदय में उदय होने, किसी दोष के स्मरण करने, घृणित वस्तु के देखने, छूने और किसी नारकीय जन की बातों के सुनने से जो मनोविकार उत्पन्न होता है उसे 'ग्लानि' अथवा 'जुगुप्सा' कहते हैं।

कवित्त—

चेरो हौं न तेरो, तेरो मोलहूँ लियो हौं नाहिं
तानिहै हमैं तो हौं तिगूनो तोहि तानिहौं।
नीचपन कैहै तो नचैहौं तो कौ नाना नाच
सॉच तजे कॉच इतनौ ना सनमानिहौं॥
'हरिऔध' बदि-बदि बाद जो बढैहै मोसों
बादी के समान तोको बद तो बखानिहौं।
मान करिहौं ना, मान कीनेहूँ मनैहौं नाहिं
अरे मन तेरी मनमानी मैं न मानिहौं॥ १॥

चित की अबलता अबलता रही तो कबौं
कैसे जर सबल सबलता की खनि है।
ताव-हीन तन जो बनैगो तावबारो नाहिं
कैसे तो न तमकि तमकवारो तनिहै॥
'हरिऔध' कैसे जाति धँसिहै धरा मैं नाहिं
मानस-अधीर जो न धीरता मैं सनिहै।
कैसे दूरि ह्वैहै बैरि-विविध-विरोध-धूरि
ऑसुन की धारा वारि-धारा जो न बनिहै॥ २॥

पंच बनि अधिक विपंची के करत काम
कब परपंची है प्रपंच मैं फँसे नहीं।
बोरि-बोरि बारि मैं तगा के सम तोरि-तोरि
छोरि-छोरि बंधन गये कब कसे नहीं॥

'हरिऔध' मुख-लाली रखत न लाली रवि
कब भाल-अंक के कलंक सो लसे नहीं।
धीरता रही न डूबी धरम-धुरीनता है
उधरी धरा न पै धरा में तो धँसे नहीं ॥३॥

कहा दुख पावै पछतावै अकुलावै महा
नैनन ते नीर कौन काज ढारियत है।
स्रोन-से सपूत के नसे ते कौन प्रान राखै
याते ऐसी इनकी दसा निहारियत है ॥
'हरिऔध' भलो भई जो पै अंध दियो साप
पापिन के ऐसे ही प्रमाद टारियत है।
तू तो इतनाहूँ ना विचार्‍यो मन एरे मूढ़
तीरथ के तीर काहू तीर मारियत है ॥४॥

दोहा—

कैसे करुनाकर कहँहि करहु कृपा की कोर।
चित आकुल ह्वै जात चितवत अपनी ओर ॥५॥
पावन चित में वहत है परम अपावन सोत।
कैसे मुख सौंहैं करहि मुख सौंहैं नहि होत ॥६॥

८—आश्चर्य

विस्मयजनक पदार्थों के देखने, अलौकिक सामर्थ्य-संपन्न विभूतियों के अवलोकन करने अथवा उनका वर्णन सुनने वा उन्हें स्मरण करने से जो मनोविकार उत्पन्न होता है उसका नाम 'आश्चर्य' है।

कवित्त—

गगन के न्यारे-न्यारे तारन-कतार देखे
करत कलोल देखे मीनन कौ जल मैं।
रतन-अमोल अवलोके रतनाकर मैं
जगमग जोति देखे जगत अनल मैं॥
'हरिऔध' काको चित चकित बनत नाहिं
लाल-लाल फूल देखे हरे-हरे दल मैं।
घहरत कारे-कारे घन की घटा निहारि
छहरत छाईं छटा देखे छिति-तल मैं॥१॥

विपुल-विनोद सो कढ़े हैं दंत दारिम के
विहँसि रही है चाँदनीहूँ निसिकंत की।
कल-कंठ कौसल सो करत मधुर-गान
थिरक रही है कला मदन-महंत की॥
तेरी ही अनूठी छटा हेरि 'हरिऔध' प्यारे
कलित कलीन को ठनी है विकसंत की।
भौंर-भीर भाँवरैं भरत उनमत्त ह्वै कै
फूली आज मंजु फुलवारी है वसंत की॥२॥

तेरी ही कला ते कलानिधि है कला-निधान
है सकेलि तेरी केलि कलित पतंग मैं।
गुरु-गिरि-गन हैं तिहारी गुरुता के लहे
पावन प्रसंग है तिहारो दूत संग मैं॥
'हरिऔध' तेरी हरियाली ते हरे हैं तरु
तू ही हरि विहर रह्यो है हर अंग मैं।
तेरो रंग ही है रंग-रंग के प्रसूनन मैं
तू ही है तरंगित तरंगिनी-तरंग मैं॥३॥

भव-वारि-वाह-व्यूह-बूँद-सी वसुंधरा है
नाना-वायु नाना-वायु-मंडल सहारे हैं।
आकर अनंत हैं अनंत हैं निसाकरहूँ
रस-रासि-रस ते सरस रस-सारे हैं॥
'हरिऔध' मिल्यो ना अपार-पारावार-पार
सीमित असीम की असीमता वे हारे हैं।
प्रभु मंजु-तेज को विकास है पतंग-पुंज
विभु-तनु-तोयधि-तरंग नभ-तारे हैं॥ ४॥

सवैया—

मंद ही मंद सुगौन के सूरज चंद ह्वै मौन तुमैं निरधारैं।
कानन को तृनहूँ सदा सॉवरे तोको अनंत अचिंत उचारैं॥
धीर-पयोधिहूँ 'औध-हरी' मरजाद सों तोको गभीर पुकारैं।
सीतल या मलयानिलहूँ अपनी-तल तेरो प्रताप पसारैं॥ ५॥

दोहा—

देखत ही कितनो गुनो लोचन निल ह्वै जात।
कैसे नभ तारन-सहित तारन मॉहिं समात॥ ६॥
सरसित मानस मैं वहे सरस प्रेम-रस सोत।
गागर मैं सागर भरत गागर सागर होत॥ ७॥

९—निर्वेद (शम)

विशेष ज्ञान द्वारा सांसारिक विषयों में विराग—क्षणभंगुर पदार्थों को देख-कर हृदय में त्याग का विकास—होने से जो एक प्रकार का मनोविकास उत्पन्न होता है उसका नाम 'निर्वेद' है।

कवित्त—

कुसुमाकर सदा ना बनत कुसुमाकर है
बारिद सदैव बारिधारा ना बहत हैं।
सब दिन ललित दिखात नाहिं लोनी लता
लहलहे तरु ना सदैव उलहत हैं॥
'हरिऔध' कौन काल-कवलित होत नाहिं
सदा कल-नाद कल-नादी ना लहत हैं।
फली-फूली, बेली फूली-फली ही लखात नाहिं
फूले-फूले फूलहू न फूले ही रहत हैं॥ १॥

गारी दै दै गजब गुजारत गरीबन पै
ऐसो मन गौरव गुमान गरस्यो परै।
लोभ बढ़े पूजित पिता औ प्यारे तातहूँ को
प्रान लेत तनकौ न प्रीति परस्यो परै॥
सरबस और को हरत 'हरिऔध' भाखै
सदा उर सौगुनो सनेह सरस्यो परै।
जीवन अदीरघ भयेहू देखो देहिन मैं
कैसो दोह-दुसह-दिमाग दरस्यो परै॥ २॥

दौरि-दौरि दीनता दिखावत दिमागिन को
दीह-दुख होत है दया-निधि के टेरे मैं।
आपनी भलाई को भरोसो भूतभैरव सो
तेरो भाव होत भूत-भावन न मेरे मैं॥
'हरिऔध' तीनो लोक प्रकट-प्रताप तऊ
कैसहूँ न पूरन-प्रतीति होति तेरे मैं।
सूरज उगेहूँ तम बूझत चहूँघा नाथ
सूझत न मोकौं आँखि आछत उँजेरे मैं॥ ३॥

मांधुरी परी है मंद कमनीय कदहूँ की
मिसिरीहूँ बिसरि गई ना रही काम की।
सूखी ऊख निपट निकाम ह्वै गयो मयूख
गरिमा नसी है आमहूँ-से रस-धाम की॥
'हरिऔध' दाख फूटी ऑंख सो न देखी जाति
गोरसहूँ गुरुता गँवाई गुन-ग्राम की।
चीनी बसुधा मैं ह्वै गई है औगुनी तो कहा
सौगुनी सुधा सो है मिठाई हरि-नाम की॥ ४॥

पाहन भये पै चाहै पद-रज प्रेमिन कौ
बिहग भये पै बसै वंदनीय बन मैं।
फल-फूल परसै पगन पादपादि भये
पसु भये पावैं थान संतन-सदन मैं॥
'हरिऔध' कीट भये काहू भाँति भावै तोहि
नर भये तेरो पूत-प्रेम रसै मन मैं।
जाने कहा योग औ जुगुत एक जानैं तोहि
जीवितेस जाइ जौन योनि माँहिं जनमैं॥ ५॥

सवैया—

भूलि के औरन की सुधि अंध ह्वै जाकी सुगंध पै भौर लुभानो।
सभु के सीस पै जो बिलस्यो 'हरिऔध' जू जाते सरौ सरसानो॥
त्यो सुखमा कहि जाकी अजौ मनहूँ ना कवीनहूँ को अनुलानो।
सोई सरोरुह धूर भरो परो भू पै गरो बगरो कुम्हिलानो॥ ६॥

दोहा—

धोखो है, काको बिभव, है काको यह भौन।
है काको यह धन, धरा, अहै धराधिप कौन॥ ७॥

अरत रहत बिगरत बनत लरत-भिरत करि रार।
कत सोचत नहिँ बावरे है जीवो दिन चार॥ ८॥

है घन-छाया ओस-कन है तरु पीरो पात।
तू का है कितनो अहै कत इतनो इतरात॥ ९॥

धूलि माँहिं रावन मिल्यो गई रसातल लंक।
कहा कलंकित होत कोउ सिर पर लेइ कलंक॥ १०॥

का धन, का जन, का बिभव, का महि, का परिवार।
सपने की संपति अहै सब आहार बिहार॥ ११॥

संचारी भाव

संचारी भाव

जो भाव रस के उपयोगी होकर जल के तरंग की भाँति उसमें संचरण करते हैं उनको 'सचारी भाव' कहते हैं। ऐसे भावों की सख्या तैंतीस हैं। क्रमशः उनका उल्लेख किया जाता है—

१—निर्वेद

विपत्ति, ईर्षा और ज्ञानादि के कारण अपने शरीर अथवा सासारिक विषयों में जो विराग भाव उत्पन्न होता है उसे 'निर्वेद सचारी' कहते हैं। दीनता, चिंता, आँसू, विवर्णता, उच्छ्वास, आकुलता आदि इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

भूलि ना निहारैं पर-नारि ए हमारे नैन
रूखे बैन भाखन ते रसना 'भगी रहै।
पर-अपवाद सो न कान हित राखैं कवौं
मान-ममता में मेरी मति ना पगी रहै॥
'हरिऔध' चित ना प्रपंचन सों प्यार राखै
सदाचार-संचन मैं सुरुचि जगी रहै।
मगन सदा ही रहै मनुआँ हमारो राम
पगन तिहारे मेरी लगन लगी रहै॥१॥

सवैया—

कारज सीस को होत सबै पद-पंकज की रज को अपनाये।
स्वारथ होत हैं नैन दोऊ छवि साँवरी सूरत की दिखराये॥
पातकी कान पुनीत बनैं 'हरिऔध' की प्यारी कथान सुनाये।
पावन होति है जीह अपावन भावन सों हरि के गुन गाये॥२॥

पाप ही में सब जन्म गयो हित सो न कवौं हरि के गुन गाये।
नेह कियो पर-नारिन सों जग-बंचन को बहु वेस बनाये॥

मूठ कह्यो 'हरिऔध' सदा सब काज किये
क्यों अजहूँ नहिं चेतत मूढ़ चिता पर

खोट कियो कितनो हित पेट के कूर
पीर-सी होन लगी उर जो 'हरिऔध' कहूँ
ताप भयो पर को हित देखत पाप मैं
ना करनी करनीन कियो कबहूँ

दोहा—

मन तू कत भटकत फिरत
तजि बहु-फलद मुकुंद-पद
कामिनि सुत हित नात सों
भजन देहिं बल-तात के

२—

मनस्ताप, श्रम, दुःख क्षोभ आदि से
अथवा असहनशीलता को 'ग्लानि' कहते
त्साह, घृणा, उपेक्षा आदि हैं।

कवित्त—

हहरत हियरो अधिक
हहरन वाको
मेरो बार-बार अहै
होवे क्यों
'हरिऔध' पातकी है
कैसे पाप-पी
भौंहैं करि कहत रिसौंहीं
सौंहैं होत नाहिं

पामर ह्वै पामरता-पुंज के पयोनिधि ह्वै
प्रकटत रहत प्रभाव पुरहूती के।
परम अबुध ह्वै विबुधता दिखावत है
कायर ह्वै बरत बिरद रजपूती के॥
'हरिऔध' जाति-भाल-अंक है कलंक-भरो
धूत ह्वै कै वसन रखत अवधूती के।
पूत को है पूत पै अपूत-पाग मैं है पगो।
बनत सपूत काम करत कपूती के॥ २॥

सवैया—

मोल है जैसो जवाहिर को यह जानत जौहरी ना बनजारो।
रीति कुलीन की जानै कुलीन ही ना 'हरिऔध' कबौं चरवारो॥
क्यो इतनो बिलपै-कलपै जो कियो पहले अरि कै पतियारो।
रे मन क्रूर न तोसो कही कब नंद-कुमार है कामरीवारो॥ ३॥

३—शंका

बहुत बड़े अनिष्ट अथवा इष्ट-हानिके विचार को 'शंका सचारी' कहते हैं। इसके लक्षण विवर्णता, कप, स्वरभग, इधर-उधर दृष्टिपात करना, मुँह सूखना आदि हैं।

कवित्त—

आँखि जो न खुली तो बिगरि जैहै सारो खेल
खलता सफलता की खाल खिंचवाइहै।
काल ह्वै है कलह बिबाद बिकराल ह्वै है
त्रिन जैहै वाल-वाल वैर अधिकाइहै॥
'हरिऔध' जान जो न ऐहै तो अजान जन
जीवन-विहीन जाति-जीवन बनाइहै।
भरत कुमार भेट ह्वैहैं महा-भरत की
भारत की भूमि भारतीयता गँवाइहै॥ ४॥

मूठ कह्यो 'हरिऔध' सदा सब काज किये अपने मन भाये।
क्यों अजहूँ नहिं चेतत मूढ़ चिता पर पौढ़न के दिन आये ॥३॥

खोट कियो कितनो हित पेट के कूर कमीनन को सँग दीनो।
पीर-सी होन लगी उर जो 'हरिऔध' कहूँ नवला लखि लीनो ॥
ताप भयो पर को हित देखत पाप में बीति गयो पन तीनो।
ना करनी करनीन कियो कबहूँ करुनाकर याद न कीनो ॥४॥

दोहा—

मन तू कत भटकत फिरत बिपिन बबूरन माँह।
तजि बहु-फलद मुकुंद-पद कलित-कलपतरु-छाँह ॥५॥
कामिनि सुत हित नात सों कहा जुरत जिय जात।
भजन देहिं बल-तात के ए न चरन-जलजात ॥६॥

२—ग्लानि

मनस्ताप, श्रम, दुःख क्षोभ आदि से उत्पन्न हृदयजनित विकलता, शिथिलता अथवा असहनशीलता को 'ग्लानि' कहते हैं। इसके लक्षण कार्य करने में अनुत्साह, घृणा, उपेक्षा आदि हैं।

कवित्त—

हहरत हियरो अधिक अधमाई हेरि
हहरन वाको कै जुगुत कौन हरिये।
मेरो बार-बार अहै विविध-विकार-भरो
होवे क्यों उबार बार-बार क्यों उबरिये ॥
'हरिऔध' पातकी है पातक-पयोधि परो
कैसे पाप-पीनता गलानि ते न गरिये।
सौंहैं करि कहत रिसौंही अँखियान देखि
सौंहैं होत नाहिं कैसे सौंहैं मुँह करिये ॥१॥

पामर ह्वै पामरता-पुंज के पयोनिधि ह्वै
प्रकटत रहत प्रभाव पुरहूती के।
परम अबुध ह्वै बिबुधता दिखावत है
कायर ह्वै बरत बिरद रजपूती के॥
'हरिऔध' जाति-भाल-अंक है कलंक-भरो
धूत ह्वै के बसन रखत अवधूती के।
पूत को है पूत पै अपूत-पाग मैं है पगो।
बनत सपूत काम करत कपूती के॥ २॥

सवैया—

मोल है जैसो जवाहिर को यह जानत जौहरी ना बनजारो।
रीति कुलीन की जानै कुलीन ही ना 'हरिऔध' कवौं चरवारो॥
क्यो इतनो बिलपै-कलपै जो कियो पहले अरि कै पतियारो।
रे मन कूर न तोसो कही कव नंद-कुमार है कामरीवारो॥ ३॥

३—शंका

बहुत बडे अनिष्ट अथवा इष्ट-हानिके विचार को 'शंका सचारी' कहते हैं। इसके लक्षण विवर्णता, कप, स्वरभग, इधर-उधर दृष्टिपात करना, मुँह सूखना आदि हैं।

कवित्त—

आँखि जो न खुली तो बिगरि जैहै सारो खेल
खलता सफलता की खाल खिचवाइहै।
काल ह्वै है कलह बिबाद विकराल ह्वै है
छिन जैहै बाल-बाल वैर अधिकाइहै॥
'हरिऔध' जान जो न ऐहै तो अजान जन
जीवन-विहीन जाति-जीवन बनाइहै।
भरत कुमार भेट ह्वै हैं महा-भरत की
भारत की भूमि भारतीयता गँवाइहै॥ ४॥

सूखतो न बदन विकंपित न गात होतो
हाथ-पाँव चलतो प्रगति अनुसरतो।
जाति-हित-रत ह्वै विहित-रुचि-पूत होते
बनति बनाये बात कीरति पसरती॥
'हरिऔध' चित की न चेतनता दूर होति
परम अधीर-मति धीर क्यों न धरती।
भय भूत करतो प्रभूत अभिभूत नाहिं
शंका की चुरैल जो चुरैलता न करती॥५॥

सवैया—

मुख कैसे दिखैहौं सहेलिन को उनकी दिसि कैसे कहो चहिहौं।
यह मोल को बानि हमारी जरो अब गारी हजारहूँ सहिहौं॥
मोहि बेर बड़ी 'हरिऔध' भई कब लौं या निकुंजन मैं रहिहौं।
कढ़िहौं किमि गैल मैं गोकुल की कोऊ पूछिहै तो हौं कहा कहिहौं॥१॥

४—असूया

दूसरे के उत्कर्ष का असहन और उसके हानि पहुँचाने की इच्छा को 'असूया' कहते हैं। दोषकथन, भ्रृकुटिभंग, तिरस्कार और क्रोध आदि इसके साधन हैं।

कवित्त—

कहा भयो जो है मधु-माधव-सनेही महा
का भयो जो सौरभ-समूह-सहचर है।
का भयो जो परम-रसिक है रसालता को
का भयो जो कामुक सु-कुसुम-निकर है।
'हरिऔध' कहा भयो जो है कल-गान-कारी
का भयो जो पद्मिनी को प्रेमिक प्रवर है।
तन कारो मन कारो रंग कारो रूप कारो
परम नकारो यह कारो मधुकर है॥१॥

होवै काम-कमनीय मोहक मयंक सम
होवै मधु-सरिस मधुरता वितरतो।
साहबी सुरेस-सी धनिकता धनेस की-सी
धर्मराज जैसो धर्म-भाव होवै धरतो।
'हरिऔध' होय सुरगुरु-सम गौरवित
महिमा त्रिदेव-सी मही मैं होवै भरतो।
माननीय होवै पै अमाननीयता है इति
मानव ह्वै मानवी को मान है न करतो॥ २॥

सवैया—

मंजु मनोहरता कल-कीरति वेलि सदा अवनी महँ बोतो।
रूप-अनूपमता 'हरिऔध' निहारि कोऊ सुख-नींद न सोतो।
साँची कहौं मधुराई लखे मम आननहूँ अपनी पत खोतो।
मानती हौं हूँ तिहारी कही जो मयंक मैं बीर कलंक न होतो॥ ३॥

दोहा—

होवैं दल कोमल कलित सब फल भरे पियूख।
होय फबीले फूलहूँ तऊ रूख है रूख॥ ४॥

५—श्रम

अधिक कार्य करने अथवा मार्ग चलने आदि से उत्पन्न शैथिल्य (थकान) का नाम 'श्रम' है। इसके लक्षण साँस फूलना, नींद आना, पसीना निकलना और आलस्य आदि हैं।

कवित्त—

आँखि मूँदि परे हैं उठायेहूँ उठहिं नाहिं
छाले भरे पग छाँह छोरि-छोरि छके हैं।
दूर है अवास, वास-थल है न वास जोग,
थोरो रह्यो दिन पास रहे नाहिं टके हैं॥

'हरिऔध' होति है सरीर माँहि पीर घनी
पोरे परे ऐसे मानो पान-दल पके हैं।
कुपथ विपथ की कथानहू कहहिं नाहिं
चले कौन पथ क्यों पथिक ऐसे थके हैं॥ १॥

सवैया—

मुख पै श्रम के कन छाये अहैं खुलि गालन पै अलकैं हैं परी।
सिथिलाई भई सब-अंगन मैं कुम्हिलाई लसै मनों फूल-छरी॥
निरखो 'हरिऔध' चहूँघा लसै अलबेली अजौं अलसान-भरी।
मन-मारे सहारे तमालन के वन-वीथिन मैं थकी प्यारे खरी॥२॥

दोहा—

ओस-भरित-तरु-पात लौं सेद-सलिल-मय-गात।
बतरावत है विपथ-गत थकित-पथिक की बात॥ ३॥
विधु-वदनी के वदन पै है विलसत श्रम-बिंदु।
किधौं सुधा-सीकरन-मय है राका-निसि-इंदु॥ ४॥
सेद स्रवै कर पग कँपै बनै सिथिल-तन छाम।
तजत काम वारो नहीं तऊ आपनो काम॥ ५॥
मलिन बनै छिदि भिदि नुचै श्रम-कर ते तन-ग्रंथ।
छोरत नहिं पूरो पथिक पय रुकेहूँ पंथ॥ ६॥

६—मद

जिसमें मोह के साथ आनंद का मिश्रण हो, उस दशा को 'मद' कहते हैं, मद-पान इसका साधन है। इसके लक्षण अनर्गल प्रलाप, अनुचित बर्ताव, आरक्त नयन, मुसकान में विशेष मधुरता, वकोक्ति में रमणीयता इत्यादि हैं। किसी-किसी ने मद संचारी में धन, यौवन रूपादि के अभिमान (मद) को भी माना है।

कवित्त—

कंचन-रचित मनि-मंडित-महल-मंजु
दीन-उर-दाह दावानल माहिं दहिहै।
त्रिभुवन-पूरित प्रतीति-प्रतिभू-प्रताप
पातक के प्रवल-प्रवाह माहिं वहिहै॥
'हरिऔध' वा दिन गिरैगो गिरि गौरव को
जा दिन गरीव की गोहार।गरो गहि है।
कान मूँदि मूँदि कान करि है न वात कौ लौं
मद-वारो आँखि मूँदि-मूँदि कौ लौं रहि है॥१॥

औरन की आनि को न कैसे सनमान हो तो
मोल मति-मानता को ममता न खोती जो।
लालिमा मलिन कैसे होति लोक-आनन की
कलह-कुवीज मन-कालिमा न वोती जो॥
'हरिऔध' मेदिनी की मंजुता महान होति
समता गुमान-कदाचार से न रोती जो।
मानवता-मंदिर को मंजुल-महत्त होतो
मानव मे मादकता मद की न होती जो॥२॥

सवैया—

मधुराई मनोहरता मुसुकानि मै औचक आइ समानी नई।
रस की वतिआनहूँ मैं 'हरिऔध' अनेक-गुनी निपुनाई ठई॥
मद छाके छवीली-विलासन हूँ सुविलासिता की वर वेलि वई।
छलकी-सी छटा अँखियान परै छवि आननहूँ पै छगूनी छई॥३॥

दोहा—

मान ,राज-मंदिर-रुचिर नहि मिलतो रज माहि।
ओले - जैसे वरसते जो मद - गोले नाहि॥४॥

लसित नवल - लतिकान सी बहु - लालसा उमंग ।
दलित होति किमि, नहिं दलत जो मद-समद-मतंग ॥५॥

अनुचित उचित विचार करि चित न कौन अकुलात ।
गौरव गिरि पै होत लखि पल-पल मद-पवि-पात ॥६॥

जा मैं लसत कुलालसा कला - कलित - सुख -सोम ।
तामस - मानस - गगन - गत - मद है वह तम तोम ॥७॥

वर - रस - कामुक कहि सके जाहि न कवौं रसाल ।
अकमनीय - मन - विपिन को है मद वह तरु-ताल ॥८॥

७—धृति

तत्त्वज्ञान, साहस, सत्संग आदि के प्रभाव से विपत्ति-काल में अविचलित-चित्त होना 'धृति' कहलाता है। तृप्ति, चित्त की स्थिरता, धीरता, बुद्धि की गहनता इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

तमके गगन-तल के तारन को तोरि लैहै
उमगे तरंगमान-तोयधि को तरिहै ।
उचके चकित कैहै चंद को खेलौना करि
झपरे स-कौतुक तरनि-तेज हरिहै ॥
'हरिऔध' कहा धाक बाँधि कर पैहै नाहिं
धीर जो अधीरता विहाई धीर धरिहै ।
लपके कचरि चूर करिहै हिमाचल को
पके पाकसासन को पकरि पछरिहै ॥१॥

तीर-सम-सिसिर-समीर बेधि दैहै नाहिं
मद-मंद-मलय-पवन पुनि बहिहै ।
कारे-कारे-तोयद-कतार दिखरैहैं नाहिं
भाग-नभ हेमंत-विमल-विधु लहिहै ।

'हरिऔध' आकुल अनाकुल विपुल ह्वैहै
दुख—तूल—पुंज को अदुख-दावा दहिहै।
प्रतिकूलता मै अनुकूलता निवास कैहै
काल पाके काल की करालता न रहिहै ॥ २ ॥

सवैया—

पास परोसिन आइ नितै परलीन की नाना-कथान को जोरै।
बात चले सखियाँ सिगरी परदेस गये की दिखावत खोरै ॥
नेह रखै 'हरिऔध' नहीं अपनायतहू ते सदा मुख मोरै।
लाला रहै पतिऔ की तवौं पति को पतिनी परतीत न छोरै ॥३॥

है दुख औ सुख दोऊ जहान मै कोऊ नहीं दुख-ही-दुख पैहै।
बीति गये अँधियारी निसा 'हरिऔध' दिवाकर होत उदै है।
क्यो इतनो मन आतुर होत है औसर पै सब ही बनि जैहै।
पीतम को मुखचंद लखे फिर या दुखिया अँखिया सुख पैहै ॥४॥

दोहा—

भये तिरोहित रजनि - तम रंजित गगन दिखात।
पल-पल आकुल ह्वै विपुल तू अलि कत अकुलात ॥ ५ ॥

रहिहै चोरत कब तलक घन तेरो चित - चोर।
चौंकि चौंकि चितवत कहा चारो ओर चकोर ॥ ६ ॥

८—आलस्य

श्रांति और जागरणादि-जनित निश्चेष्टता तथा सामर्थ्य होने पर भी उत्साह-हीनता को 'आलस्य' कहते हैं। पडे रहना, जँभाई लेना, एक जगह बैठे रहना आदि इसके लक्षण है।

कवित्त—

आँखि अवलोकिहूँ सकत अवलोकि नाहिं
कान चाव साथ बात कान है न करतो।

बचन उचारत बिरस रसना है होति
मन है न बहुत उभारेहूँ उभरतो ॥
'हरिऔध' आलस रमित रोम-रोम मैं है
उर मैं उमग है न मंजु भाव भरतो ।
हाथ पर हाथ धरे बासर बितीत होत
परि-परि भूतल पै पॉव है न परतो ॥ १ ॥

पलक उठति तो न पल मैं पतन होतो
तिल जो तुलत हानि होती क्यों अतुलतो ।
चलति चलाये जो न तन-कल काहिली के
कैसे बन जात कांति-हीन कांत-कुल तो
'हरिऔध' होतो जो न आलस लिलार-लिपि
कैसे तो हमारो ना कलंक-अंक धुलतो
मुँह जो खुलत तो अभाग खुल खेलतो क्यों
ऑख जो खुलति भाग कैसे तो न खुलतो ॥ २ ॥

सवैया—
अरुनाई अकास मैं छाई लखाति दिवाकर हूँ निकरोई चहै ।
'हरिऔध' गुलाब-कलीहूँ खिली सुखदाइनि-सीरी बयार बहै ।
परी सेज कहा ॲगिरात जम्हात तू लोयन को उठि लाह लहै ।
पलकैं न खुलैं अलकैं बिथुरी इतनो क्यों अली अलसानी अहै ॥३॥

दोहा—
तब कैसे उठि कछु करहिं चलहिं फिरहिं कहुँ जाहिं ।
जब पग-पग पै पग अरत परत पगगहुँ नाहिं ॥४॥

९—विषाद

इष्ट न प्राप्त होकर अनिष्ट होने से जो दुःख अथवा उपायाभाव के कारण पुरुषार्थ-हीनता जन्य जो मानसिक कष्ट होता है, उसको 'विषाद' कहते हैं। इसके लक्षण निश्वास उच्छ्वास, मनोवेदना आदि हैं।

कवित्त—

पकि पकि रहिहैं पकरि कै करेजो कौ लौं
कलपि-कलपि कौ लौं बासर बिताइहैं।
कौ लौं विधवा-पन-बधिक बेधि-बेधि दैहै
कौं लौं बेभो बनि-बनि विपुल विलखाइहैं॥
'हरिऔध' कौ लौं अनुकूल-काल पैहैं नाहिं
कौ लौं कालिमा के लगे पलक न लाइहैं।
कौ लौं ह्वैहैं बलि बलवान-रुचि-वेदिका पै
भारत की बाला कौ लौं अबला कहाइहैं॥ १॥

करि-करि कलह कलंकित करत कुल
सबल-करन लाभ कर बने लूले हैं।
फल की हैं चाह पै सफलता मिलति नाहिं
फूले-फूले फिरत अजौं न फले-फूले हैं॥
'हरिऔध' सोचि-सोचि व्यथित बनत चित
बिललात रहत बिलात ज्यों बलूले हैं।
लाले परे सुख के, कसाले सहे, भाले, सहे
भोलेपन माहिं भोले-भाले हिंदू भूले हैं॥ २॥

सवैया—

अनजानता जोहि कै या जग की नित जीवन के दिन जोरै लगी।
अपमान औ मान की बात कहा है अपानहूँ ते मन मोरै लगी॥
'हरिऔध' अमोही भये अँखियान के आँसुन हूँ को निहोरै लगी।
तन की सुधि होति नहीं तन को अब तो बन के तृन तोरै लगी॥३॥

दोहा—

है वाके हित तिमिरमय आज अवनि सब ओक।
लोक समालोकित हुतो लहि जाको आलोक॥ ४॥

बहु ललकित लोचन हुतो हेरि जेहि कलित-केलि ।
है विदलित भूतल परी वह अलबेली वेलि ॥ ५ ॥

१०—मति

भ्रान्ति का कारण रहते भी यथार्थ ज्ञान बना रहना 'मति' है। इसके लक्षण मुस्कुराहट, धैर्य, सतोष और आत्मावलम्बन हैं।

कवित्त—

लाल ह्वै कै काहू के विलोचन न लाल होते
छिनै मुँह-कौर ना करेजो कोऊ छिलतो ।
कुचित, कुतेवर, वनावतो दुचित नाहिं
कहत उचित वातहूँ ना मुँह सिलतो ।
'हरिऔध' सदन सदन सुखसाज होतो
वदन सरोज मद-मद हँसि खिलतो ।
प्रेम होतो कैसे तो न मिलते मिलाये मन
मेल होतो कैसे तो न मेल-फल मिलतो ॥ १ ॥

पावन परम कैसे वनतो अपावन तो
भेद जो पतित-जन-पावन को जानतो ।
रहतो अकाम तो सकामता सतावति क्यों
कैसे कुसुमायुध कुसुम-सर तानतो ।
'हरिऔध' कुमति वनति कमनीय कैसे
मतिमानता को जो सदैव सनमानतो ।
ममता मनन की जो होति मनमानी छोरि
मानव को मन तो मनाये क्यों न मानतो ॥ २ ॥

सवैया—

लोग भले ही सिकोरि कै आपनी भौंहन काहि लखावैं कलकहि ।
कामी कुसंगी निसाचर हूँ अनुमानि सदा किनतो किन सकहिं ॥

एक ही भाव सों ए 'हरिऔध' करै अनुरंजित राव औ रंकहिं।
सीतलता हितकारिता हेरिकै को द्विजराज कहै न मयंकहिं ॥३॥

दोहा—

उचित जतन करि हेरतो जो घन-रुचि-तन ओर।
क्यों मोहित होतो न तो मोहि-मोहि मन मोर ॥ ४ ॥
क्यों होतो कमनीय-तम सकल-अवनि-तल नाहिं।
कमल-नयन जो निवसते लोयन-कोयन माहिं ॥ ५ ॥

११—चिंता

हित की अप्राप्ति के कारण उत्पन्न आधि को 'चिन्ता' कहते हैं। इसके लक्षण उद्विग्नता, ताप और उन्निद्रता आदि हैं।

कवित्त—

काहें गुन भारत को गुनहूँ न मानो जात
काहें गुन होत जात औरन को औगुनो।
काहे सुख लेसहूँ रह्यो न सुख-पूरित मैं
सहत कलेस क्यों कलेस-हीन सौगुनो।
'हरिऔध' काहें भूल मे है नित भूल होति
काहें अनुकूल प्रतिकूल होत नौगुनो।
दुख भरपूर बार-बार है विसूर होत
सोचि-सोचि चित चूर-चूर होत चौगुनो ॥ १ ॥

कैसे भला दिन दिन दूनो दुख ह्वैहै नाहिं
आँखिवारो जो न आँखि खोलि भलो करिहै।
आपनो हितू ही मारिहै जो हाथ मारि-मारि
कैसे नाहिं कोऊ तो बिना ही मौत मरिहै ॥
'हरिऔध' गाज जो गिराइहै गरजवारो
कैसे तो गरीब पै न गाज गिरि परिहै।

याही भाँति अन्न भाव रैहै जो अभाव भरो
कैसे पेट भूरि-भूखे भारत को भरिहै ॥ २ ॥

दोहा—

लोल लोचनन को किये ललना परम अलोल ।
कहा करति है कल्पना कर पर रखे कपोल ॥ ३ ॥

१२—मोह

भय, दुख, घबराहट और भ्रमजनित चित्त की साधारण अचेतनता और भ्रांति को 'मोह' कहते हैं। इसके लक्षण मूर्छा, अज्ञान, पतन, सिर घूम जाना आदि हैं।

कवित्त—

छिति-छबि-पुंजता अमोल-मुकुतावलि को
मंजु-दृग-तारन मैं पोहत रहत है ।
मलय-अनिल नभ-तल-नीलिमा मैं लसि
चित चोरिबे को पथ जोहत रहत है ॥
'हरिऔध' चारुता-निकेतन-मयंक माहिँ
तारन-कतारन मैं सोहत रहत है ।
होवै महा-महिम महान मतिमान होवै
काको मन मोह नाहिँ मोहत रहत है ॥ १ ॥

प्रेमी-जन कैसे प्रेम-पथ को पथिक होतो
प्रेम के हिंडोरे माहिँ प्रेमिका क्यों झूलती ।
दीपक पै गिरिकै पतंग क्यों दहत गात
मृगी क्यों बधिक की बधिकता कबूलती ॥
'हरिऔध' मोहकता होति जो न मोह माहिँ
मोहित करति क्यों लवंग-लता फूलती ।
बँधि-बँधि कोमल कमल के उदर माहिँ
मधुप-अवलि क्यों मधुपता को भूलती ॥ २ ॥

दोहा—

देह गेह को नेह तजि चित-आकुलता रोकि।
ललना है ललकति रहति लाल-वदन अवलोकि ॥३॥

नयनन ते सूझत नहीं मुँह मैं रहे न दाँत।
अपनो तन अपनो नहीं मनको मोह न जात ॥४॥

११—स्वप्न

निद्रा में निमग्न पुरुष के विषयानुभव करने का नाम 'स्वप्न' है। इसका व्यापार कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दुःख से पूर्ण होता है।

कवित्त—

धोखे का महल कैसे मिल जाता धूर माहिं
मति की तुला पै कोरी वंचना क्यों तुलती।
खोलते तो कैसे समाधान-नख-कमनीय
पल-पल बहु कलकानि गाँठ खुलती।
'हरिऔध' कैसे चित्रकारी सपने की सब
लहिकै विबोध-वारि-धर-धारा धुलती।
भेद खुल गये सारो खेल कैसे खेल होतो
जो न खुल जाति आँखि आँखि कैसे खुलती ॥ १ ॥

आये कंत गात कछु अंक अवलोकन कै
मान मन ठानि उठि कंठ सों लगायो ना।
सहमि सकानो खरो हेरत पिया को हेरि
जिय कै कठोर दया हिय मैं बसायो ना।
प्रानप्यारो परम्यो पगन 'हरिऔध' पै
तऊ न पतियाई औ सुबोलहूँ सुनायो ना।
सपनो समझि सब अपनो नसायो चैन
नैन के खुले पै आली चैन कहि आयो ना ॥ २ ॥

सवैया—

रोगन सोगन भोगन मै परि, तापन ते तिगुनो तपनो है ।
हैं अपने अपने हित के हित कौन हितू जग मै अपनो है ।
औधि को भूलत क्यो 'हरिऔध' तू सॉस के नापन को नपनो है ।
कोऊ सजीवन कौ लौं जिआइहै जीवन जीवन को सपनो है ॥३॥

दोहा—

सुख-मय दुख-मय भूति-मय सरस बिरस बहुरूप ।
सपने की सपति सरिस है संसार सरूप ॥ ४ ॥
सब कछु है कछु है नहीं अवलोकन भर सार ।
अपनो है अपनो नहीं है सपनो ससार ॥ ५ ॥

१४–विबोध

निद्रा दूर करनेवाले कारणों से उत्पन्न चैतन्य-लाभ को 'विबोध' कहते हैं। इसके लक्षण जँभाई, अँगड़ाई, आँख खोलना, अंगों का अवलोकन करना आदि होते हैं।

कवित्त—

भाग-भाग कहि सो बनैगो कैसे भागवारो
भभरि-भभरि जो अभाग तें है भागतो ।
जो है लोक-सेवा की लगन नाहि सॉची लगी
कैसे लाभवारो ह्वैहै लोगन को लागतो ।
'हरिऔध' नाना-अनुराग को कहा है फल
देस-राग मे है जो न मन अनुरागतो ।
कहा जागि कियो कहा लाभ है जगाये भयो
जागे हूँ जो जी मे जाति-हित है न जागतो ॥ १ ॥

बीर जन-बीरता बसुधरा-बिबोधिनी है
साहसी ही सोहसे दिखाइ होत आगे हैं ।

सबल के सामने सरोवर पयोनिधि है
सावधान सामने धरनि-धुरे धागे हैं।
'हरिऔध' सारी सिद्धि तिनकी सहोदरा है
सिद्ध-पाग मे जो सच्ची साधना के पागे हैं।
भारा जागे भू मैं कौन भोग भोग पाये नही
जाग गये जग में न काके भाग जागे हैं ॥२॥

दोहा—

खुलत न आँखें अधखुली बार-बार अँगिरात।
जगत जगाये क्यों नहीं रही नहीं अब रात ॥३॥
फिरत तमीचर देखियत है तम चारो ओर।
जागहु-जागहु जगत-जन मूस रहे हैं चोर ॥४॥

१५—स्मृति

सदृश वस्तु के अवलोकन तथा चिंतन, विहार-स्थल के परिदर्शन आदि से जो पूर्वानुभूत बात याद हो जाती है उसे 'स्मृति' कहते हैं। इसके लक्षण चांचल्य और भौंह चढाना आदि होते है।

कवित्त—

वीरता रही न वंदनीयता बिलोप भई
सदा के सपूत ह्वै कपूत निबहत हैं।
देवराज देखि सुख जिनको सिहात हुतो
वेई आज सारी देव साँसत सहत हैं।
'हरिऔध' विधि-अविधान को कहाँ लौं कहै
अविधि-प्रवाह माँहिं विबुध बहत हैं।
चारो फल लहि जे सफल लोक-पाल हुते
तिनके सलोने लाल लोन ना लहत हैं ॥१॥

जहाँ हुती एकता, बिबुधता बिराजमान
तहाँ बैर, कलह, बिबाद को बसेरो है।
जहाँ हुतो बिमल-बिचार-बिधु को बिकास
तहाँ छल कपट-सघन सघन घन घेरो है।
'हरिऔध' बिगरे अतीत बैभवन हेरि
बार-बार उर होत व्यथित-घनेरो है।
बस-अचेतनता बिलोकि चारु-चेतन को
चेत करि बनत अचेत चित मेरो है ॥२॥

सवैया—

के हमहूँ कबौं लोक-ललाम लौं लोक-ललामता के रखवारे।
कोमलता-कमनीयता-लालित गात-मनोहरता मतवारे॥
भाल के अंक रहे भव के 'हरिऔध' रहे दिवि-देव-दुलारे।
लाल रहे कमला-कंत-अंक के भूतक-भारती-लोयन-तारे ॥३॥

दोहा—

सुख लालित कलरुचि कलित कुलकलक के काल।
कबहूँ हमहूँ लोक के रहे अलौकिक लाल ॥४॥
कबौं न हम ऐसे हुते बोध-विहीन बराक।
बँधी धरा-तल धाक ते बँची नाक-पति नाक ॥५॥

१६—अमर्ष

दूसरे के अहंकार को न सहकर उसके नष्ट करने की कामना, अथवा आक्षेप और अपमानजन्य चित्तविक्षेप का नाम 'अमर्ष' है। आँखों में लाली, शिरकंप, भ्रूभंग और तर्जन आदि इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

भूतल जो भव की बिभूति को दुराहै तो
बिगरि बिगरि ताको बारिधि में बोरिहौं।

गिरि निज-गौरव-गरूर दिखराइहै तो
करि कै प्रहार काँचे-कुंभन लौं फोरिहौं।
'हरिऔध' तपि-तपि ताप जो अतुल दैहै
तरनि-किरिन को तो तगा सम तोरिहौं।
चितचोरि चोरि चारु-सुधा को चुराइहै तो
चूर-चूर करिकै मयंक को निचोरिहौं॥ १॥

हरिहौं कलंक-सारो कुल के कलंकिन को
रखि मुख-लाली लोक-कालिमा निवारिहौं।
कलह-ललक को ललकि लहू गारि लैहौं
बद को सुधारि बदी-हृदय विदारिहौं।
'हरिऔध' करिकै मिलाप ह्वै सवल जैहौं
फैली फूट पापिनी को उर फारि डारिहौं।
उघरि-उघरि जाति-बैर को पछारि दैहौं
कचरि-कचरि कै कचूमर निकारिहौं॥ २॥

दोहा—

करत विविध उत्पात जो नेकौ नाहिं सकात।
तो मन कत विललात तू लगे लोक की लात॥ ३॥

हम कैसे इनको नहीं मूंदि रखहि दिन रात।
मेरे लोचन लालची रूप देखि ललचात॥ ४॥

लंगर को संकित करहिं हरहिं चपल-चित-चैन।
हैं मुँह की लाली रखत लाल-लाल मम-नैन॥ ५॥

कैसे नहिं फरकै अधर वंक बनै नहिं भौंह।
अकलंकित-चित होत नहिं करत कलंकित सौंह॥ ६॥

१७—गर्व

अपने प्रभाव, ऐश्वर्य विद्या तथा कुलीनता आदि का अहंकार करना, अन्य से अपने को अधिक मानना 'गर्व' कहलाता है। अन्य में तुच्छ दृष्टि, अविनय, व्योष्ठ का कंपन, अगुण का अनुचित रीति से दिखलाना आदि इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

लोक-हित-सुरसरि-सलिल सनेही महा
जाति-हित-पूत वेदिका को वर-बलि है।
देस-सेवा-नव-मेघ-माला को मुदित-मोर
कुमति - मलिन - महि - पादप अवलि है।
'हरिऔध' रस-मान-सर को मराल-मंजु
भाव-सर-वारिजात कल्पना को कलि है।
ललना-ललित-चरितावलि को लोलुप है
कविता-कलित-कुसुमावलि को अलि है॥ १॥

सवैया—

है धन गो-धन मंजुल मंदिर है सजी सेज औ साज सँवारे।
चाव है चारु, विचार है सुंदर भावुकता भरे भाव हैं सारे।
मो सम कौन सुखी 'हरिऔध' है हैं ललना दृग लोल हमारे।
है लली लोयन की पुतरी बनी लाल बने अहैं लोयन-तारे॥२॥

पंखी बताइ हँसी करै हंस की केहरि को है पसून मैं लेखो।
मंजुल मानै न मीनन कौ 'हरिऔध' बखानै न वारिज बेखो।
आपने रूप ही की उपमा करै और की चाहै न राखन रेखो।
दाग को दोख दिखावत चंद मैं या तरुनी को दिमाग तो देखो॥३॥

दोहा—

है ऐसी कमनीयता नहिं कनकाचल माँहिं।
भारत - भूतल - रज - सरिस है रजताचल नाहिं॥ ४॥

जासु भावमयता कहत गहत भारती मौन।
भूतल मैं भारत-सरिस भूरि-भाग है कौन ॥५॥

१८—उत्सुकता

अभीष्ट की प्राप्ति में विलंब का असहन 'उत्सुकता' कहलाता है। इसके लक्षण चित्त संताप, आतुरता, आकुलता, निःश्वास, पसीना आदि हैं।

कवित्त—

रस सरसाइ बरसाइ उर सुधा कब
मानस-गगन मैं मयंक-सम खिलिहौ।
कब उर मॉहिं जमी मादकता-मैल कॉहिं
निज अनुकूलता सु छूरिका ते छिलिहौ।
'हरिऔध' कब वैनतेयता-वनक लैकै
मेरे पाप-पुंज पन्नगाधिप को गिलिहौ।
पलक-पलक पर लालसा सतावति है
सौगुनी ललक भई लाल कब मिलिहौ ॥१॥

सवैया—

मानव की मति दानवता तजि मानवता कब मंजु लहैगी।
नीति कुनीति कहैहै नहीं कब सुंदर-नीति सुपंथ गहैगी।
आकुल है 'हरिऔध' महा कब आकुलता कतहूँ न रहैगी।
प्रेम-सुधाकर के करते कब शांति-सुधा वसुधा मैं वहैगी ॥२॥

दोहा—

रहत रैन-दिन अति-दुचित चित नहिं पावत चैन।
कब मुख कमल दिखाइहौ अमल-कमल-दल नैन ॥३॥
काहे नाहिं कृपायतन करत कृपा की कोर।
लाखन ऑखियाँ हैं लगी तव ऑखियन की ओर ॥४॥

१९—अवहित्थ

भय, लज्जा और गौरवादि के कारण अपनी अवस्था अथवा किसी बात को छिपाना 'अवहित्थ' कहलाता है। इसके लक्षण बात बराना, दूसरी ओर देखना, अनभीष्ट कार्य में प्रवृत्त दिखाना आदि हैं।

सवैया—

मानत हार हैं हार भये पर पै मन मैं अनुमानत जीतै।
हैं हरुओ पर चाहत हैं सुनो औरन ते गरुओपन गीतै।
प्रीति को बानो रखैं 'हरिऔध' पै पावत मोद किये अनरीतै।
आँखि चुरावत राति सिराति है बात बरावत बासर बीतै ॥१॥

दोहा—

कुल-ललना सकुची सहमि मिले नैन ते नैन।
मुँह के मुँह मे ही रहे कहे अधकहे बैन ॥२॥
चित-चंचलता देखि कै पिय-चंचल-दृग माँहि।
लागी गिनन कमल-मुखी केलि-कमल-दल काँहि ॥३॥

२०—दीनता

विविध दुःख तथा विरह आदि के कारण चित्त के ओज-रहित होने का नाम 'दीनता' है। खिन्नता, मलिनता, साहस-हीनता आदि इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

मानत न मन मनमानी ही करत नित
तनहूँ हमारो नाहिं बस मैं हमारे है।
बहु दुख बार-बार दुखित बनावत हैं
दारिद-दमामो-दीह बाजत दुआरे है।

'हरिऔध' मान महनीयता को देत नाहिं
मति कमनीयता ते रहति किनारे है।
दीनवंधु तो सों दीनवंधु कौन दूसरो है
दीनता हमारी दीनवंधुता सहारे है॥ १॥

कैसे मुख जोहतो सुजनता-विमुख-जन को
साँसत-दुसह कैसे वार-वार सहतो।
कर जोरि-जोरि क्यो निहोरतो अनेहिन को
तेहिन के तेह की तरंग मैं क्यों वहतो।
'हरिऔध' कैसे वलवानन की वलि होतो
कैसे खल-गौरव के रौरव मै रहतो।
दयानिधि तू जो दयानिधिता दिखावतो तो
कैसे दीन दीनता-दवागिनि मैं दहतो॥२॥

दोहा —

निरखि निरखि निज दीनता क्यो न दीन विलखाहिं।
दीनवंधु मैं देखियत दीनवंधुता नाहिं॥३॥
दीनवंधु कौ दीन को वंधु जानि मन माहिं।
नित फूले-फूले फिरत पै फल पावत नाहिं॥४॥

२१—हर्ष

इष्ट की प्राप्ति से चित्त को जो आनद होता है उसे 'हर्ष' कहते हैं। इसके लक्षण गद्गद स्वर, पुलकावलि, उत्फुल्लता आदि हैं।

कवित्त—

मन के विलास ही ते ललित विलासिता है।
मन सुधार-धार ही सुधानिधि मैं वही है।
मन-रस ही ते है रसिकता सरस होति
मन-माधुरी ते रुचि माधुरी की रही है।

'हरिऔध' मंजु मन ही है मंजुता को मूल
लोने-मन ही ते लता लोनी लहलही है।
मन के प्रमोद ही ते दिसा है प्रमोदमयी
मनोमोद ही ते मोदमयी सारी मही है ॥१॥

सवैया—

मोहन मोहमयी मुरली सुनि मोहित ह्वै तिय है सुधि खोती।
मोदमयी बतिया उर-भूमि मैं है वर बीज बिनोद के बोती।
हेरि मनोहरता 'हरिऔध' की नैनन ते बरसावति मोती।
लालन की अलकावलि को लखि है तन मैं पुलकावलि होती ॥२॥

दोहा—

ललकित-पुलकित-नयन ते करि रस-पान अथोर।
हँसत निरखि नभ-चंद को है विहँसत मन-मोर ॥३॥

किलकत हँसत ललकि-ललकि जात जननि की गोद।
मोद होत काको नहीं निरखत बाल-विनोद ॥४॥

कवित्त—

कोमल-कलित-कंठ-गान ते निहाल होत
सुनि वर वादन विनोदित रहत है।
अवलोकि लोने लाल ललना-ललाम-मुख
प्रति-पल पुलक-प्रवाह मैं बहत है।
'हरिऔध' भागवान चौगुनो-उमाह-भरो
चंद चाँदनी को चाहि-चाहि उमहत है।
पुलकित वनत विलोकि विटपावलि को
मोद कुसुमावलि ते विपुल लहत है ॥५॥

२२—व्रीड़ा

कारणविशेष से जिस लज्जा का हृदय में संचार होता है उसे 'व्रीड़ा' कहते हैं। इसके लक्षण मानव संकोच, सिर का नीचा होना आदि हैं।

कवित्त—

पानी गिर गयो जिन आँखिन को कैसे तिन्हैं
पानी वारी करिकै अपानिपता हरिहै।
भली जो बनति है भली कहि बुराइन को
कैसे भाव उनमैं भलाइन को भरिहै।
'हरिऔध' जाति-मुख-लालिमा रहैगी किमि
कुल-कामिनी ही जो न कालिमा ते डरिहै।
आवत समीप जो लजाति अहै लाज ही तो
लाज वारो लाज को इलाज कहा करिहै॥१॥

घरनी जो घर को बनाइहै न साँचो घर
घर वारो घर की विपति कैसे सहिहै।
कामिनी जो कैहै काम नाहिं कुल-कामिनी को
कामुक को कुल तो कुलीनता क्यों लहिहै।
'हरिऔध' पय जो पिआइहै न पय वारी
कैसे कबौं अ-पय उरो ते पय बहिहै।
लाज-वारी यदि लाज करत लजाइहै तो
कोऊ लाजवारो कैसे लाज-वारो रहिहै॥२॥

दोहा—

लाज गँवावति जाति की नेक न आई लाज।
गजब गुजारत दीन पै सिर पै गिरी न गाज॥३॥
सुंदरता के सजन को है अति सुंदर साज।
है कुलीनता की तुला कुल-ललना की लाज॥४॥

काहे घूँघट खोलि कै नहिँ करि लेति निहाल।
लालन - लोयन - ललक को कत ललकावति बाल ॥५॥

२३—उग्रता

स्वार्थ, रोष तथा अपराधादि के कारण उत्पन्न हुई निर्दयता और चण्डता का नाम 'उग्रता' है। इसके लक्षण शिरकंपन, तर्जन-गर्जन और ताड़नादि हैं।

कवित्त—

भारत को जन भरि-भरि भारतीयता मैं
जा दिन उभरि जाति भीरुता भगाइहै।
भूरि-भाग बनि भूति मान ह्वै है भूतल मैं
सकल-भुवन काँहिं भवन बनाइहै
'हरिऔध' साहस दिखाइहै तो सारो लोक
सहमि-सहमि सारी सूरता गँवाइहै।
डोलि जैहै आसन महेस कमलासन को
सासन बिलोकि पाकसासन सकाइहै ॥१॥

दीन-दुख देखि-देखि दुखत करेजो नाहिं
दूनो दाम माँगहिं दुखन की दवाई के।
औरन को गरो दाबि-दाबि गरुआई गहैं
पोर-पोर मैं हैं भरे भाव करुआई के।
'हरिऔध' क्रूरन की क्रूरता कहा लौं कहै
चित्त ना कम्महिं काम करहिं कसाई के।
पेरि-पेरि औरो पीर देहिं पीरवारन को
पिसे काँहिं पीसि पैसे माँगहिं पिसाई के ॥२॥

दोहा—

कोऊ चित मम चैन को पीसि-पीसि है जात।
जो पाहन होतो न तो पाहनपन न लखात ॥३॥

तिनके मानस देखियत कालहुँ चाहि कराल।
निज लालन के हित हनहिं जे औरन के लाल॥ ४॥

२४—निद्रा

परिश्रम, क्लांति, ग्लानि और मादक-द्रव्य-सेवन आदि से उत्पन्न चित्त के बाह्य विषयों से निवृत्ति का नाम 'निद्रा' है। इसके लक्षण जँभाई, आँख मींचना, उच्छ्वास और अँगड़ाई लेना आदि हैं।

कवित्त—

अलसात, जात, अंग तोरि-तोरि अँगिरात
बहुत जम्हात रात बीति गई सारी है।
बुरे-बुरे सपन विलोकि कै विकल होत
सुरति भये हूँ नाहिं सुरति सँभारी है।
'हरिऔध' काहू के जगाये हूँ जगत नाहिं
विपुल पुकारे हूँ न पलक उघारी है।
अधखुली आँखिन को खोलि-खोलि मूँद लेत
खुलि-खुलि आँखि नहिं खुलति हमारी है॥१॥

खोलत न मुख देह गेह की नहीं है सुधि
सूरज उगे हूँ सारी सुरति बिगोये हैं।
हिलत न डोलत न बोलत बुलाये नेक
होत न सचेत अचेतनता समोये हैं।
'हरिऔध' हारि गयो उठत उठाये नाहिं
कहा काहू वेदना ते राति भर रोये हैं।
खुलि खुलि केहूँ नींद खुलि है सकति नाहिं
कब के उनींदे हैं कि ऐसी नींद सोये हैं॥२॥

दोहा—

मन अनुरंजन करत है अनुरंजित-नभ-राग।
जागि गयो सिगरो जगत जागनवारो जाग॥ ३॥
परे कब नहीं कूप मैं अपनो रूप बिसारि।
कब बरबस खोये नहीं सोये पाँव पसारि॥ ४॥

२५—व्याधि

शरीर मे विविध रोग के सचार का नाम 'व्याधि' है। इसके लक्षण काम-आकुलता, मूर्छा, विकलता आदि हैं।

कवित्त—

कलही कलंक-धाम कुल के कपूतन ते
धूत अवधूतन ते सारो देस भरो है।
जन-जन-जीवन प्रमाद-परिपूरित है
घर-घर वहु वाद पाँव रोपि अरो है।
'हरिऔध' हेरि-हेरि पकरि करेजो लेत
सहमे सहमि गात रोम होत खरो है।
अतन-समान है समाज को पतन होत
तन बिन गयो तन जाति-मन मरो है॥१॥

दूबरो सरीर अंग-अंग है कसर-भरो
सूखो सो बदन सादी रहन-सहन है।
चारु है विचार है चकित-कर चितवन
चाव है बचाव-भरो रुचिर वचन है।
'हरिऔध' को है भाव विविध-विभाव-भरो
परम-प्रभाव-भरो कलित कथन है।
उर अनुराग-भरो मानस विराग-भरो
जीवन वियोग-भरो रोग-भरो तन है॥२॥

सवैया—

मोपै न मंत्र प्रयोग भयो कोऊ मोहि डस्यो न भुअंगम कारो।
भूत की बाधा न मोपै भई नहिं बावरों-सो भयो चित्त हमारो।
तू उपचार के ब्योंत करै कहा जानै कहा 'हरिऔध' बेचारो।
बान-सी मारि गयो उर मैं अरी बीर बड़ी-बड़ी आँखिनवारो ॥३॥

दोहा—

सारे सुख मैं बहत हैं विविध दुखन के सोत।
है सब योग-बियाग-मय भोग-रोग-मय होत ॥ ४ ॥
सुख चाहे नहिं सुख मिलत सहे बनत दुख-भोग।
मेरो रोगी तन भयो कबहूँ नाहिं निरोग ॥ ५ ॥

२६—मरण

कारणविशेष से शरीर से प्राण-वायु निकल जाने का नाम 'मरण' है। इसके लक्षण श्वास-हीनता, निष्प्राणता आदि हैं।

कवित्त—

काल-गति अवलोकि धरिबो धरा पै पग
कीरति कमाइबो है काल-बल हरिबो।
लोक-पति-लाह अहै लहिबो अमर पद
लोमसता अहै लालसान ते उबरिबो।
'हरिऔध' ह्वैबो बलि लोक-हित-बेदिका पै
मान के सहित जाति-मान राखि मरिबो।
जीवन गँवाइ जीबो अहै जगती-तल मैं
अहै बसुधा-तल मैं सुधा-पान करिबो ॥ १ ॥

सकल मही-तल मै महिमा-निकेतन की
महनीय-महिमा निहारि बहमत है।

जल थल अनल अनिल को विकास बनि
विकसित अवनि अकास मैं रहत है।
'हरिऔध' कर के निकर की विभाकरता
वारिधता बूँद की निबाहि उमहत है।
एकता बिचारि जग-जीव जग-जीवन की
जीवन गँवाइ जन-जीवन लहत है ॥ २ ॥

दोहा—

वह न अमर है तो अहै अमर अमर-सम कौन।
जिअत मरत मरि-मरि जिअत जगती-तल मैं जौन ॥ ३ ॥
परो काठ-सम तन रहत सुत तिय हा हा खात।
तजि धन जन प्यारो सदन प्रान कहूँ चलि जात ॥ ४ ॥

२७— अपस्मार

अवस्थाविशेष के कारण मिरगी-रोग के समान चित्त का विक्षेप होना 'अपस्मार' कहलाता है। भूमि-पतन, कम्पन, प्रस्वेद, मुख से झाग और लार का निकलना इसके लक्षण हैं। भूत बाधा अथवा प्रयोग आदि के कारण यह अवस्था उत्पन्न होती है।

कवित्त—

विधि-वामता है कै करालता कपाल की है
किधौं पाप-दल है प्रपंच-पूरि दहतो।
किधौं फल अहै रुज त्रिविध असंयम को
कै है या मैं नियति रहस्य कोऊ रहतो।
'हरिऔध' कछु भेद होत ना तो कैसे जीव
कर पग पटकि दुसह-दुख सहतो।
धूल मैं लुठत कैसे कमल-मृदुल-तन
फूल-जैसे आनन ते फेन कैसे बहतो ॥ १ ॥

सवैया—

कै अहिफेन भख्यो कै डॅस्यो अहि भूत भिर्‍यो कै कहूँ भभरी है।
आनन ते बहु फेन बहावति कॉपत गात बेहाल-खरी है।
ए 'हरिऔध' जनात न का भयों मूखति जाति क्यो बेलि हरी है।
फूल-छरी-सम धूरि-भरी यह भूतल पै परी कौन परी है ॥२॥

दोहा—

खोये रतनन सुरति करि हहरत हा हा खात।
अवनि-लुठत कॉपत, हिलन, फेनिल जलधि लखात ॥३॥
कै दुख-बस महि परि कॅपति फेन तजति अकुलाति।
कै मिरगी मुँह मैं परी है मृगदृगी दिखाति ॥४॥

२८—आवेग

अचानक इष्ट वा अनिष्ट की प्राप्ति मे चित्त की आतुरी को 'आवेग' कहते हैं। इसके आकुलता, स्तंभ, कंप, हर्ष और शोक आदि लक्षण हैं। इष्ट-जन्य आवेग में हर्ष और अनिष्ट-जन्य में शोक होता है।

कवित्त—

निज बेस बसन बिसारहैं बिराने बने
बस होते बेबसी बितान क्यो तनत हैं।
जानि जानि सकल-सजीवन जरी को गुन
जीवन गॅवाइ जाति-जर क्यों खनत हैं।
'हरिऔध' सदा के चतुर चातुरा बिहाइ
आतुर कहाइ आतुरी मैं क्यो सनत हैं।
बावले कहावत क्यों बात बावलों-सी कहि
क्यों करि उतावली उतावले बनत हैं॥ १ ॥

परग-परग चले पारग पथो के होत
थोरो-थोरो किये काम होत बहुतेरो है।
खिन-खिन सूखे सूखि जात है सरित-सर
छिन छिन छीजे छूटि जात वन-घेरो है।
'हरिऔध' पल-पल बीते राति बीति जात
धीरे-धीरे दूर होत अवनी-अँधेरो है।
होत ना उबार, तो उबार कहा ह्वैहै नाहिं
कत अकुलात बार-बार मन मेरो है॥ २॥

अकुलानि भरो साप-फन सहकारी भाव
उर मै उफान-जैसो कत उफनत है।
सारी साहसिकता क्यो सिकता-समान भई
सूरता-विहीनता मै सूर क्यों सनत है।
'हरिऔध' धीर को तजति कत धीरता है
बार-बार सुधि क्यो सिधारत अनत है।
पुरु के सरिस तरु कैसे सरु होत जात
गिरि-ऐसो गरुओ क्यों हरुओ बनत है॥ ३॥

सवैया —

छबि रावरी हेरि छबीली छकी सिगरे छल-छद्म छोरै न लगी।
अलकावली लाल तिहारी लखे कुल-कानि हू ते मुख मोरै लगी।
'हरिऔध' निहारि के नैन सुहावने देवन हूँ को निहारै लगी।
तरुनाई तिहारी निहारि तिया उकतान-भरी तृन तोरै लगी॥४॥

दोहा —

लरखरात पग कर कँपत थरथरात है गात।
तितनी आकुलता बढति जितनो जिय अकुलात॥ ५॥

कत कछु को कछु है कहति कत अँगिराति जम्हाति।
काहँ चंचलता-मयी चचल-नयनि लखाति ॥ ६ ॥

२९—त्रास

किसी अहित भावना से हृदय में जो भय उत्पन्न होता है उसे 'त्रास' कहते हैं। कप, आकुलता, आशका आदि इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

वनिकै अमर करि समर बचैहौं मान
कसिकै कमर काम करिहौं अँगेजो मैं।
यमदंड केरी दंडनीयता निवारि देहौं
करि दैहौं खंड-खंड काल हू को नेजो मैं।
'हरिऔंध' कैसो त्रास त्रास मानिहौं ना कबौं
रहन न दैहौं पास भीति-भरो भेजो मैं।
खरे ह्वैहैं रोम रोम-रोम तो उखारि दैहौं
काँपिहै तो रेजो रेजो करिहौं करेजो मैं ॥ १ ॥

दोहा—

है न देस-हित भय-भरो है न भयावह बात।
उभरि-उभरि कत चित्त तू भभरि-भभरि भजि जात ॥ २ ॥
गिरति उठति उठि-उठि गिरति सिहरति भजति जम्हाति।
कत भामिनि भय ते भरी भभरी भूरि दिखाति ॥ ३ ॥

३०—उन्माद

काम, शोक, भय आदिक के प्राबल्य से चित्त में जो एक प्रकार का विक्षेप और व्यामोह होता है उसे 'उन्माद' कहते हैं। हँसना, रोना, गाना, व्यर्थ बकना आदि इसके लक्षण हैं।

कवित्त—

दुख के समूह ते करत हित-कामना है
मोहित ह्वै मोह ते बजावत बधावरो।
बोझो राखि सीस पै विविध सहबासिन को
ढोअत है कंधन पै अंधन को काँवरो।
'हरिऔध' वनो घर वारन को घोरो रहै
वनै कबौं भोरो कबौं गोरो कबौ साँवरो।
हारो हारो रहत सहारो है लहत नाहिं
रावरो वनत ना हमारो मन बावरो॥ १॥

तूठे रहे झूठे झूठे भावन ते भोरे बनि
तिनके अँगूठे टेखे जो नित तने रहे।
जग को प्रपंच मानि छूटे ना प्रपचन ते
जाल तोरि-तोरि जाल जकरे घने रहे।
'हरिऔध' साँसन की आस को न आस मानि
साँसत-समूह माँहिं सतत सने रहे।
साँवरे वजत रहे बहॅक वधावरे ही
रावरे कहाये तऊ बावरे बने रहे॥ २॥

दोहा—

बहु विरुझत बहॅकत बकत बिगरत बनत विमोहि।
बार-बार मन बावरो करत बावरो मोहि॥ ३॥
रोवत गावत बहु हँसत रीझत खीझत जात।
बहॅकत बिगरत बावरो बहरावत बतरात॥ ४॥

३१—जड़ता

विवेकशून्य और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ चित्तवृत्ति को 'जड़ता' कहते हैं। इसके लक्षण टकटकी लगा के देखना, चुप होना, चलने-फिरने में असमर्थ होना आदि हैं।

कवित्त—

जहाँ के तहाँ हैं परे कर पग अगना के
तन भयो काठ ना उघारति पलक है।
विपुल घुलति जाति हिलत-डुलत नाहिं
कलित कपोल पै न लुरति अलक है।
'हरिऔध' कहा भयो कहत बनत नाहिं
कामिनी को भई आज कौन-सी कलक है।
लोयन-ललक है कै झलक लगन की है
छल है छलावा है कि छोह की छलक है॥ १॥

चलत न हाथ पाँव सुनत न कोऊ बात
खुलति न आँखि गात-सुरति बिसारी है।
कहा होत अहै कहा ह्वै है कहा कीबो अहै
याहू को न ज्ञान सारी सुधि हूँ सिधारी है।
'हरिऔध' मूकता है मन मूक हूँ ते घनी
मानो महामोह भये गई मति मारी है।
पाइकै सजीवता सजीव है बनति नाहिं
जीवन-विहीन कैसी जड़ता हमारी है॥ २॥

दोहा—

देह गेह के नेह ते साँसत सहत अतीव।
तऊ तजत जड़ता नहीं यह मेरो जड़ जीव॥ ३॥
चकित भई अचपल भये लोचन चपल रसाल।
चितै चितेरे को बनी चित्र-पूतरी बाल॥ ४॥

३२—चपलता

मत्सर, द्वेष, रागादि के कारण अनवस्था तथा अस्थिरता सहित कार्य करने को चपलता कहते हैं। इसके साधन घमकाना, कठोर शब्द कहना और उच्छृंखल आचरण करना आदि हैं।

कवित्त—

पल-पल दौरक करत मनमानी रहै
जतन किये हूँ मोह मन को गयो नहीं।
परि-परि बस माँहिं बासना बिमासिनी के
कब तन पापी नाना ताप ते तयो नहीं।
'हरिऔध' हारि परे नेको हित होत नाहिं
कब सुख-चाह सुख चाहत नयो नहीं।
बाल-मति आकुलता-अंचल तजत नाहिं
मेरो चित चंचल अचंचल भयो नहीं ॥ १ ॥

वैरि-दल जाते बार-बार बलवारो बनै
लोप होवै ऐसी लोक-लोपिनी अबलता।
दिन-दिन दूनों जाते दानवी-दमन होवै
धूरि माँहिं मिलै ऐसी मानवी सरलता।
'हरिऔध' जाते नर-विपुल विफल होवै
धरा माँहिं धँसै ऐसी सकल-विफलता।
जाते लहै चौगुनी विकलता विकल जन
चूर-चूर होवै ऐसी चित्त की चपलता ॥ २ ॥

सवैया—

कुंज मैं राजति ही मुख-मंजु ते कै कल-कंजन की छवि औगुनी।
बात वहै तहाँ तौ लौं भई नहिं जाहि रही मन माहिं कवौं गुनी।
चौंकि परी 'हरिऔध' को चाहि उमाहि चली बनि आकुल-चौगुनी।
नौगुनी चावमयी-चपला भई लोचन-चंचलता भई सौगुनी ॥ ३ ॥

दोहा—

चाव भरे चित-चोर को लखि चितवत ललचात।
चंचल-नयनी को भयो चित चलदल को पात ॥ ४ ॥

चली जाति कल-कुंज मैं चौंकति खरके पात।
चपला निज-गति-चपलते करि चपला को मात ॥ ५ ॥

३३—वितर्क

किसी प्रकार का विचार उठते ही चित्त में सदिग्ध भावों का उदय होना और इद कुतः में लग जाना तर्क कहलाता है। इसके लक्षण भृकुटी भग. सिर हिलाना और उँगली उठाना आदि हैं।

कवित्त —

सुनि सुनि केहूँ हैं सुनत हित-बात नाँहिं
जानि गुन-औगुन गुनन मैं न सने हैं।
जिनही ते जान है परति जान-हीनन मैं
तिनकि तिनकि तनि तिनही ते तने हैं।
'हरिऔध' का हैं ए हमारे आन-बानवारे
जड़ है कि जीवन-विहीनन के जने हैं।
भोंरे हैं कि चाहन उमाहन ते कोरे अहैं
कै हैं हर-बाहन कि पाहन के बने हैं ॥ १ ॥

जो मन हमारो सदा मानतो हमारी कही
परमविमुख को तो मुख कैसे जोहते।
जो न मति होति लुंज कैसे तो मनुज ह्वै कै
गुंजा-पुंज काँहिं मंजु मोतिन मैं पोहते।
'हरिऔध' कामना रखति कमनीयता तो
कमनीय भाव कैसे उर मैं न सोहते।
तेरी दया होति तो न दयनीय होते राम
तेरी मया होति तो न माया-मोह मोहते ॥ २ ॥

छिन छिन छीजत है जाति को छबीलो तन
छूत-छात मैं परि अछूतो बल ख्वै गयो।
लाल ललना के छिने छतिया छिलति नाहिं
पातक छछूँदर उछाहन को छ्वै गयो।
'हरिऔध' काहें आँखि खोलेहूँ खुलत नाहिं
गिरि-सम गौरव अगौरव मैं ग्वै गयो।
मति छरि गई कै उछरि कै चुरैल लागी
सरि गयो भेजो कै करेजो रेजो ह्वै गयो॥ ३॥

दोहा—

पामर जन को है कहा पामरता पहचान।
पद पद पर ह्वै पतित क्यों पैहै पद निर्वान॥ ४॥
नहिं बोलत खोलत पलक तिय-तन डोलत है न।
लागी अहै चुरैल कै लगे नैन ते नैन॥ ५॥

आलंबन विभाव

आलंबन विभाग

नायिका

जिस सुन्दरी स्त्री को अवलोकन कर हृदय में श्रृंगार रस का संचार होता है उस रूपलावण्यवती युवती को नायिका कहते हैं। यथा—

कवित्त—

दीठ के परे ते गात-मंजुता मलिन होति
देखे अंग दलकहिं दल सतदल के।
कोमल कमल सेजहूँ पै ना लहति कल
भारी लगैं वसन अमोल मलमल के।
'हरिऔध' हरा पहिराये वपु-कंप होत
पायन मैं गड़हिं बिछौने मखमल के।
कुसुम छुये ते रंग हाथन को मैलो होत
छिपत छपाकर छबीली-छवि छलके ॥१॥

अमल धवल चारु चाँदनी सरदवारी
आनन-उजास आगे लागति कपट सी।
आतप की धापहूँ ते तन कुँभिलान लागै
देखि छवि नीकी जाति रतिहूँ रपट सी।
'हरिऔध' कोमलता ऐसी कामिनी की अहै
पखुरी-गुलाब गात आवति उपट सी।
नूतन प्रसून लौं सुरंग अंग-अंग दीखै
कढ़त सरीर सों सुगंध की लपट सी ॥२॥

चकित चितै कै चाव चौगुनो चढ़ाइ चौंकि
चित अनुमानि लाल भूल्यो चैन सुख है।

चलि कत चरचा करै री चारुता 'को चूकि
सची चेरी वाकी चारुता के सनमुख है।
'हरिऔध' चाँदनी लौं हास चख झख के से
चलन अमोल चामीकर लौं बपुख है।
चपला सी चमक चितौन है चकोर जैसी
चंपा लौं बरन चारु चंद्रमा सो मुख है ॥३॥

कोमल कलित करि-कर लौं सु-कर नीके
कामिनी के परम प्रमोद उर पारे देत।
दीपति-वलित-दंत पाँति की दुगूनी दुति
दंभवारे दारिम को उदर विदारे देत।
'हरिऔध' बाँके बड़े बान से बिखीले नैन
बारिजातहूँ को बर बरन बिगारे देत।
गहब गुलाब से गुलुफवारी कामिनी कौ
मंद-मद गमन गयंद-मद गारे देत ॥४॥

सवैया—

कौन कथा मृग मीन की है किन दारिम दाख की बात कही है।
किन्नर नाग नरादि के नारिन की 'हरिऔध' जू कौन सही है।
रूप तिहारो निहारि के राधिके देव बधून की देह दही है।
भाजि हिमाचल मैं गिरिजा बसी इंदिरा सागर बीच रही है ॥५॥

शिख-नख-वर्णन

शीश

दोहा—

मिलत निरखि या सीस ते नव रस की बकसीस।
मादर सीस नवाइ को देव न सदा असीस ॥१॥

फूलि उठे दृग सखिन के छबि लख देत असीस।
ह्व सफूल दूनो फबत सीस-फूल तिय-सीस ॥ १ ॥
फूल कहूँ फल कहुँ लगत यह विपरीत महान।
सीस-फूल सों देखियत स-फल होहिँ अँखियान ॥ २ ॥
सुर-पुर बसतहुँ लेत यह सुनासीर-मन खेंच।
परत सरासर पेच मैं लखि तेरो सरपेंच ॥ ४ ॥

माँग

दृग दुहून की देखियत बढ़त जाति नित माँग।
कहा माँगि नहिँ सकति मन-माँगनवारी माँग ॥ १ ॥
रूप धरे अपनो दिपत अति-अनूप अनुराग।
सरस-सिँदूरवती नहीं यह युवती की माँग ॥ २ ॥
पारि देत मन पेच मैं रच पेचीले स्वाँग।
नीकी-मुकतावलि-वलित गज-गमनी की माँग ॥ ३ ॥

पाटी

कबौं पटी नहिँ काहु की तिय-पाटी के साथ।
याहि अटपटी मैं किते पटकत पाटी माथ ॥ १ ॥
पढ़ि विधि की पाटी कहत जग-परिपाटी काँहिँ।
जो सुख पाटी सों पटे पाट ठटेहूँ नाँहिँ ॥ २ ॥

चोटी

विख सों कछु चढ़ि जात सुनि या वेनी की बात।
लहर न आवत काहि लखि नागिनि सी लहरात ॥ १ ॥
विख वाके काटे चढ़त याके नेकु लखात।
क्यो वेनी सी औगुनी गिनी नागिनी जात ॥ २ ॥
का अजगुत की बात जो मानव-हिय हरखात।
सुमन-सजी वेनी लखे सुमनस-जी न अघात ॥ ३ ॥

चित को विचलावत चलत कुटिल चाल न लखात।
लखि वेनी व्याकुल बनो फिरत व्याल वल खात ॥ ४ ॥
कैसे कोऊ सहि सकै वेनी-बिख की ज्वाल।
विवर बसेहूँ नहिं भयो गरल-विवरजित व्याल ॥ ५ ॥

जूरा

पूरा बिखधर-फन दियो विख-कूरा वतराय।
मन-अजान तबहूँ जुरा वा जूरा सो जाय ॥ १ ॥
तव जूरा को भेद तिय समुझि परत कछु नाँहिं।
है छटाँक-भरहूँ न पै मन बाँधत छन माँहिं ॥ २ ॥
जूरा बाधन मैं कछू साधन और लखात।
कहूँ बँधनवारो न मन जहँ वरवस बँधि जात ॥ ३ ॥

अलक

भ्रमत इनैं न विलोकियत वन-बागन गुंजारि।
अलि-कुल अकुलाने फिरत अलकावली निहारि ॥ १ ॥
पल-पल ललकत ही रहैं लालन-लोयन होय।
लखे आलुलायित अलक लालायित चित होय ॥ २ ॥
कैसे कोउ मानव सकै निज मन-नैनन रोकि।
अलकावारेहूँ फँसहिं अलकावलि अवलोकि ॥ ३ ॥
बँधत अरूझत ही रहत मिटत न मन को द्वंद।
जो छोर्‌यो जूरा पर्‌यो अलकावलि को फंद ॥ ४ ॥
पान-काल जब चूकि कै लट-व्यालिनि वल खाति।
जल-कन मिस मुख-ससि-सुधा बूँद-बूँद गिरि जाति ॥ ५ ॥
लार बहावत नागिनी मुख-मयंक-मधु-हेत।
टपकत अलकन ते न अलि यह जल-कन छवि देत ॥ ६ ॥

नेक नहीं मेरी सुनत हारि परे हम टेरि।
एरी क्यों लटि जात मन यह तेरी लट हेरि॥ ७॥
गति मन-नैनन की निरखि मति बतरावति मोहि।
ए जुलमैं परिजात हैं जुलमी जुलफन जोहि॥ ८॥

केश

कवित्त—

मंजुल सिवार सुकुमार-पन्नगी-कुमार
मेरे जान मखतूल-तारहूँ ते नीके हैं।
रस-धाम करैं ए अकाम-मनहूँ को काम
तम ते बनाये बीछि काम-रमनी के है।
'हरिऔध' सरस-सिंगार-रस के हैं सार
कारक-अपार-मोद सारी आवनी के हैं।
घुघुरारे आनन-बगारे छबिवारे प्यारे
सटकारे कारे कारे-केस कामिनी के हैं॥ ९॥

दोहा—

छहरत छाये छवा लौं छंद छगूने धार।
प्यारे-प्यारे छरहरे छबिवारे ए बार॥ १०॥
कारे-कारे चीकने सने-सनेह सु-देस।
मन अटकाये लेत हैं ए लटकाए केस॥ ११॥
बिन बूझे सरबर करत तू बावरी बयार।
बिगरेहूँ बनतहिं रहहिं ए बगरे बर-बार॥ १२॥
मेरो मन सोचत निरखि कामिनि तेरे बार।
दीप-सिखा-मुख ते कढ़त काजर की यह धार॥ १३॥
कै साँपिनि के सिसुन को गहि आन्यो मुखान।
किधौं छरहरे केस ए छहरत छये छवान॥ १४॥

बगरे ए न विलोकियत मेचक चिकुर अथोर।
कढि कलङ्क एकत भयो मुखमयंक दुहुँ ओर॥ १५॥

भाल

बिरचन मैं जाके जले बिधिहुँ निराली चाल।
निरखि भाल भूले मनहिँ कैसे सकहिँ सँभाल॥ १॥
जके थके निरखत रहे सके न बूझि बिचार।
पारत रसिकन पेच मैं परि कै सिकन लिलार॥ २॥
नवल बाल के भाल पै कै बल परो लखाय।
कै दरपन-तल पै परी लहर-लरी दरसाय॥ ३॥
बाल-भाव ऊँचो लसै किधौं समूचो चैन।
छटा-अटा कै यह पटा मंजु चौहटा-मैन॥ ४॥

भौंह

कहा करैं अनुमान किमि कही न मानत मोर।
मुरत न मोरे मन पऱ्यो भामिनी-भौंह-मरोर॥ १॥
भामिनि-भौंह विलोकियत बिगरत बनत सबेग।
गजब गुजारत कौन पै यह गुजराती तेग॥ २॥
बिन गुन बिसिख बिलोकियत बीरन करत अमान।
कहैं क्यों न हम कामिनी-भौंहन काम-कमान॥ ३॥
बीर बूझियत भौंह को बंकिम झुकी बिलोकि।
चली जात अलि की अवलि नैन-कमल अवलोकि॥ ४॥
बक्र पाँति बिधि कर लिखि बिबिध-भाव-आधार।
को बिचार भौंहन करै बिना भये मुख चार॥ ५॥
जन-मन-नैनन को हरति गति-मति करति अपंग।
बक्र भौंह की बंकता मिली कुटिलता-संग॥ ६॥

नेत्र

कवित्त—

किधौं विधि नैन कमनीय कामिनी के नीके
लसि मंजु आनन मैं मन लेत मोल हैं।
किधौं अति-सरस-सरद-सरसीरुह मैं
निवसि युगल अलि बनिगे अबोल हैं।
'हरिऔध' किधौं काम-कलित- मुकुर माँहिं
सोहत विमोहत रतन अनमोल हैं।
मानी मनसिज - युग-मीन मन मोद मानि
किधौं चंद-मंडल मैं करत कलोल हैं ॥१॥

लाँबे लाँबे कुंचित चिकुर पीठ परि राजैं
सुवरन-भीति पै फनिंद गतिवारे से।
गोरे-गोरे सुघर कपोल पै सु-तिल सोहैं
मसि-बिंदु सुमन-गुलाब मैं सँवारे से।
'हरिऔध' ऐसी कछू बनी है छबीली आज
सीस लसैं मोती अंधकार बिच तारे से।
कारे-कारे तारे ए अरुन अँखिया मैं डोलैं
अमल कमल मैं मिलिंद मतवारे से ॥२॥

दोहा—

निसि - दिन रसहूँ मैं बसे लह्यो न सो रस मीन।
जो रस इन अँखियान को बरबस विधना दीन ॥३॥
याही ते बन मैं बसे खंज बनज मृग मीन।
कछु अनबन ही सी रही अँखियन सों निबही न ॥४॥
करि सैनन उपजावहीं मैनहुँ के मन मैन।
एनी - नयनी के नये नीके ए दोउ नैन ॥५॥

होत वहाँ हूँ थिर नहीं जहँ पानी की खान।
इतनो बेपानिप कियो मछरिन को अँखियान ॥६॥
दृगन लजे मीनन लखत इत उत दौरत नाँहि।
डूबन को ढूँढ़त फिरहिं ए अगाध जल काँहि ॥७॥
नेक न थिरता गहन की है खंजन की बान।
काको नहिं चंचल करहिं ए चंचल अँखियान ॥८॥
कढ़त न काढ़े कैसहूँ किये जतन दिन-रैन।
कछु चित में ऐसे गड़े बड़े-बड़े ए नैन ॥९॥
चखन हाथ पानी गये भई झखन अस दाह।
कटे मरे मिटे हूँ रही पानी ही की चाह ॥१०॥
काको रँग बिगरत नहीं बदलो लखि दृग-रंग।
भये सुरंगहु मृगन को कवि-गन कहत कुरंग ॥११॥
जितनो तिरछे ह्वै चलैं तितनो करैं निहाल।
इतनो लोच न क्यों रखैं ए तव लोचन बाल ॥१२॥
काहि न ए अपनावहीं इनको कौन अहै न।
कहा करि सकत हैं नहीं बाल तिहारे नैन ॥१३॥
कौन सँभाले से बने देखे-भाले हैं न।
रस के प्याले से लसैं निपट निराले नैन ॥१४॥
नीति-निपुन नागर परम रस-गागर मुद-ऐन।
सागर-सील सनेह के सब-गुन-आगर नैन ॥१५॥

नेत्र-लाली

दोहा—

लाल लाल डोरे परे कै अँखियान-मँझार।
सुधा-सरोवर में लगे कै अनुराग-सेवार ॥१॥

किधौं कलित-कोयन रही लोयन-लाली राजि।
अरुन-राग-रंजित किधौं ऊखा रही बिराजि ॥२॥
लहू वहावत देखियत अब लौं अँखियन कोँहिं।
आली यह लाली नहीं लहू लग्यो तन माँहिं ॥३॥

पुतली

लोयन-कोयन मैं अरी अमित पूतरी नाँहिं।
कारे-नग ए जगमगत रतनारे नग माँहिं ॥१॥
ललना लोयन मैं न यह पुतरी लसति असेत।
अतसी की पखुरी बसी कमल-दलन छवि देत ॥२॥
कारी-कारी पूतरी प्यारी अँखियन माँहिं।
मानिक-रंजित रजत मै मरकत राजत नाँहिं ॥३॥
बाल-बिलोचन मैं नहीं पुतरी-असित दिखात।
अरुन-राग-जुत सित-गगन मै राजत रवि-तात ॥४॥

अंजन-रेखा

अंजन-लीक अलीक कहि कत बहरावति मोहि।
प्यारी मृग-दृग पै रही कारी धारी सोहि ॥५॥
कै अंजन की रेख लखि अँखियन होत विनोद।
सोवत खंजन-सिसु परो कै खजन की गोद ॥६॥
कहि अंजन की रेख कत कवि-जन बनत अजान।
बरबस काहू सो बिगरि बिख उगिलहिं अँखियान ॥७॥
बिना सुधाहूँ नहिं सधत बिखहूँ बिना बनै न।
कासो काज रखैं न ए काजरवारे नैन ॥८॥
काजर-रेख रखै न जी-जारनचारी आँख।
काहु जी-जरे के जरे जी की है यह राख ॥९॥

पलक

दोहा—

अदलि बदलि बाटन दृगन अनुमानत निज मान।
पल-पल तुलत मनहिं लखत पलकन के पलरान ॥१॥
पल-पल उठहिं गिरहिं परहिं थिरता भूलि गहैं न।
नयनन के ललकन परत पलकनहू नहिं चैन ॥२॥

बरुणी

मनलगेहुँ अनगन जनन अकुलावति चहुँ ओक।
बरु नीकी बरछी अनी नहिं बरुनी की नोक ॥१॥
कै सिंगार चाँटे जुरे कै बरुनी बिधि-नैन।
कै कमलन काँटे लगे कै ए साँटे-मैन ॥२॥
अरी चुभावति कत रहति सूची मो हिय माँहिं।
बाम तिहारी बरुनि को बरु निहारिहौ नाँहिं ॥३॥
सूची तरुनी बरुनि मैं जोरे डोरे नैन।
दरजी मैन सियत रहत प्रेम-बसन दिन-रैन ॥४॥
बरुनी-बरनन मैं करत कत इतनो चित गौर।
जग-बिजयिनि अँखियान पै ढुरत देखियत चौर ॥५॥
बरुनीवारी पलक मैं न्यारी अँखिया नाँहिं।
खजन के जोर परे मैन पींजरे माँहिं ॥६॥

नेत्र-तिल

दोहा—

नेत्र-बिहीन बिलोकियत मलिन रूप औ रंग।
ए तिल कैसे तुलि सकहिं नैन-तिलन के संग ॥१॥

बिख-उगिलत बिगरत लरत बंक चलत गहि मान।
कहा एक तिल पै करत इतनो नैन गुमान॥ २॥
चाल निराली दृगन की बूझि परत कछु नाँहि।
कैसे ए तिल एक सों तौलि लेहिं मन काँहि॥ ३॥

दृग-कोर

कित इनकी गति है नहीं कहाँ न इनको जोर।
काके उर में नहि गड़ी बाँके दृग की कोर॥ १॥
मोल-जोल कीने बिना लै अमोल मन मोर।
चाहति कहा अकोर अब तेरे दृग को कोर॥ २॥
रहि-रहि कसकत ही रहति कीनेहुँ जतन करोर।
कढ़ति न काढ़े कैसहूँ तिय तव अँखियन-कोर॥ ३॥

चितवन

दोहा—

बार-बार, बिगरति रहति बूझि परत नहि गाथ।
क्यों चित बनत न देखियत तिय-चितवन के साथ॥ १॥
किये कटीले कमल औ मीनन कौ उपमान।
निपट कटीलो ह्वै गई कामिनि की अँखियान॥ २॥
देह गेह की सुधि बिबस को नहिं देत बिसारि।
एरी यह जादू-भरी तेरी नजर निहारि॥ ३॥
समर-सामुहें देखियत सूरमाहुँ की पीठ।
का न कामिनी की करै बंक-गामिनी दीठ॥ ४॥

नासिका

दोहा—

तो की चल अँखियान मैं नीकी नाक लखाय।
रारी-खंजन बीच कै कीर पयो है आय॥ १॥

नेसुक सिकुरत नाक लखि परत साँकरे आन।
नाक-निवासिन को रहत सदा नाक मैं प्रान ॥ २ ॥
या तिय-नथ की बात कछु कहत बनत है नाँहिं।
मुकुत मिले हूँ देखियत फँसी नासिका माँहिं ॥ ३ ॥
निधरक जन सौंहैं रहत चूमत अधर रसाल।
बेसर-मोती कत चलत बेसरमों की चाल ॥ ४ ॥
बरबस बिबस करै परै निसि-बासर नहिँ चैन।
बिसरायेहुँ बिसासिनी तिय-बेसर बिसरै न ॥ ५ ॥
नहिँ केवल कामिनी-नथहिँ ऐसो भयो सुपास।
को मुकुतन को संग करि लहत न नाक-निवास ॥ ६ ॥
तजि ममता निज बरन की मल परिहरि तन दाहि।
करि मुकुतन को संग नथ नाक बिराजत आहि ॥ ७ ॥

कान

दोहा—

कहा भयो अपवाद जो वाद करत जन कोय।
अहै प्रससित मत यही स्रुति-संमत-मति होय ॥ १ ॥
भूखित भूखन-भाव सों ए भू मैं दरसाहिँ।
कहा भयो भावुक भये जो स्रुति भावहिँ नाहिँ ॥ २ ॥
बडे-बड़े मुकुतन कियो निज बस मैं हठ ठानि।
बसीकरन की बानि अस बसी करन मैं आनि ॥ ३ ॥
मुकुतन हूँ को है जहाँ निवसन को अधिकार।
कानन गये कहा रखत, जब कानन सों प्यार ॥ ४ ॥
लोक-वेद विपरीत यह रीति जकत चित जोय।
स्रुतिसेवी मुकुतन लखे अतन-उदै तन होय ॥ ५ ॥
सिद्धपीठ से मैन के ए दोउ स्रवन सुहाहिं।
बाला को सेवत लखत जहँ मुकुतनहूँ श्राँहिं ॥ ६ ॥

प्यारी-प्यारी छवि-सनी सुवरन-वारी जोय।
वारी पै वारी भई मति मतवारी होय ॥ ७ ॥
हैं न कंज-कल-नयनि के ए झूमक छवि-रास।
अपत होइ कमलन कियो कानन माहिं निवास ॥ ८ ॥
कत कोऊ बूझै विना कानन को पतियात।
लखे पात उतपात है पात-पात मन जात ॥ ९ ॥
मन-मंदिरहिं सलाकयुत कीवो उचित जनात।
यह कानन की वीजुरी करति महा उतपात ॥ १० ॥
सुरुचिर स्रौनन के लखे चकाचौंध लगि जात।
तहाँ दीठ काकी जुरी जहाँ बीजुरी-पात ॥ ११ ॥

कपोल

दोहा—

काको नहिं वेलमावहीं काहि न करहिं निहाल।
ए गुलाब के फूल से गरवीली के गाल ॥ १ ॥
वा कपोल को है वलित-ललित-लालिमा जौन।
माखन को गोला कहे माख न मानत कौन ॥ २ ॥
वरजोरे कत जो रहत मन मोरे सव काल।
गोरे-गोरे ए गरल-भरे निगोरे गाल ॥ ३ ॥
गोरे-गोरे चीकने अमल अनूप अमोल।
मो चित विचलित होत लखि लोने-ललित कपोल ॥ ४ ॥
कछु अनखुन करि नहिं चलै अँखियन ही सों चाल।
गालिव कापै होत नहिं गहव-गुलावी गाल ॥ ५ ॥
सपरत कछु न परत बनत लोयन भये अडोल।
पलक-पोल पल मैं खुलत पुलकित पाइ कपोल ॥ ६ ॥
अनगन-जन-मन को करै अनुरंजन सव काल।
भोरे-भोरे भावजुत गोरे गोरे गाल ॥ ७ ॥

दाँत

दोहा—

हैं मोती से, कुंद के कोरक से दरसात।
चंद्रमुखी के चारुतामय चमकीले दाँत ॥ १ ॥
ललकित लोयन मैं बहति अभिनव रस की धार।
दारिम-दाने सी लसी दसनावली निहार ॥ २ ॥

रसना

दोहा—

कबहूँ बरसति है सुधा कबहु बनति सुखदानि।
रसमय जीवन करति है रसना रस की खानि ॥ १ ॥
बहु-विध-वचनावलि-जननि कलित कला की केलि।
है रसालता की थली है रसना रस-बेलि ॥ २ ॥

वाणी

दोहा—

बहु विलास की सहचरी मंजुल-रुचि-अनुभूति।
वर-बरनी-बानी अहै मधुमय - कथन - विभूति ॥ १ ॥
बीन सरिस कल-नादिनी उन्मादिनी अपार।
है गौरांगिनि की गिरा स्वर - गौरव - आगार ॥ २ ॥

हँसी

दोहा—

हँसे खिलति है चाँदनी बहति सुधा की धार।
दमकि जाति है दामिनी रीझत है रिझवार ॥ १ ॥
विलसि मनोहर अधर पै हँसी मोहि मन लेति।
बरबस मोह-मरीचिका डारि मोहिनी देति ॥ २ ॥

मुसकान

कवित्त—

किधौं तम-विढु की कतार मैं सुधा की धार
किरिन कढ़ी है किधौं कालिमा-प्रतीची मैं।
कांति कैधौं हीरा की लसति पाँति-नीलम मैं
जोति वगरी है कै कलिंदजा की वीची मैं।
हाँस-रस-सोत कै सिंगार-रस-वूंदन मैं
'हरिऔध' कैधौं कला मंद की मरीची मैं।
कारे-दंद-पाँति मैं लसी है मुसुकान किधौं
थिरकि रही है विज्जु वादर-दरीची मैं॥ १॥

दोहा—

मीत-नयन मन-अयन मैं वरसि सरस रस जाति।
मंद - मंद महि पग धरति मंद - मंद मुसुकाति॥२॥
है दामिनि की दमक सी दमकति करि रस-दान।
वदन - कलानिधि - कला सी कलामयी मुसुकान॥३॥
स - छवि बनावति छविहुँ को वनि सौगुन छविवान।
कुसुम - विकास - विमोहिनी विकसित - मुख - मुसुकान॥४॥
सोहति सोही सिता सम मोहति मोह समान।
ललना - लाल - अधर - लसी ललक - भरी मुसुकान॥५॥

अधर

कवित्त—

कोऊ कहै अमी को निवास अमरावती मैं
कोऊ कहै कवि की कलित कवितान मैं।
कोऊ कहै अमल मयंक की मरीचिन मैं,
कोऊ कहै सिसु की सरस वतरान मैं।

'हरिऔध' कोऊ कहै मंजुल रसाल माहि,
कोऊ कहै गौरवी गवैयन के गान मैं।
मेरे जान केवल निवास है अमिय केरो
कामिनी के कुसुम - समान अधरान मैं ॥ २ ॥

सवैया—

बिंब बँधूक जपा-दल विद्रुम लाल हूँ लालिमा पै ललचाहीं।
माधुरी की समता को सदाहिँ ये ऊख पियूख मयूख सिहाहीं।
का 'हरिऔध' से मानव की कथा देवता दानव हू बलि जाहीं।
बीर कहै किन धीर धरा अधरा अवलोकि धरातल माहीं ॥२॥

वर विद्रुम मैं कहा लाली इती कहा मंजुलता जपा ऐसी गहै।
कहा लाल मैं लाल लगाई इती समता कहा बापुरो बिंब लहै।
कहा ऊख मयूख पियूख मैं एती मिठास अहै 'हरिऔध' कहै।
जिती माधुरी कोमलता कमनीयता मोहकता अधरा मैं अहै ॥३॥

दोहा—

मनसिजहूँ वाके बिना जीवन धारत नाँहिँ।
सुधा मिली काको नहीं अधर - सुधाधर माँहिँ ॥ ४ ॥
गगन - लालिमा मैं लसित कल कौमुदी समान।
काको मुदित करति नहीं अधर - बसी मुसुकान ॥ ५ ॥

चिबुक

दोहा—

गिरे चिबुक गाड मैं निबुक सकत मन नाँहिँ।
मधुप समान परो रहत मंजुल पाटल माँहिँ ॥ १ ॥
देखि छके चितवत रहे मोहे कहि अनमोल।
रसिक-नयन-तिल कब सके स-तिल चिबुक को तोल ॥ २ ॥

मुख

कवित्त—

बीजुरी बिचारी ह्वै बिकल बिलखानी फिरी
हीरक के हारहूं को तेज सब हरि गो।
चूर - चूर भयो चोप चुन्नी की चिलकहूँ को
दुतिवारे - दीपक - दिमाग हूँ उतरि गो।
'हरिऔध' वदन बनावत व्रजेस्वरी कौ
विधि हूँ को बहुरो बनाइबो बिसरि गो।
तरनि के तन मैं न तनिक लुनाई रही
तारन समेत तारापति फीको परि गो ॥ १ ॥

दीपति दुगूनी दुति रैन-दिन आठो जाम
दामिनी-दमक सम परत न मंद है।
दबकि रहत देखे दीपमालिका को दीप
बारिज कुमुद पेखे लहत अनंद है।
'हरिऔध' सीरो तापकर छन - छन ओप
बढ़त अपार बूझि परत न छंद है;
तेज है कि तंत्र है कि तारा है कि यंत्र है
कि राधिका-बदन है कि रवि है कि चंद है ॥ २ ॥

सवैया—

आइकै व्योम बसेरो लियो अब आपनो रूप अनेक सँवारत।
ह्वै कबौं तीन कलादिक सो प्रकटै कबौं पूरी कलान को धारत॥
राधिका-आनन की समता हित व्योंत नये 'हरिऔध' बिचारत।
ऊबि गयो बसि बारिधि अंक मैं मानों मयंक कलंक पखारत ॥ ३ ॥

दोहा—

छवि लखि वारति प्रान रति मोहत रहत मनोज।
है सुंदरता - सरित कौ सुंदर - बदन सरोज ॥ ४ ॥
वाकी विभा लहे लसत अनुपम - रस नभ - अंक।
है विनोद - बारीस को मंजुल - वदन मयंक ॥ ५ ॥

ग्रीवा

दोहा—

सरस - राग अनुराग को बाते निकसत सोत।
लखे कठ कंठा - सहित चित उत्कंठित होत ॥ १ ॥
वाको कहे कपोत सम होत ललित - उर लठ।
हरत कंबु की कंबुता कोकिल - कंठी - कंठ ॥ २ ॥

भुजा

दोहा—

विरचित है वर - बीजुरी विविध - विलास सकेलि।
सुवरन - बरनी की भुजा है सुवरन की वेलि ॥ १ ॥
काम - पास - कमनीय के सुख - सर - मंजु - मृनाल।
विचलित होत विलोकि चित वलय - वलित - भुज - बाल ॥ २ ॥

कलाई

सवैया—

चूरी सुचारु की चारुताई लखे चंचलता चित चौगुनी आवै।
छंद पछेलन के फरफंद ते मंद भयो मनहूँ दिखरावै ॥
सूधी सुगोल भई तो कहा 'हरिऔध' हियो जो महा अकुलावै।
एरी हेरात है आई कलौ कोऊ कैसे कलाई लखे कल पावै ॥ १ ॥

हथेली

दोहा—

लोक-लालिमा ते ललित लखि करतल-अवदात।
खटके ही मैं रहत हैं वट के टटके-पात ॥१॥
अधिक लालिमा लहन हित ललकित रहि सब काल।
रखति लाल को हाथ मैं बाल-हथेली-लाल ॥२॥

उँगली

दोहा—

चंपक-कलित-कलीन को किधौं विराजत .जूह।
किधौं मंजु-कर कमल मैं बिलसत करज-समूह ॥१॥
कर कितने संकेत-कल काहि न करत निहाल।
नवल-बाल की आँगुरी इँगुर जैसी लाल ॥२॥

कुच

कवित्त—

श्रीफल कहे ते सुख होत सपने हूँ नाँहि
तोख होत हिय मैं न कंदुक बखाने से।
कंचन-कलस की कथान को उठावै कौन
रति को सिंधोरा कहे रहत लजाने से।
'हरिऔध' जामैं बसि मत्त-मन-भृंग मेरो
कढ़त न दीखै अजौं कौन हूँ बहाने से।
सोभा-सने सौहैं सोहैं ससि लौं सु-आनन के
सरस-उरोज ए सरोज सकुचाने से ॥१॥

सवैया—

सुंदर चॉद सों भोरो-भलो मुख काको अहै भुवि मै चित-चोरना।
गोरो-गुलाब लौं भाव-भरो तन लेत है काको भटू मन-छोरना।
ए 'हरिऔध' अनूठी-छटा लखे कैसहू कोऊ सकै मुख मोर ना।
काको न ए बड़े-नैन किये बस काके हिये में गडी कुच कोर ना॥२॥

उदर

दोहा—

कै है कोऊ काम-थल, चलदल - दल - अनुरूप।
कै विलसित त्रिबली - वलित - नवला - उदर - अनूप॥१॥
सोहत है सरसिज - दलन सरिस सरस - छवि धारि।
लगत असुदर मानसर सुदर - उदर निहारि॥२॥

रोम-राजि

कवित्त—

उरजविलग्नी कारे केस पन्नगेसन सों
केलि करि खेलि मेलि वदन वदन ते।
सुठि - सुरसरि - धार मोतीहार मैं समोद
वार - वार विहरि विलासिनी मदन ते।
'हरिऔध' पान काज नाभि - सर को पियूख
विसरि अपान मिलि मदन - कदन ते।
लसत न कचुकी सकुच ढिग रोम-राजि
निकसत पन्नगी पिनाकी के सदन ते॥१॥

माला

कवित्त—

सरपेच है कै पेच मॉहिं पारैं ऑखिन को
बेसर है विकल बनावैं मति आन की।

'हरिऔध' बड़े बीर हूँ की धीर वाला हरे
कनफूल उर को है कनिका कृसान की।
कामिनी तिहारी कहा तेरे तन-भूखन हूँ
करत अनोखी कौन ह्वैहै गति प्रान की।
मोल लेत माल मुकतान हौं सुन्यो पै लख्यो
मोल मन मेरो लेत माल मुकतान की ॥ १ ॥

नाभी

दोहा—

काम-मथानी है किधौं कामद-रस को कूप।
कि है रूप को बर-बिवर कामिनि-नाभि अनूप ॥ १ ॥
है सिंगार को कुंड कै छबि-सर-भँवर-ललाम।
रोम-राजि-नागिनि-बिवर किधौं नाभि-अभिराम ॥ २ ॥

पीठ

दोहा—

काम-चमोटी सी लसी चोटी की है ईठ।
कंचन-पाटी है किधौं कदली-दल है पीठ ॥ १ ॥
ललना-सुंदर-पीठ पै कबरी परी लखाति।
कनक-सिला पै कै असित-नागिनि है लहराति ॥ २ ॥

कटि

दोहा—

वा मैं वैसो मोहिनी मंजुलता है नाँहिं।
केहरि की कटि सी कहत कत कामिनि-कटि काँहिं ॥ १ ॥

कहि मृनाल के तार सी कवि-कुल लेत कलंक।
करति लालची लोचनन तिय लचकीली लंक ॥ २ ॥

जंघा

दोहा—

मति-हीनन के मतन को एरे मन मत मानु।
दंभ करत ते जे कहत रंभ-खंभ सम जानु ॥ १ ॥
कहा कहहिं हम जानु को जोहि रूप औ रंग।
कनक-खंभ करि-कर किधौं मंजुल-मदन-निषंग ॥ २ ॥

पिंडुरी

दोहा—

कौन देत नहिं कलभ-कर-कोमलता को टोंकि।
सुथरी-प्यारी-पींडुरी प्यारी की अवलोकि ॥ १ ॥
काको भावति है नहीं काहि लुभावति नाँहिं।
अति-सुढार यह पींडुरी रस ढारति दृग माँहिं ॥ २ ॥

गुल्फ

दोहा—

देखि मंजुता मृदुलता चित यह करत कबूल।
गोरी के गोरे गुलुफ हैं गुलाब के फूल ॥ १ ॥
परम-मनोहरता मिले मोहित मन करि देत।
गोल गोल नवला-गुलुफ मोल काहि नहिं लेत ॥ २ ॥
कै सुख-उपवन-सुमन कै गति-संपुट-अभिराम।
कै सुंदरता-कुलुफ कै गुलुफ बड़े-छवि-धाम ॥ ३ ॥

एड़ी

दोहा—

जाते निकसत ही रहत वर - विनोद - रस - सोत।
कौहर सी एड़ी लखे को हरखित नहिं होत ॥ १ ॥
लहि लालिमा अनार सी ईंगुर सी सब काल।
ललना की एड़ी ललित लालहुँ करति निहाल ॥ २ ॥
तजि सुहावनो सब समय बनि एड़ी-अनुकूल।
दुपहर को फूलत रहत दुपहरिया को फूल ॥ ३ ॥

पाँव

दोहा—

ललना के पद-युगल हैं लोभनीय रमनीय।
कोमल-पल्लव से मृदुल अमल-कमल कमनीय ॥ १ ॥
निरखि मंजुता पगन की मगन होत है मार।
मुदित तिहूँ पुर को करति नूपुर की झनकार ॥ २ ॥

पद-नख

बहु-मोहक सुकुमारता विकसित सी दिखराति।
गोरी-पग-अँगुरीन मैं विलसति तारक-पाँति ॥ १ ॥
प्यारी पग-अँगुरीन मैं लसति नखन की जोति।
चंपक की कलिका किधौं मनि - गन - मंडित होति ॥ २ ॥

पद-तल

दोहा—

काम-पताका सम रुचिर सरसिज सरिस ललाम ।
ललना को पग-तल अहै चंदन-दल-अभिराम ॥ १ ॥
अनुरागी - जन - उरन मैं सरस - राग भरि देति ।
तिय-पग-तल की ललिमा मुख-लाली रखि लेति ॥ २ ॥

नायिका के भेद

नायिका के भेद

जाति के अनुसार चार—१-पद्मिनी, २-चित्रिणी, ३-शंखिनी, ४-हस्तिनी।

प्रकृति के अनुसार तीन—१-उत्तमा, २-मध्यमा, ३-अधमा।

धर्मानुसार तीन—१-स्वकीया, २-परकीया, ३-सामान्या।

वयःक्रमानुसार तीन—१-मुग्धा, २-मध्या, ३-प्रौढ़ा।

अवस्थानुसार दश—१-खंडिता, २-कलहांतरिता, ३-विप्रलब्धा, ४-उत्कंठिता, ५-वासकसज्जा, ६-स्वाधीनपतिका, ७ अभिसारिका, ८-प्रवत्स्यत्पतिका, ९-प्रोषितपतिका, १० आगतपतिका।

विशेष

खंडितादि दश भेद मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा और परकीया में होते हैं। किसी किसी ने सामान्या में भी इन दशों भेदों को दिखलाया है, किंतु सामान्या में इन दशाओं का निरूपण कुछ विद्वानों ने रसाभास माना है। मेरा विचार भी यही है, अतएव सामान्या में इन दश भेदों का वर्णन नहीं किया गया।

जाति-संबंधी भेद

१—पद्मिनी

पद्मिनी पद्म-गंधा, रति-सुंदरी, सुकुमार-तन, अल्प रोमवती और अधिकतर गान-वाद्य-परायणा होती है।

दोहा—

अति-सुंदर सब-रस-भरी सील-सकोच-निधान।
कौन कामिनी लोक मैं है पद्मिनी समान॥ १॥

२—चित्रिणी

चित्रिणी विचित्र-प्रकृति, नृत्य-गान-रता, अल्प-लज्जाशीला और परिहास-प्रेमिका होती है।

दोहा—

गाइ बजाइ दिखाइ छबि भरति हिये मैं जोति।
चलि कबूतरी सी तिया नयन-पूतरी होति॥ १॥

३—शंखिनी

शंखिनी कृशांगी, निर्लज्ज और अभिमानिनी होती है।

दोहा—

अनख करति तनिकै चलति लजति न नेकौ बाल।
देखि निलजता आप ही सलज बनत हैं लाल॥ १॥

४—हस्तिनी

हस्तिनी स्थूल-शरीर, लोम-वती, गज-गामिनी, कोपन-स्वभावा, उद्धत-प्रकृति और कटुवादिनी होती है।

दोहा—

नख-सिख भारीपन-भरो रंग-रूप अ-ललाम।
नाहिँ काम हूँ ते सरत काम-भरी को काम॥ १॥

प्रकृति-संबंधी भेद

१—उत्तमा

उत्तम-स्वभावा धर्म - परायणा, उदार - हृदया, देश - समाज - प्रेमिका और अहितकारी होने पर भी पति का हितकारिणी स्त्री को उत्तमा कहते हैं।

पति-प्रेमिका

कवित्त—

सेवा ही मैं सास औ ससुर की सदैव रहै,
सौतिन सो नाँहिँ सपने हूँ मैं लरति है।
सील सुघराई त्यों सनेह-भरी सोहति है,
रोस रिस रार और क्यो हूँ ना ढरति है॥

'हरिऔध' सकल गुनागरी सती समान,
सूधे सूधे भायन सयानप तरति है।
परम-पुनीत पति-प्रीति मैं पगी ही रहै,
प्रानधन प्यारे पै निछावर करति है॥ १॥

सवैया—

बैन कहे करुये पिय के हरुये तिय बोलि सदा सनमानै।
दोस अनेकन देत तऊ कबहूँ अपने मन रोस न आनै।
ना करनी ही करै 'हरिऔध' पै बाल न नाकर-नूकर ठानै।
नाह के कीने गुनाहन हूँ तिय आपनो नेह निबाहन जानै॥२॥

सौतिन की तिरछौंही चितौन ते होवै नहीं तनकौ तलवेली।
काम की कीरति सी 'हरिऔध' लखे रुख रूखो न होत कटेली।
पी-अनुकूलता-बारि बिना हूँ सदा थल सीतलताहिँ सकेली।
या अलबेली हिये पलुहै पल ही पल प्रीति-प्रतीति की बेली॥३॥

आपनो अंग पतंग दहै पै न दीपक-जोति को भाव जनावै।
पीतम के सँग प्यार-पगी-पतिनी नहिँ पावक हूँ को सकावै।
प्रीति-पुनीत की ऐसियै रीति महीतल मैं 'हरिऔध' लखावै।
व्याकुल ह्वै कलपै मन-मीन बिना जल ना पलकौ कल पावै॥४॥

परिवार-प्रेमिका

कवित्त—

सुधा-सने बैन के बिधान मैं अबिधि है न
सहज-सनेह की न साधना अधूरी है।
सब ते सरस रहि सरसति सौगुनी है
भोरे-भोरे भावन ते भूरि भरी-पूरी है।

'हरिऔध' सौति के सुहाग ते सुहागिनी है
सास औ ससुर की सराहना ते रूरी है।
पति-पूत-प्यार मानसर की मरालिका है।
परिवार - पूत - प्रेम - पयद - मयूरी है ॥ १ ॥

वर - दार बनति कुदारता निवारति है
अनुदारता हू मै उदार दरसति है।
पर - पति - पूत को स्व-पति-पूत सम जानि
पावन - प्रतीति पूत - पग परसति है।
'हरिऔध' परिवार - हित नव - वीरुध पै
विहित - सनेह - वर - बारि वरसति है।
अनरस हूँ मैं रस - बात विसरति नाँहिं
रस - मयी - वाल रोस हूँ मैं सरसति है ॥ २ ॥

बानी के समान हस - वाहनी रहति वाल
नीर - छीर बिमल - विवेक वितरति है।
सती के समान सत धारि है सुखित होति
वामता मैं वामता ते रखति विरति है।
'हरिऔध' रमा सम रमति मनोरम मैं
भाव - अमनोरम ते लरति भिरति है।
पूत - प्रेम - पोत पै अपार - पूतता ते बैठि
परिवार - प्यार - पारावार मैं फिरति है ॥ ३ ॥

जाति-प्रेमिका

कवित्त—

सरसी समाज - सुख सरसिज-पुज की है
सुरुचि - सलिल की रुचिर - मफरी सी है।

नाना कुल-कालिमा-कलुख की कलिंदजा है
कल-करतूत-मंजु - मालिका लरी सी है।
'हरिऔध' बहु - भ्रम - भवर समूह भरी
सकल - कुरीति - सरि सवल - तरी सी है।
जाति - हित - पादप - जमात नव - जीवन है
जाति - जन - जीवन सजीवन-जरी सी है ॥१॥

भारतीय - भव - पूत - भावन - बिभूति पाइ
भाव - मयी अपने अभावन हरति है।
अवलोकि अवलोकनीय - बहु - वभव को
काल - अनुकूल अनूकूलता करति है॥
'हरिऔध' भारत को भुव - सिरमौर जानि
भावना मैं बिभु - सिरमौरता भरति है।
धारि धुर सुधरि समाज को सुधारति है
धीर धरि जाति को उधारि उधरति है ॥२॥

देश—प्रेमिका

कवित्त—

गौरवित सतत अतीत - गौरवों ते होति
गुरुजन - गुरुता है कहती कवूलती।
मुदित बनति अवनीतल मैं फैलि फैलि
कीरति की कलित - लता को देखि फूलती॥
'हरिऔध' प्रकृति - अलौकिकता अवलोकि
प्रेम के हिँडोरे पै है पुलकित झूलती।
भारत की भारती - बिभूति ते प्रभावित ह्वै
भामिनि भली है भारतीयता न भूलती ॥१॥

वारती नगर पर मजु - अमरावती कौ
नागर- निकर कौ पुरंदर है जानती।
धेनु कौ कहति कामधेनु सम काम - प्रद
कामिनी कौ सुर - कामिनी है अनुमानती।
'हरिऔध' भारत - अवनि - अनुराग - वती
विपिन कौ नंदन - विपिन है बखानती।
तरु कौ बतावति कलपतरु - कमनीय
मेरु कौ मनोरम सुमेरु ते है मानती ॥२॥

गौरव को गान सुने गौरव गहति बाल
पव-गुरुता ते गिरे गिरि ते गिरति है।
देस की सजीवता ते लहति सजीवता है
जीवन - विहीनता ते बढ़ति बिरति है।
'हरिऔध' भूति देखे बनति विभूति - वती
विपति के घेरे घोर - दुख ते घिरति है।
भारत के भूले गात - सुधि भूलि भूलि जाति
फूले फले फूली फूली ललना फिरति है ॥३॥

काति - मती बनति दिवसपति - कांति ते है
रंजित करति लोक - रंजिनी रजनि है।
सुधाधर-सुधा - सम - सलिल - सु-सिंचित है
वसुधा - विदित - रत्न - राजि-मजु-खनि है।
'हरिऔध' भाव-मयी-भामिनी-विभावना है
भुवन - विकास-भूति - भारति - जननि है।
भवन - प्रभूत - अनुभूत - सिद्धि-साधना है
भूतल की सार - भूत भारत - अवनि है ॥४॥

नयन मैं नयन - विमोहन - सुमन छवि
मन मैं बसति मधु - माधव - मधुरिमा।
कवि - कल - कंठता है विलसति कानन मैं,
आनन मैं अमित - महानन की महिमा।
'हरिऔध' धी मैं धमनीन मैं विराजति है
वसुधा - धवल - कर - कीरति - धवलिमा।
अंग अंग मैं है अनुराग - राग - अंगना के
रोम रोम मैं है रमी भारत की गरिमा ॥ ५ ॥

सुरसरि सम सनमानति सकल सरि
सारे सर मैं है मानसरता निहारती।
सुमनस - सुमन कहति सुमनावलि को
लतिका को कल्पलतिका है निरधारती।
'हरिऔध' अंगना भुवन मैं पुनीत मानि
भारत - अवनि की उतारति है आरती।
रजत निछावर करति रज - पुंजन पै
मंजुल - राजीव - राजि पै है राज वारती ॥ ६ ॥

पग ते गहति पग पग पै पुनीत - पथ
अमर - निकर काज कर ते करति है।
गाइ गाइ गुन - गन सुगुन - निकेतन के
मंजु - वर लहि वर - बिरद - वरति है।
'हरिऔध' मानस मैं भूरि - कमनीय - भाव
भारत की वंदनीय - भूति के भरति है।
सुर - धुनि - धार को परसि उधरति वाल
धरती की धूरि लै लै सिर पै धरति है ॥ ७ ॥

कहाँ है मधुर-साम-गान मुखरित - भूमि
बानी के विलास की कहाँ है पूत-पलिका।
कहाँ है सकल - रस - सरस - सरोज - पुंज
सुख - मूल - मानव - समाज-मजु अलिका।
'हरिऔध' भारत - बिभव - बर - बायु बल
विकच बनै न कैसे बाला - उर - कलिका।
प्रेम-सुधा विपुल - बिमुग्ध बसुधा में भरि
कहाँ पै बजी है महा - मोहिनी मुरलिका॥ ८॥

जन्मभूमि-प्रेमिका

कवित्त—

कनक - प्रसू है कमनीयता - निकेतन है
माननीयता - महि मदीयता की अवनी।
लोक - पति-लालित त्रिलोक-पति-लीला-थल
आलोकित - परम अलौकिकता - सजनी।
हरिऔध' कैसे बिरमै न बहु - मोद मानि
रमनीय - भाव मैं रमित - मन - रमनी।
जीवन - विधायिनी है प्रान धन - जीवन की
जननी - जनक की है जन्म - भूमि-जननी॥ १॥

कैसे सुर - सरि सुर करति असुर हूँ को
कासी क्यों बनति मुक्ति - मेदिनी-मनोहरा।
अरुचिर - दारु चारु - चंदन बनत कैसे
काँच - महि कैसे होति कंचन - कलेवरा।
'हरिऔध' कैसे मेल लहत मती सी सुता
सिता क्यों सुहाति है सुधारस - सहोदरा।

कैसे वसुधा को वसुधापन - विदित होत
जो न होति सिद्ध - भूमि भारत - बसुंधरा ॥२॥

चकित वनति हेरि उच्चता हिमाचल की
चाहि कनकाचल की चारुता - चरमता ।
मुदित करति निधि - मानता है नीरधि की
मानस - मनोहरता सुर - पुर की समता ।
'हरिऔध' मोहकता हेरि मोहि मोहि जाति
जनता - अमायिकता मैं है मन रमता ।
महनीय - महिमा निहारि महती है होति
ममतामयी की मातृमेदिनी की ममता ॥३॥

वेद - गान - गौरवित जननी गजानन की
पति की प्रसविनी कहति गज - गमनी ।
सेवति है सुर - सुरपति सेवनीय जानि
मानति है मानि दानवीय - दल - दमनी ।
'हरिऔध' पावनता भारत - अवनि पेखि
परम - पुनीत रस - पूत होति धमनी ।
मन मैं रमै न कैसे रमा - रमनीय - धाम
राम - जन्म - महि मैं रमै न कैसे रमनी ॥४॥

निजतानुरागिनी

कवित्त—

सास - असरसता अलसता वधू - जन की
अ-लसित - सकल - विलासिता सताती है ।
सुकुसुम - कोमल - कुमारन की काम - रुचि
कामिनि - अकमनीय - कामना कँपाती है ।

'हरिऔध' देखि देखि देस को पतनप्राय
परम - दुखित देस - प्रेमिका दिखाती है।
बालिका-विवाह-बिधि बिविध-बिथा है देति
विधवा-बिवाह की अ-बिधि बेधि जाति है ॥१॥

बसन - विदेसी की बसनता बिसरि सारी
बिबस बनेहूँ देसी -बसन बिसाहै है।
समता - बिचार मैं असमता - बिपुल देखि
पति - प्रीति - ममता को परखि उमाहै है॥
'हरिऔध' परकीयता को परकीय जानि
सकल - स्वकीयता को सतत सराहै है।
भारत की पूजनीयता को पूजनीय मानि
भारतीय - बाला भारतीयता निबाहै है॥२॥

सुंदर - सिंदूर - बिंदु ही ते सुंदरी है होति
पौडर कौ समझि असुंदर डरति है।
सोंधे के सु - बास ते सुबासित रहति भूरि
साबुन के परसे उसासन भरति है।
'हरिऔध' पर के असन कौ असनि कहै
आपने बसन बेस कौ न बिसरति है
सारी-असँवारी हूँ पहिरि पुलकति प्यारी
साया परे साया के सवाया सिहरति है॥३॥

लोक-सेविका

कवित्त—

बनत कुलीन अकुलीन के करत काम
कुल कौ कलंकित कुलीनता करावे है।

विधवा - विलाप ते विकल बसुधा है होति
विबुध - समाज कौ विबुधता न भावै है।
'हरिऔध' लोक - सेविका कौ कल कैसे परै
काल की करालता न काहि कलपावै है।
लोने - लोने - लालन मैं लहति लुनाई नाहि
लालना - ललाम मैं ललामता न पावै है ॥१॥

कल - कानि - कलित-कुलीन खग-कुल कौंहिं
बाल है बचावति कलेस - लेस - लासा ते।
विदलित - मानव को दलन निवारति है
दलति रहति दिल - दहल दिलासा ते।
'हरिऔध' दुख अनुभवति दुखित देखि
जीतति है दाँव भाव-पूत-प्रेम - पासा - ते।
उपवास करति बिलोकि उपवासित को
बनति पिपासित पिपासित - पिपासा - ते ॥२॥

रूखी - रूखी - बातन ते रुख बदलति नाहिं
रूखो ना परति है रुखाई देखि रूखे की।
खोवति न साख सीख देति है सखीन हूँ कौ
सुखी ना रहति सूखी नसै देखि सूखे की।
'हरिऔध' खूखापन काहि अखरत नाहि
खूखी है बनति मूठी बात सुनि खूखे की।
दुखित को करि कै अदूखित सुखित होति
भूखित न होति बाल भूख देखि भूखे की ॥३॥

सेवा सेवनीय की करति सेविका समान
सेवन औ सेवनीयता ते सँवरति है।

सधवा को सोधि सोधि सोधति सुधारति है
विधवा को बोधि बोधि बुधता बरति है।
'हरिऔध' धोवति कलंकिनी-कलंक-अंक
बंक-मति-बंकता असकता हरति है।
आनंदित होति करि आदर अनिंदित कौ
निंदित की निंदनीयता को निदरति है ॥४॥

मोद मानि मंद-जन-मंदता निवारति है
मानदै अमंद को है मंद मंद बिहँसति।
बरसत नेह-बारि मानस-बिरस मॉहिं
असरस-चित को सरस करि सरसति।
'हरिऔध' बिकच-बदन अवलोकि बाल
विकसित-कुसुम-समान बहु बिकसति।
रहति सु-वासित सु-कीरति-सुवास ते है
विमल-विलास ते विलासिनी है विलसति ॥५॥

धर्म-प्रेमिका

कवित्त—

भजनीय-प्रभु के भजन किये भाव-साथ
यजनीय-जन के यजन काज तरसे।
लोक अवलोकि परलोक-साधना में लगे
बचे लोभ-मूल-लोक-लालसा-लहर से।
'हरिऔध' परम-पुनीत अंगना है होति
बार बार नैनन ते प्रेम-वारि बरसे।
धरमधुरीन की सहज-धारना के धरे
पग-धूरि धरम-धुरंधर की परसे ॥१॥

लालसा रखति है ललित - रुचि लालन की
लोक - हित खेत को लुनाई ते लुनति है।
रुचिर - विचार - उपवन में विचरि चाल
चावन के सुमन - सुहावन चुनति है।
'हरिऔध' आठौ - याम-परम-अकाम रहि
भुवनाभिराम - राम - गुनन गुनति है।
सुर-लीन - मानस - निकुंज माहिँ प्रेम-रली
मुरली - मनोहर को मुरली सुनति है ॥ २ ॥

भाल पै भलाई की बिभूति - भल बिलसति
नीकी - नीति निवसति नयन - निकाई में।
रसना सरस है रहति राम - रस चाखि
लसति विमलता है लोचन - लुनाई में।
'हरिऔध' गरिमा ललित - गति में है लसी
गुरुता विराजति है गात की गोराई में।
लोक-हित-कामना सकल - काम में है कसी
कमनीयता है बसी कामिनी - कमाई में ॥ ३ ॥

२—मध्यमा

प्रियतम-दोष-दर्शिनी, किंचित्कोपन-स्वभावा, व्यंग-विदग्धा, मर्म्म-पीड़िता, स्नेहशीला किंतु शंकिता स्त्री को मध्यमा कहते हैं।

व्यंग-विदग्धा

कवित्त—

भौंह की हरत कमनीयता कमान कहि
लोचन लजत बान - उपमान लहि कै।
काको नाहिँ पीर होति कीर नासिका कौ कहे
बिंबाधर - समता - विषमता बेसहि कै।

'हरिऔध' कैसी कांत-कल्पना है कामुक की
कुच कौ कहत करि-कर है उमहि कै।
करत कलंकित मयंक-मुखी बतराइ
आकुल करत अहि काकुल कौ कहि कै॥ १॥

मोल लोल-लोचन को हरत ममोला कहि
अधर-सुधाधर मैं बिंबता लहत है।
अमल-कपोल को बतावत मधूक सम
कल-कंठ कोँहिँ कंबु कहि कै दहत है।
'हरिऔध' न्यारी मंजु-मानस की मंजुता है
सुंदर को करत असुंदर रहत है।
बनज बनावत बदन-बिधु-रंजन कौ
खंजन स अंजन-नयन कौ कहत है॥ २॥

चाव है पै चाव मैं अभाव तिय-भाव को है
पूत-प्रेम-व्यंजन-विहीन रुचि-थाली है।
तन-सु-सदन स्वामी सहज-सरस है न
ममता-रहित मन-उपवन-माली है।
'हरिऔध' लालन को ललना बिलोकि चुकी
कर मैं न लसति ललित नीति-ताली है।
नाहिँ है सलोनोपन मिलत सलोने माहिँ
लोने-लोने-लोयन मैं नेह की न लाली है॥ ३॥

मर्म-पीडिता

कवित्त—

बिधुर-बिवाह पै बिवाह क्यों करत जात
बिधवा क्यों बिधवा सदैव रहि हहरति।

जन क्यो कुजनता किये हूँ ना कुजात होत
जनि जनि लाल है जननि काहे थहराति।
'हरिऔध' काहे अहै अवनि - अनीति-मयी
काहे नाहि यामै है सुनीति - लता लहराति।
नर की ललामता क्यों लसति अलीन माहि
नारि-छवि काहे है छलीन माँहि छहराति ॥ १ ॥

नर जो पढ़त सो नरोतम बनत काहे
काहे सो कु - नारि होति नारि जो पढ़ति है।
पिय जू के पाप काहे पापहूँ न माने जाहि
काहे नेक चूके तिय आँखि पै चढ़ति है।
'हरिऔध' घूमि गये सकल - वसुंधरा मैं
काहे घरचारन की कीरति बढ़ति है।
काहे तो उघरि जात वाको लाज-चादर है
घरनी जो घरहूँ ते बाहर कढ़ति है ॥ २ ॥

प्यारो जो न कैहै कछू उपचार प्यार को तो
प्यारी कौ लौं प्यार कै कै प्यार को उभारिहै।
प्रिय जो प्रतीति की प्रतीति उपजैहै नाहि
तिय तो प्रतीति-पथ कौ लौं निरधारिहै।
'हरिऔध' कैसे नातो ललना-बिगार ह्वैहै
बात बात मैं जो बात लालन बिगारिहै।
कोऊ पति-वारी तो कहाँ लौं पति-मान कैहै
कोऊ पति पतिनी की पति जो उतारिहै ॥ ३ ॥

सवैया —
आदर आये करै अति ही बतियाँ हूँ सुधा सों भरी मुख भाखै।
बान सनेह बिगोवै नहीं कबौं सील हूँ ना अँखियान की नाखै।

दोस दै रोस किये 'हरिऔध' के नेकहूँ ना अपने मन माखै।
पै परतीन के प्रेम - पगे - पति को पतिनी परतीति न राखै ॥ ४ ॥

३—अधमा

पति की अहितकारिणी, उद्धत-स्वभावा और कर्कशा स्त्री को अधमा कहते हैं।

कवित्त—

रूप है तो कहा कोऊ और रूपवारो नाहिं
रखत रसालता न वनत रसीले है।
वनक वनाइ इतरात वात वात मैं हैं
रंग विगरे हूं वने रहत रँगीले हैं।
'हरिऔध' नारि कहा छगुनी छवीली नाहिं
छिति माहिं वेई नही छयल छवीले है।
गोरी - गोरी - ललना गरे परि न भोरी वनैं
गोरे - गोरे - मरद - निगोरे गरबीले हैं ॥ १ ॥

नैनन के वान साँचे वान ही वनैंगे अव
कामिनी के पास वाँकी-भौंहन की असि है।
वरसि वचन गोले विवस वनैहै महा
कसक निकासि भुज - पासन सो कसिहै।
'हरिऔध' रखहिं अकस न अकस - वारे
ना तो कोऊ सुवस वसैहू नाहिं वसिहै।
केहरि सी लक - वारी हरि है कलक - अंक
नागिनि अलक-वारी नागिनि सी डँसिहै ॥ २ ॥

आन-वान-वारो आन-वान दिखराइहै तो
कैसे ना कमान को कमान-वारी सजिहै।
नैनन के अवु मैं जो अवुता न साँची पैहै
कवु तो न कैसे कवुता दिखाइ वजिहै।

'हरिऔध' कामिन की कनक सनक-सारी
कनक-लतान की कनकता ते भजिहै।
चंचरीक-रुचि छोरिहै न चंचरीकता तो
चंपकता चंपक-बरनि कैसे तजिहै ॥३॥

चंचल-चखन-वारी चंचल न कैहै काहि
भोरी भीरु भूरि-धूरि ऑखिन मैं भरिहै।
फंदे सी अलक-वारी फंद मॉहिं पारि दैहै
छैलन को फूल की छरी सी नारि छरिहै।
'हरिऔध' हारे हार मानिहै न हार-वारी
दुलही-दुलार-वारी दूलह सो लरिहै।
कलही नकारे गोरे-गोरे-गाल-वीर सुनें
लाल मुँह लाल लाल गाल-वारी करिहै ॥४॥

धर्म-संबंधी भेद

स्वकीया

विनय-शीला, सरल-स्वभावा, गृह-कर्म-परायणा और पति-रता स्त्री को स्वकीया कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

पावन-पुनीत-गूढ़-गुन-मन-भावन के
चावन सहित एरी रसना उचारि लै।
दान सनमान मैं तिलोक मैं न ऐसो आन
मेरी कही मान यहै मन निरधारि लै।
सकल-अलौकिकता एक 'हरिऔध' ही मैं
तू हू उर वार वार बिलखि विचारि लै।

प्यारे प्यारे-मुख पै सँवारे - कारे - केसन कौ
एरे मेरे नेह - वारे नैनन निहारि लै ॥१॥

सवैया—

कामिनी के कल - बैन सुने नहीं कानन हूँ करी कोटि - कला है।
प्रीतम - प्रीति - प्रतीति मैं बाल सनेह - वती-सिय लौं सबला है।
ही 'हरिऔध' मयी अँखियान विराजत एक ही नंदलला है।
भाग-भरी त्यों सुहाग - भरी अनुराग - भरी नवला - अबला है ॥२॥

स्वकीया के भेद

अवस्था के अनुसार स्वकीया के निम्नलिखित तीन भेद हैं—
१—मुग्धा २—मध्या और ३—पौढ़ा।

१—मुग्धा

समधिक-लज्जावती, काम-चेष्टा रहित अंकुरित-यौवना को मुग्धा कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

वयन सुधा मैं सनि - सनि सरसन लागे,
कान परसन लागे नयन नवेली के।
आँगुरी की पोरन मैं लालिमा दिपन लागी,
गुन गरुआन लागे गरब गहेली के।
'हरिऔध' हेरि हेरि हियरो हरन लागी,
चाहि चितवन लागी कोरक चमेली के।
मंजु छवि छिति - तल पर छहरान लागी,
छूअन छवान लागे केस अलवेली के ॥१॥

कर पग जल - जात सरिस भये हैं मंजु
गति मैं भई है सोभा सरस - नदन की।

आनन अमंद - चंद सरिस दिपन लाग्यो
जाहि सो जगी है जोति अतन - मदन की ।
'हरिऔध' यौवन सरद की समैया पाइ
कुंद की कली लौं भई पाँति है रदन की ।
चंचलता आँखिन बसी है खंजरीट जैसी
चाँदनी - सी फैली चारु चाँदनी बदन की ॥२॥

सवैया—

पीन भये कुच कामिनी के दोऊ केहरि सी कटि खीन भई है ।
वंकता भौंहन माहिं ठई मुख पै नव जोति - कला उनई है ।
जोबन अंग दिप्यो 'हरिऔध' गये गुन हूँ अब आय कई हैं ।
केस लगे छहरान छवान छ्वै कानन लौं अखियान गई हैं ॥३॥

मुग्धा के भेद

ज्ञान के अनुसार मुग्धा के दो भेद हैं—१-अज्ञातयौवना और २-ज्ञातयौवना ।

अज्ञातयौवना

जिस मुग्धा को अपने यौवन के आगमन का ज्ञान नहीं है, उसे अज्ञात-यौवना कहते हैं ।

उदाहरण

सवैया—

ऊबि गई हौं बतावै कहा नहीं क्यों हँसिमौन की बान गही है ।
घेरत है 'हरिऔध' कहा हमैं नूतनता हम कौन लही है ।
ए बजमारे न टारे टरैं कहा औरन की इनैं पीर नहीं है ।
ठौर न भौंरन को है कहूँ किधौं भौंरन की मति भूलि रही है ॥१॥

ज्ञातयौवना

जिस मुग्धा को अपने अंकुरितयौवना होने का ज्ञान होता है उसे ज्ञात-यौवना कहते हैं ।

सवैया—

चचलता ही न आनि ठनी कछु होन लगी अँखियान सों चूको ।
वीर वनाव-सिंगार हूँ मैं अनुराग भयो सो लखात वधू को ।
पी 'हरिऔध' को वात चैते पगि लाज मैं लागी विलोकन भू को ।
चोज सो ऊँचे उरोजन हेरि लखै लगी रोज सरोजन हूँ को ॥१॥

ज्ञातयौवना के भेद

ज्ञातयौवना के दो भेद हैं—१-नवोढ़ा और २-विश्रब्धनवोढ़ा ।

नवोढ़ा

लज्जा और भय के आधिक्य से जो पति का संसर्ग नहीं चाहती, वह नायिका नवोढ़ा कहलाती है ।

उदाहरण

दोहा —

इत उत दौरि दुरति रहति दूरहि ते बतराति ।
पिय तन-छाँह बनन चहत तिय लखि छाँह सकाति ॥१॥

बरवा—

करि चतुरैया चाहत पकरन बाँह ।
छ्वै नहिं सकत छयलवा पै तन-छाँह ॥२॥

विश्रब्धनवोढ़ा

रति में अल्प अनुराग और पति में कुछ विश्वास जिसे हो जाता है उस नायिका को विश्रब्धनवोढ़ा कहते हैं ।

उदाहरण

सवैया—

प्रीतम को गुन जानै नहीं तबहूँ सुनि नाम लजान लगी है ।
कानन को 'हरिऔध' कही रस की बतिया हुँ सुहान लगी है ।

राखति काम को चाव नहीं तऊ काज की ऐसी सु-बान लगी है।
संक समेत मयंक - मुखी पिय - मंजुल अंक मै जान लगी है॥ १॥

दोहा—

चौंकति चकित बनति बिहँसि बितरति बहु आनंद।
चंद-मुखी अब चाव सो चितवति पिय-मुख-चंद॥ २॥

२—मध्या

जिस नायिका में लज्जा और काम-वासना समान होती है उसको मध्या कहते हैं। यह दशा सूक्ष्म और अचिरस्थायिनी होती है।

उदाहरण

सवैया—

बैठी हुती सखियान मैं बाल बड़ी अँखियान मैं अंजन लाइकै।
चारु - कपोलन पै छिटकी अलकै छवि देत हुतीं छहराइकै।
बात-रसीली सुनाइ रसे 'हरिऔध' हँसे इतनेहि मैं आइकै।
नार नवाइ सकाइ रही मुसकाइ रही दृग मोरि लजाइकै॥ १॥

दोहा—

रहि रहि उमगत रहत उर सकुच ताहि गहि लेति।
तिय चाहति पिय सों मिलन लाज मिलन नहिं देति॥ २॥

३—प्रौढ़ा

संपूर्ण काम-कला में निपुण किंचित् लज्जावती नायिका को प्रौढ़ा कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

कंचुकी छोरि कसे कुच की मुकतान के मंजु - हरान उतारी।
दूरि कै दोऊ - भुजान के भूखन मंजु - मनोहर बैन उचारी।

अक असंक भरे 'हरिऔध' की रीति गहे रति की अति प्यारी।
काम-कलोल मैं काल बितावति बाल - बिलोल-बिलोचन-वारी ॥ १ ॥

दोहा—

कबहू कबहूँ कामिनी रखति लाज सो काज।
तन मैं मन मैं नयन मैं अतन बिराजत आज ॥ २ ॥

प्रौढ़ा के भेद

प्रौढा के दो भेद हैं—१ रतिप्रीता २-आनंदसमोहिता।

रतिप्रीता

जिसको रति से अधिक प्रीति होती है उसे रतिप्रीता कहते हैं।

दोहा—

अरे उमग परे रहहु कहाँ भयो पिय भोर।
है तमचुर को रव नहीं बोलत तम मैं चोर ॥ १ ॥

आनंदसंमोहिता

रति-सुख-जानित आनंद से मोहित नायिका को आनदसमोहिता कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

नाना केलिकला करति लहे लाल सुख - कंद।
रोम रोम मैं भरि वहत वाको उर - आनंद ॥ १ ॥
अगराग आनद को अंग अंग मैं पोति।
रस - बस ह्वैहै कामिनी काम-कामिनी होति ॥ २ ॥

मध्या और प्रौढ़ा के भेद

मान-भेद के अनुसार मध्या और प्रौढा के तीन भेद होते हैं, अर्थात्—
१-धीरा, २ अधीरा, ३ धीराधीरा।

१—धीरा

नारी-विलाससूचक चिह्नों को देख कर धैर्य के साथ सादर कोप प्रकाश करनेवाली नायिका को धीरा कहते हैं, उसके दो भेद हैं—मध्याधीरा और प्रौढ़ाधीरा ।

मध्याधीरा

सादर व्यंग वचन द्वारा रोष प्रकट करनेवाली मध्याधीरा कहलाती है ।

उदाहरण

कवित्त—

मिलि मिलि मोद-वारी मुकुलित मल्लिका सों
कुंज कुंज क्यारिन कलोल करि फूले हो ।
पान कै प्रकाम - रस आम - मंजरीनहूँ के
उर - अभिराम को अराम उनमूले हो ।
'हरिऔध' ठौर ठौर भौंरि झुकि झूमि झूमि
चूमि चूमि कंज की कलीन को कबूले हो ।
तजि महमही-मंजु - मालती - चमेलिन को
कौन भ्रम वेलिन भँवर आज भूले हो ॥ १ ॥

सवैया—

चौगुनी चंचलता हुँ किये हमैं चाव ही सों चुप ह्वै रहनो है ।
औगुन की बतियानहूँ मैं 'हरिऔध' सदा गुन ही गहनो है ।
भाव तिहारे भलेई अहैं हमैं भूलि न और कछू कहनो है ।
फेरी करौ कै करो जिनि तेरी सरोजिनि को सब ही सहनो है ॥२॥

प्रौढ़ाधीरा

प्रकट में मान का कोई भाव न दिखलाकर संयोग-समय उदासीनता ग्रहण करनेवाली नायिका प्रौढ़ाधीरा कहलाती है ।

उदाहरण

सवैया—

आवत ही विकसौंहैं मिली अलसौं हैं बिलोकि नहीं बदल्यो रुख।
बैन हरे हरे बोलि सुधा-सने वैसेहीं बाल दियो पिय को सुख।
पै रचे केलि-क्रिया 'हरिऔध' के दाबि सकी नहीं अंतर के दुख।
छोरन देत न कंचुकी के बँद जोरन देत नहीं मुख सों मुख॥ १॥

२—धीराधीरा

नारी-विलास-सूचक चिन्हों को देखकर कुछ गुप्त और कुछ प्रकट कोप दिखलानेवाली नायिका धीराधीरा कहलाती है। इसके भी दो भेद हैं—मध्या धीराधीरा और प्रौढ़ा धीराधीरा।

मध्या धीराधीरा

रोदन-सहित व्यंग वचन कहनेवाली नायिका धीराधीरा कहलाती है।

उदाहरण

सवैया—

भोर भये पै पधारे कहा भयो मेरी सदा सुख ही की घरी है।
खरी कछू 'हरिऔध' करैं हमैं तो उनकी परतीति खरी है।
बूझि विचारि कहै किन बावरी बीच ही मैं कत जाति मरी है।
साँवरे प्रेम पसीजि परी नहिं मो अँखियाँ अँसुआन भरी है॥ १॥

दोहा—

ए उमड़े अँसुआ नहीं कत कीजै सखि माख।
अरी सनेह-भरी लसै यह तिल-वारी आँख॥ २॥

प्रौढ़ा धीराधीरा

मान करके तर्जन-गर्जन-पूर्वक व्यंग-वचन बाण द्वारा पति को विद्ध करनेवाली नायिका को प्रौढ़ा धीराधीरा कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

वतियान वनाये नहीं वनिहै ढिग आवो नहीं खरे दूर रहो।
अपने मनही की करी तो करी कत काहु के वैन अनैसे सहो।
'हरिऔध' तुमैं हम जानती हैं हकनाहक ही हमको न दहो।
चले जाहु गुनाह भई तो भई तुम नाह न बॉह हमारी गहो॥ १॥

३—अधीरा

नारी-विलास-सूचक चिह्नों को देख अधीर हो प्रत्यक्ष रोष करनेवाली स्त्री को अधीरा कहते हैं। उसके दो भेद हैं—मध्या अधीरा और प्रौढ़ा अधीरा।

मध्या अधीरा

रुष्ट होकर कटु भाषण करनेवाली नायिका को मध्या अधीरा कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

नीकी नई निपुनाई करी अँखियान को लागति है अति प्यारी।
भोर ही भाग सों भाव-भरी यह आज भली करतूति निहारी।
रीझि रही तजि खीझि सबै 'हरिऔध' छकी मति हेरि हमारी।
कौन सी वाल है लाल कहो यह माल विना गुन गूँधनवारी॥ १॥

प्रौढ़ा अधीरा

मान करके तर्जन-ताड़न द्वारा कंपित हो हो रोष प्रकट करनेवाली नायिका को प्रौढ़ा अधीरा कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

रोस कै कॉपति क्यों इतनी भला काहु को यों पत कोऊ उतारै।
कौन सी चूक है ऐसी परी मुख जो अजौं तू अपनो न सम्हारै।

ऐसी न लालिमा है अँखियान की जो 'हरिऔध' पै आँखि न पारै।
सूल सी सालति ऐसियै भूल अरी पिय को मति फूल सों मारै ॥ १ ॥

स्वभाव-संबंधी भेद

नायिका के स्वभाव-संबंधी तीन भेद बतलाये गये हैं—१-अन्यसुरतिदुःखिता २-वक्रोक्तिगर्विता और ३-मानवती। यह भेद मध्या और प्रौढ़ा ही में माना गया है। परकीया और सामान्या में भी गृहीत हो सकता है।

अन्यसुरतिदुःखिता

अन्य स्त्री के शरीर पर प्रिय-संभोग चिह्न देखकर दुःख प्रकाश करनेवाली नायिका अन्यसुरतिदुःखिता कहलाती है।

उदाहरण

कवित्त—

पान-वारे - ओठन की लालिमाहूँ लूटी गई
गारत भयो है रंग गोरे - गोरे - गाल को।
आली तेरे आनन को ओपहूँ परानो कहूँ,
मरदि गयो है मान तेरी मंजु - चाल को।
'हरिऔध' सारे - अंग सेद मैं रहे हैं डूबि
ऊबि ऊबि साँसैं भरैं भाखत न हाल को।
एरी रूप - वारी कौने तोपै बटपारी करी
एरी वारी भोरी कौने लूट्यो तेरे माल को ॥१॥

दोहा—

परम निठुर पै जात ही भयो कहा तोहि बीर।
कंत तू परि परि गई उठी कौन सी पीर ॥२॥
कंत हौं पठई कंत गई तू वापै करि प्यार।
अरी रीझि कैसे गयो ता पै मो रिझवार ॥३॥

तू बड़भागिनि ह्वै गई भयो भाग मो मंद।
अरी चंद - वदनी बनेउ कत फीको मुख-चंद ॥ ४ ॥

वक्रोक्तिगर्विता

वक्रोक्तिगर्विता के दो भेद हैं—रूपगर्विता और प्रेमगर्विता।

रूपगर्विता

रूप का गर्व रखनेवाली नायिका रूपगर्विता कहलाती है।

उदाहरण

कवित्त—

छोरि छोरि आम की रसीली मंजरीन काँहि
निकसि गुलाब के प्रसून रस - वारे से।
गुंजरत - याही ओर देखु यह आवत है
अति - कमनीय कंज - बन के किनारे से।
'हरिऔध' की सौं आइ अबहीं मचैहै धूम
गूँजि गूँजि आनन - सुवास के सहारे से।
भूलि अब भौन ते न बाहर कढ़ौगी कबौं
ऊबि गई एरी या मलिंद मतवारे से ॥ १ ॥

सवैया—

पकज चंद लखे सकुचै मुख सौंहैं मयंक हूँ लाज गही है।
मोहकता मम आनन लौं अजहूँ जलजातन नाहिं लही है।
गोल-कपोल विलोचन-लोल-सरोजन मैं 'हरिऔध' नहीं है।
एते बिभेद भयेहूँ कहा इन भौंरन की मति भूलि रही है ॥ २ ॥

दोहा—

क्यों हूँ सहि लीनी कहे कुंद - कली लौं दंत।
मो मुख कहे मयंक सम होत कलंकित कंत ॥ ३ ॥

बरवा—

रजनीपति - छबि अँखिया निरखि लजाय।
कैसे मोर छयलवा रहत लुभाय ॥ ४ ॥

प्रेमगर्विता

पति-प्रेम का गर्व रखनेवाली स्त्री प्रेमगर्विता कहलाती है।

उदाहरण

कवित्त—

साजि साजि बीरी पानदान भरि राखै
खासे खासदानहूँ मैं लाइ अतर धर्‌यो करै।
मानत न लै लै साज साजत रहत सेज
तानत वितान जाते सुमन झर्‌यो करै।
'हरिऔध' भूखन हूँ सकल सजाइ
मद - मंद बतराइ मोद मन मैं भर्‌यो करै।
चहल - पहल परिचारिकान हूँ के रहे
महल हमारे मजु टहल कर्‌यो करै ॥ १ ॥

विमुख मयूख ते ह्वै ऊवि ऊख-रस हूँ ते
अधर - पियूख ही को परकि पियो करै।
आन न विलोकै हेरि आनन - मनोहर को
तानन सुनाइ मोहि प्रानन लियो करै।
'हरिऔध' कारी सटकारी तमतोमवारी
जोहि जोहि जोमवारी जुलफैं जियो करै।
प्यारे - प्यारे - मन - वारे मोहित - करनहारे
सौतुक हमारे केते कौतुक कियो करै ॥ २ ॥

मानवती

प्रिय का अपराध सूचित करनेवाली चेष्टा जिस स्त्री में पाई जाती है उसे मानवती कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

किती कामिनीन वारे रसिक कलानिधी सो
कालिमा लगी ना कबौ कौमुदी-कहानी मैं।
मदमाते भृंगन सो माखै मालती हूँ नाहिं
भाखै ना मसूसि रूसि मरी मुरझानी मैं।
'हरिऔध' की सौं कही मानु एरी मानवारी
बतियाँ न मान की हैं तनकी निसानी मैं।
करत गुमान तू तो कैसे रैहै अरमान
मान तू करत तो करत मनमानी मैं ॥१॥

सवैया—

कछु मोसों भई तकसीर नहीं हठ कै हकनाहक तू न अरै।
'हरिऔध' है सूधो सदा को कहा करि कै छल छंदन ताको छरै।
मन मानै हमारो कही कबहूँ पै मया कै न मोसों मिजाज करै।
यह कैसी कुबानि तिहारी परी जो घरी-घरी तासों तनेनी परै ॥२॥

ज्येष्ठा-कनिष्ठा

कतिपय विवाहिता स्त्रियों में पति को जो सबसे अधिक प्यारी हो उसको ज्येष्ठा और अन्य स्त्रियों को कनिष्ठा कहते हैं।

दोहा—

पिय जिय राजी भो उठी सजी सौति-उर पीर।
भँजी रही कब की जो यो बजी मंजु-मंजीर ॥१॥

कवित्त—

सुंदर सुहाग की सराहना न मोते होति
तेरे मंजु भागहूँ की गरिमा अथोर है।

भोरे भोरे भाव हैं अभाव-हारी 'हरिऔध'
चरचा तिहारे चावहूँ की चहुँ ओर है।
आलय मैं केती आला-आला-अलवेली अहैं
तिहारे निरालापन ही को तऊ सोर है।
प्रीतम बँध्यो है प्यारी तेरे प्रेम डोर ही में
तेरी नैन - कोर ही मैं मैन की मरोर है ॥२॥

परकीया

जो स्त्री गुप्त रूप से परपुरुष की अनुरागनी होती है उसे परकीया कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—
चहूँ ओर चरचा चवाइन चलायो आनि
पायन परी है खरी-वेरी लोक लाज की।
गुरु-जन हूँ की भीर तरजन लागी, परी
वरजन ही की वानि आलिन-समाज की।
हाय ! 'हरिऔध' हूँ से अपने पराये भये
सूझति न मोको कोऊ सूरति इलाज की।
कढति न क्यों हूँ रोम - रोम में समाई वह
सूरति - सलोनी - मनभाई व्रज - राज की ॥१॥

आँसुन मैं डूबि डूबि जावैं टक लावैं नाहिं
ऊवि अकुलावैं जो पै धीरज वँधाइये।
'हरिऔध' छवि पै छकहिं छलकहिं छूटि
छूटि ललकहिं जो पै छनक न लाइये।
थिर ना रहहिं लोक-लाजहिं वहहिं भूलि
सौंहैं ना लखहिं जो पै पलटि लखाइये।
कवहूँ जो रोचन - तिलक - वारे - साँवरे पे
छोरिकै सकोचन ए लोचन लगाइये ॥२॥

सवैया—

दुख आपनो कासों कहौं सजनी सदा साथ लगी तो उपाधै रही।
सबकी सब भाँति रही सहतै तबहूँ रुचि तो पल आधै रही।
कब प्यार कियो कपटी 'हरिऔध' लगी नित ही यह व्याधै रही।
मुखबोलन को हौं सदा तरसी जिय सूधि चितौन की साधै रही ॥३॥

कान ए का न करैं फिर क्यों सुनि तानन हीं इन बानि बिगारी।
मोहि गयो मन-मोहन पै तो भई तबहूँ मन सों मन-वारी।
पै हमें बूझि परि ना अजौं 'हरिऔध' की सौं बतिया यह न्यारी।
बावरी कैसे रँगी रँग लाल में मो अँखियान की पूतरी-कारी ॥४॥

कल कानि रमी करि कौन कला ललना-कुल आकुल-आनन मैं।
'हरिऔध' नयो रस काने भर्‌यो रसिया के अलौकिक-गानन मैं।
किन नाई सुधा बसुधा-तल की मुरली की मनोहर-तानन मैं।
अलि मोहनी आनि कहाँ ते बसी मनमोहन मोहन-आनन मैं ॥५॥

दुख-बारि बिमोचत नैन रहैं अहै चैन न मैन के बानन मैं।
पथ-प्रेम कौ छेम भरो है नहीं अहै नेम न नेह-निदानन मैं।
'हरिऔध' है योग वियोग-सनो अहै छोह नहीं छविमानन मैं।
चतुराइन की चरचा है कहा अहै चूक भरी चतुरानन मैं ॥६॥

दोहा—

हिलि-मिलि वे चलि जात हैं ए दृग रहहिं बिसूरि।
नैननहूँ को देखियत नैनन पारत धूरि ॥ ७ ॥
मो नैनन बेलमाइ ए नैन करहिं उतपात।
का अजगुत की बात जो जाति जाति मिली जात ॥ ८ ॥
चाह-भरी-अँखियान ते हम चितवत तुव ओर।
पै न चूकि चितयो कबौं तू एरे चित-चोर ॥ ९ ॥

बिकत बिपुल-आकुल रहत वहँकत बनत अयान।
वसी-तानन कान सुनि नयन निरखि मुसुकान ॥ १० ॥
लौटावत लूटी परी लौटि लपेटे भाग।
लटपटात लोयन गये वॅधे लटपटी पाग ॥ ११ ॥

बरवा—

झलही मोर ननदिया वरवस आय।
वोलति वोल विरहिया जिउ जरि जाय ॥१२॥
खान पान सुधि भूलि गयहु अपान।
टप टप टपकत अँसुआ दोउ अँखियान ॥१३॥
विसरति नाहिं सनेहिया तजत न आन।
जल विन तलफि मछरिया त्यागत प्रान ॥१४॥
वढ़ति जाति विकलैया निसि न सिराति।
दिन दिन सजनी देहिया छीजति जाति ॥१५॥

परकीया के भेद

परकीया नायिका के दो भेद हैं—ऊढ़ा और अनूढ़ा। इन दोनों के भी दो-दो भेद हैं—उद्बुद्धा और उद्बोधिता।

ऊढ़ा

जो विवाहिता स्त्री गुप्त रीति से दूसरे से प्रीति करती है उसे ऊढ़ा कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

विलोकेहू विपुल विहाल ना गहैं विराम
वान सखियान की परी है वरजन की।
तोखैं ना तनिक तात तमकि तनेने होंहिं
वात हित नात की है काँत तरजन की।

एरी बीर 'हरिऔध' निटप अधीर कियो
पीर उर आनत न लाख लरजन की।
भोरी बनी बिपुल बिथोरी बिस बोरी बनी
जरो री निगोरी ऐसी लाज गुरजन की ॥ १ ॥

वारि के भरेहूँ तोख लहत न कैसहूँ हैं
हँसिबो न जानै ऐसी महत - उदासी हैं।
लोक-लाजहूँ ते काज राखत कछू ना क्यौं
गाज के परे हूँ तेरी पूरन - उपासी हैं।
'हरिऔध' औरन की चाह सपने हूँ नाहिं
तेरे प्रेम - बूँद ही की अनुदित आसी हैं।
उघरी ए अँखियाँ हमारी ऐन - चातकी सी
एरे घनस्याम तेरे रूप - रस प्यासी हैं ॥ २ ॥

सवैया—

बावरो सो मन मेरो भयो रहै भूलि न भावत भौन बसेरो।
पीर सी होति रहै हियरे दुख पावत पातकी - प्रान घनेरो।
क्यों हूँ नहीं 'हरिऔध' कहूँ लगै ऊबत है जियरो बहुतेरो।
एरी न जानत मो पै कहा कियो पीतम मेरी परोसिनी केरो ॥३॥

बीर अधीर भई तो कहा परी पीर भरी छतिया अब चाँपनी।
प्रीति रती न जा 'हरिऔध' मैं ताकी प्रतीति करी बनी पापिनी।
या अपकीरति की बतिया निज हाथन मोहिँ परी सखि थापनी।
मो पतिआन पै गाज परै पति - आन के हाथ गई पति आपनी ॥४॥

अनूढ़ा

जो अविवाहिता स्त्री पुरुष से गुप्त प्रीति करती है उसे अनूढ़ा कहते हैं।

कवित्त—

सकुचित भौंहैं करि सोचति कछू है कबौं
कंटकित गात होत कबौं गरबीली को।
ढरकि रहे हैं सेद - कन रोम - कूपन सों
छाम ह्वै गयो है तन सकल छबीली को।
'हरिऔध' कहै डूबि डूबि मन काहैं जात
गहन लगी क्यों ऊबि ऊबि गति ढीली को।
लहि लहि लाज कौन काज भरि भरि आवै
रहि रहि आज नैन ललना रसीली को ॥ १ ॥

कवित्त—

सुनती बतिया सखियान हूँ की गुरु लोगन हूँ की कही करती।
नहिं वारि बहावती आँखिन सों अपने उर धीरज हूँ धरती।
हकनाहक ही हठ कै 'हरिऔध' हितून हूँ सों ना कबौं अरती।
अरी वा मन - भावन साँवरे के सँग कैसहूँ भाँवरैं जो भरती ॥२॥

सुंदर चौकनो चाव भरो अलवेलो अलौकिकता को सहारो।
लाइ हिये दुख - मेटनवारो छबीलो छकी - अँखियान को तारो।
सूधो सजीलो सुजान गुनी 'अरिऔध' धरातल गौरववारो।
वीर बताय दै क्यों मिलिहै वह भावतो बालपने को हमारो ॥३॥

उद्बुद्धा

अपनी इच्छा से उपपति से प्रेम करनेवाली परकीया को उद्बुद्धा कहते हैं।

सवैया—

मंद-मंद समद-गयंद की सी चालन सों
ग्वालन लै लालन हमारी गली आइये।
पोखि-पोखि प्रानन को सानन सहित
इन कानन को बाँसुरी की तानन सुनाइये।

'हरिऔध' मोरि मोरि भौहैं जोरि जोरि दृग
चोरि चोरि चितहूँ हमारो ललचाइये।
मंजुल-रदनवारो मुद के सदनवारो
मदन-कदनवारो वदन दिखाइये ॥१॥

काको सुत कैसी छवि धारत वसन कैसे
कैसी बानी बोलि को पियूख बरसावै है।
जानत जुगुत कैसी मोहत कहाँ धौं करि
मंद-मुसुकान काकी मन अपनावै है।
'हरिऔध' की सौं कही मातु चलु देखैं नेक
काको रूप-कामिनी को बावरी बनावै है।
काके बस ब्रज की बिलासिनी भई हैं बीर
कौन बनमाली वन बाँसुरी बजावै है ॥२॥

सवैया—

हम कैसी करैं कित को चलि जायँ महा दुख मैं हमैं पारती हैं।
हरिकै छल सों सिगरी कुलकानि बिचारन हूँ को बिगारती हैं।
'हरिऔध' न मानती हैं छनहूँ कबौं सूधेहूँ नाँहिं निहारती हैं।
यह रावरी नेह-मयी अँखियाँ हमैं बावरी सी किये डारती हैं ॥३॥

साँझ सकारे मया करिकै कबहूँ गुरु लोगन के अनदेखे।
आपनी या छबि मैन-मयी दरसायो करौ हित कै हित लेखे।
नातो अहो 'हरिऔध' सुनो तन रैहै नहीं पतिआन के पेखे।
प्यारे न मानती हैं अँखियाँ बिन रावरी साँवरी सूरत देखे ॥४॥

उद्बोधिता

उपपति-चातुरी से प्रेरित होकर प्रीति करनेवाली नायिका को उद्बोधिता कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

मोको विलोकत ही अपने मन मैं सुख मानि महा-उमगानी।
आसन दीनो समादर कै मुख बोलि हरे हरे मंजुल-बानी।
सील के पेचन मॉहि परी 'हरिऔध' सनेह सनी सकुचानी।
प्यारे तिहारी प्रमोद भरी पतिआ पढिकै पुलकी पतिआनी ॥१॥

परकीया के छः भेद

व्यवहार और कार्य कलाप संबंध से परकीया छः प्रकार की होती है। १—गुप्ता, २—विदग्धा, ३—लक्षिता, ४—कुलटा, ५—अनुशयाना और ६—मुदिता।

१—गुप्ता

पर-पुरुष-विहार-संबंधी क्रिया को गोपन करनेवाली परकीया गुप्ता कहलाती है। वह तीन प्रकार की होती है—१—भूतगुप्ता, २—वर्तमानगुप्ता और ३—भविष्यगुप्ता।

भूतगुप्ता

भूतकालिक विहार गोपन करनेवाली भूतगुप्ता कहलाती है।

उदाहरण

दोहा—

भाग जगावन काज मैं मॉगन गई भभूत।
कहॉ करौं भोरे-जनन कॉहिं भिन्यो जो भूत ॥१॥
सुनत हुती मैं रसिक-जन हुतो सरस बतरात।
मोहि कलंकित करि कहति कत कलक की बात ॥२॥

वर्तमानगुप्ता

वर्तमानकालिक विहार गोपन करनेवाली वर्तमानगुप्ता कहलाती है।

उदाहरण

कवित्त—

टूट टूक कीनी मेरी कंचुकी हुँ कोरवारी
सारी-छुरतारी फारी जेवर नसायो है।
तिलरी हूँ मंजु मनि मोतिन की तोरि डारी
वेनी हूँ विथोरि डारि छोरि दधि खायो है।
'हरिऔध' त्रासन ते कॉपत करेजो अजौं
सॉसु न कढ़ति ऑसु ऑखिन मैं छायो है।
खूँत-भरो निपट-कुचाली क्रूर करतूत
कैसो या सपूत आली काहू घर जायो है ॥१॥

दोहा—

गिरि ते गिरत निहारि कै पकरि लियो प्रिय मोहि।
तू बौरी सी कत बकति भयो कहा है तोहि ॥ १ ॥

भविष्यगुप्ता

उदारहण

दोहा—

जो कुंजन जैहौं नहीं किमि लैहौ दल फूल।
का कैहौं अनुकूल जन जो ह्वैहैं प्रतिकूल ॥ १ ॥
वर पूजन जैहौं न क्यों है वरसाइत कालि।
छल - छंदी कैहै कहा मो पै कीच उछालि ॥ २ ॥

२—विदग्धा

चतुराई और बुद्धिमत्ता के साथ पर-पुरुष-विहार-संबंधी कार्य साधन करनेवाली परकीया को विदग्धा कहते हैं। उसके दो भेद हैं—वचनविदग्धा और क्रियाविदग्धा।

चाव सों एक को आइ गह्यो उमड़े घन को भर लावत जोही।
एक सों भाख्यो विलासिनि यों किन भींजत आइ बचावत मोही ॥१॥

५—अनुशयाना

संकेत-स्थल के नष्ट होने से संतप्त रमणी को अनुशयाना कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—१–संकेतविघट्टना (वर्तमान), २–संकेतनष्टा (भावी) तथा ३–रमणागमना (भूत)।

संकेतविघट्टना

वर्तमान संकेत-स्थल नष्ट होने से दुःखित ललना को संकेतविघट्टना कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

कहा भयो जो ह्वै गई लता-विहीन निकुंज।
घर समीप विलसत अहैं अजौं घने-तरु-पुंज ॥ १ ॥
सूने-सदनन के नसे चूर भयो कत चित्त।
वहु-विहार-उपवन अहैं अजौं विहार-निमित्त ॥ २ ॥

संकेतनष्टा

दोहा—

कत सिसकति ह्वैहै उतै रसिक-जनन ते भेंट।
हैं तेरी ससुरारि में सुंदर सजे सहेट ॥ १ ॥
सखि ससुरे में सैर की अहै असुविधा नाहिं।
उत अभिमत-फल-दायिनी-वहु-फुलवारी आहिं ॥ २ ॥

रमणगमना

संकेत-स्थल में प्रियतम के गमन का अनुमान कर जो स्त्री अपनी अनुपस्थिति पर तप्त होती है उसे रमणगमना कहते हैं।

कवित्त—

आलिन को आनन विलोकि अकुलानी महा
केला के झमेला मिले कुफल करेला के।

गारत गुलाबी रंग भयो गोरे गालन को
सौहैं परी जाय मानो औचक सँपेला के।
ढारि ढारि आँसुन की धार दोऊ आँखिन सों
निदत विचार 'हरिऔध' अवहेला के।
वेला वीती वूझिकै वेहाल अलवेली भई
अलवेले हाथन विलोकि फूल वेला के ॥१॥

बरवा—

आयो प्रियहि अमरैया गैयन साथ।
पहुँचि न सकति लुगैया मींजति हाथ ॥ २ ॥
विलखति खरी गुजरिया विहरति नाँहिं।
निरखि गुलाब-गजरवा प्रिय-गर माँहिं ॥ ३ ॥

६—मुदिता

वांछित की अकस्मात् प्राप्ति से आनंदित होनेवाली परकीया को मुदिता कहते हैं।

कवित्त—

अँधियारी कुहू की डरारी-कारी-रैन माँहि
जामैं घिरी भारी-घटा पवन-प्रसंग ते।
दामिनी दिपे पै भौन बार पै बिलोक्यो बाल
मंद-गौन-वारो-प्यारो मंजुल-मतंग ते।
'हरिऔध' मोहि मद-प्याला सी पिअन लागी
ज्वाला हूँ कढ़न लागी बाला-अंग अंग ते।
उरज-उतंग ते अनंग रंग पैठी जाति
ऐन त्रैठी ऐंठी जाति आनँद-उमंग ते ॥१॥

गरबीली - गोरटी लजीली - अँखियान-वारी
लूटी सी फिरति छूटी सखिआन-संग ते ।
कुंज-पुंज क्यों हूँ लखि पाई गुंज माल वारो
जाकी सुघराई है सवाई सौ अनंग ते ।
'हरिऔध' हेरे भई बेसुध बिकी सी बाल
भाव - भंगी ह्वै गई छगूनी भंग-रंग ते ।
तरकत मैन की तरंग ते तनी के बंद
भरकत अंग अंग आनँद-उमंग ते ॥२॥

सामान्या अथवा गणिका

केवल धन के निमित्त प्रेम करनेवाली स्त्री सामान्या कहलाती है। इसमें प्रवंचना की मात्रा अधिक होती है।

उदाहरण

कवित्त—

मंद मंद मीठे बैन बोलि मन औरै करै
नैन - सैन ही सो मैन जू को उत्थान दै ।
पीनता दिखावै हाव - भाव परिपाटी माँहिं
रमन-प्रनाली मैं प्रवीनता प्रमान दै ।
'हरिऔध' सुधा ही सी स्रवत कहै जो कवौं
प्रानप्यारे मोको मंजु माल - मुकतान दै ।
मान दै दै सहित सनेह अपनावै प्रान
हरति अपान हूँ को हँसि करपान दै ॥१॥

दशविध नायिका

अवस्था के अनुसार नायिकाओं के दश भेद होते हैं। वे ये हैं—

१—प्रोषितपतिका, २—खण्डिता, ३—कलहान्तरिता, ४—विप्रलब्धा ५-उत्कठिता, ६—वासकसज्जा, ७-स्वाधीनपतिका, ८—अभिसारिका, ९—प्रवत्स्यत्पतिका १०—आगतपतिका।

प्रेम-पथ पर दृष्टि रखकर ये भेद स्वकीया और परकीया में ही माने गये हैं। कुछ लोगों ने गणिका में भी इन दशाओं को माना है; किन्तु कतिपय विद्वानों के सिद्धांतानुसार मैं भी इसको रसाभास समझता हूँ।

प्रोषितपतिका

प्रियतम के विदेश-गमन से व्यथित और दुःखदग्ध स्त्री को प्रोषितपतिका कहते हैं।

उदाहरण

मुग्धा प्रोषितपतिका

दोहा—

सखियन हूँ ते नहिं कहति पिय-प्रवास की पीर।
नीरज-नयनी-नयन हूँ नाँहिं बिमोचत नीर ॥ १ ॥
कोऊ बतरावत नहीं क्यों चित होत अचेत।
पिय बिन ए कारे जलद क्यों जिय जारे देत ॥ २ ॥

मध्या प्रोषितपतिका

दोहा—

विरह-घरी बीतति नहीं युग सम दिवस सिराहिं।
सखियन को लखि कै रुकत अँखियन को जल नाँहिं ॥ १ ॥
असन-वसन की सुधि नहीं साँसत सहत सरीर।
कहति न बिरह-भरे बयन बहत नयन ते नीर ॥ २ ॥

प्रौढा प्रोषितपतिका

कवित्त—

चूमि चूमि प्यार ते उचारती वचन ऐसे
जाते प्रेम प्रीतम को तोपै भूरि छावतो।
मोहित है तेरे चोंच माँहिं चारु-चामीकर
'हरिऔध' हीरा हेरि हिय पै लगावतो।
एरे काक बोलत कहा है ककनीन बैठि
मंजुल-मनीन तेरे चरन जरावतो।
नैनन को तारो बाँकी-बड़ी-अँखियान-वारो
प्यारो-प्रान वारो जो हमारो कंत आवतो॥ १॥

पी कहाँ वहाँ हूँ जो पुकारतो पपीहा पापी
प्यारो कैसे प्रानन को धीरज बँधावतो।
क्यों हूँ मन मानतो न उनको मनाये आली
जो पै मोरनी लै सोर मोर हूँ मचावतो।
'हरिऔध' कैसे देस माँहिं निवसत आली
कोऊ तो विभेद या को हमको बतावतो।
ऐसई जो होतो वाँ डरारो बजमारो घन
कैसे मनवारो ना हमारो कंत आवतो॥ २॥

पतिया न आई एक बतिया न साँची भई
प्रीति में तिहारी तऊ छतिया पगी रहै।
आज काल ही में प्रान चाहत पयान कीने
तिनमें प्रतीति तेरी तबहूँ खगी रहै।
प्यारे 'हरिऔध' तुमैं नीके ना निहार्‌यो तऊ
रोइ रोइ जामिनी में अँखिया जगी रहै।
मनमन सपन हूँ में मगन भयो ना तऊ
पगन तिहारे मेरी लगन लगी रहै॥ ३॥

सवैया—

तजि रावरी साँवरी सूरत साँवरे या हिय और समातो नहीं।
वह मीठी सुधा सों सनी बतियाँ सुनि कानन धीर धरातो नहीं।
हम कैसी करैं 'हरिऔध' कहो अब मोसों कछू तो सिरातो नहीं।
इन आँखिन प्यारे तिहारे बिना जग और तो कोऊ दिखातो नहीं ॥४॥

दोहा—

दमकति नभ मैं दामिनी घन छाये चहुँ ओर।
चित तरसत है दरस को बरसत है दृग मोर ॥ ५ ॥
नभ धुरवा धावन लगे बिधत बिरह के तीर।
तनिक धीर नहिं धरि सकत मो चित परम अधीर ॥ ६ ॥

बरवा—

कैसे बसत बिदेसवाँ बलमु - नदान।
तलफत मोर करेजवा कलपत प्रान ॥ ७ ॥
चमकत चपल बिजुरिया अलि चहुँ पास।
काँपत मोर करेजवा उपजत त्रास ॥ ८ ॥

परकीया प्रोषितपतिका

कवित्त—

बावरी ह्वै जाती बार बार कहि बेदन को
बिलखि बिलखि जो बिहार थल रोती ना।
पीर उठे हियरा हमारो टूक टूक होत
ध्याइ प्रान-नाथ जो कसक निज खोती ना।
'हरिऔध' प्यारे के पधारि गये परदेस
नैन नासि जात जो सपन संग सोती ना।
तन जरि जातो जो न अँसुआ ढरत आली
प्रान कढ़ि जातो जो प्रतीति उर होती ना ॥ १ ॥

मरो मुरझायो मन मारिये कहाँ लौं कहो
कठिन हिये पै कौ लौं पाहन बसाइये।
कोटि काम हूँ ते अभिराम स्याम प्यारे-काज
कलपि कलपि कौ लौं बासर बिताइये।
'हरिऔध' अनुछन आँखिन को तारो हुतो
जाके बिना एक पल हूँ ना कल पाइये।
ऊधो वाही लालन के सुललित पायन की
धूरि हूँ मिलै ना जो लै लोचन लगाइये॥ २॥

सवैया—

क्यों हूँ नहीं सहि जाहि अरी उर में उपजे दुख-पुंज-अपार ए।
दाह दुगूनियै होत उसासन प्रान रहे 'हरिऔध' अवार ए।
हाय! न सीतल होत छनौ कबहूँ इन नैनन के जल-धार ए।
डारत छार किये हियरा विरहागि के वीर अधूम-अँगार ए॥ ३॥

पीर पराई पछानत हौ परतीत हूँ प्यारे प्रसंसन जोग है।
भाप हूँ को है अभाव नहीं कमनीय-सुभाव हूँ को सहयोग है।
पै 'हरिऔध' न जानि पर्यो परदेस में क्यों विसर्यो मो वियोग है।
भाखिये भूल तिहारी कहा मनभावते भाग ही को सब भोग है॥ ४॥

ओट भये हूँ तिहारी बड़ी अखियान ते होत रहै विपरीतै।
माधुरी मंजुल-बैनन की 'हरिऔध' अजौं हमरो मन जीतै।
डोलत बावरी सी बन-बीथिन बूझति ना कछु नीत अनीतै।
ना बिसरै वह सूरत-प्यारी बिसूरत ही निसि बासर बीतै॥ ५॥

खंडिता

अन्य-नारी-सभोग-चिह्न चिह्नित प्रातरागत नायक दर्शन से कुपिता खंडिता कहलाती है।

मुग्धा

दोहा—

चकित भई अवलोकि कै उलटे पलटे वेख।
मन - रंजन के अधर पै निरखे अंजन - रेख ॥१॥
लाल भोर आये कछू बोल न पाई बाल।
गुनन लगी कारन निरखि उर की बिन-गुन माल ॥२॥

मध्या

कवित्त—

बोलत बनै न वारि बहै बड़ी आँखिन सों
विफल बनी है देखि वेख वल-भैया को।
लाली लखि नैनन की रिस सों भई है लाल
भूल्यो सब ख्याल अंक निरखि सुगैया को।
'हरिऔध' हरे हरे आखर हिये के कढ़ि
आवत अधर पै न पावत समैया को।
मदन - मजेज मैं बिहाल बावरी सी बनी
वदन विलोकै बैठी सेज पै कन्हैया को ॥१॥

दोहा—

अधर लगो अंजन निरखि चितवति दृग भरि लेति।
ऊससि कछू चाहति कहन लाज कहन नहिं देति ॥२॥

प्रौढ़ा

कवित्त—

मेरे भाग जागत ही जामिनी बितैबो हुतो
कौन काज आप हैं लखात अलसाने से।
प्यारी पीक लीकहिं अनूठे अधरान छोरि
कहा लाभ कलित-कपोल पै लगाने से।

'हरिऔध' प्यारे साँची कहौ छलछंद छोरो
भोर ही कहाँ हो आज फिरत भुलाने से ।
रावरे बिसाल दृग-कंज लाल ह्वै रहे हैं
सूरज उगे हू क्यों सरोज सकुचाने से ॥१॥

परंचि गई हौं पेचपाच-वारे बैनन सों
परपंच कीने मोहि मिलत सहारो ना ।
काट-छाँट-वारी-बानि काटत करेजो अजौं
कपट किये हूँ कूट-वचन उचारो ना ।
'हरिऔध' जाहु जागि जामिनी बिताई जितै
जियरा हूँ जावक लिलार लाइ जारो ना ।
ढग-वारी-साखिन पै ढारो ना हमारो मन
रंग-वारी-आँखिन को मोपै रंग डारो ना ॥२॥

परकीया

दोहा—

हौं जागी सारी-निसा बनि बड़-भागिनि-वाल ।
लाल तिहारे ए नयन-युगल भये क्यों लाल ॥१॥
भूरि-भाग-वारो भयो काहू के पग सोहि ।
लाल ! भाल-जावक दहत क्यों पावक बनि मोहि ॥२॥

कलहान्तरिता

प्रिय से कलह कर अंतरित पश्चात्तापपरायणा स्त्री कलहान्तरिता कहलाती है ।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

जल छलकत है नयन मैं भलो लगत नहिं भोर ।
पिय ते कलह किये भयो क्यों कलही मन मोर ॥१॥

मुख ते कछू कहति नहीं कितनो करति सकोच।
लरिकाई छूटी नहीं कहा लरे को सोच॥ २॥
सरस बनावहु जलद-तन चलि करि रस-मय-केलि।
अहै कलह - रवि - कर तई दुलही - डलही - वेलि॥ ३॥

मध्या

दोहा—

पिय सों लरि लरि तू रही तब तो बहु इतरात।
अब लोयन को जल बनो तेरो कलह दिखात॥ १॥
सोचि सोचि अपनी दसा कत सकुचति सुकुमारि।
कलह - कालिमा क्यों धुलति जो न होत दृग - वारि॥ २॥

प्रौढ़ा

कवित्त—

मान के किये ते मान रहत कहाँ धौं कैसे
मेरे जान मानही की बातैं हैं अमान की।
मन मैं मसूसि महा - मुरझि रही हौं बीर
नेक - सुधि मोको ना रही है खान - पान की।
हाय! 'हरिऔध' हूँ सो हियरो हरन - वारो
रूसि गयो मोसौं जरो वानि अपमान की।
छबि पै लुभाई को लगैहै छतिया सो मोहि
पान को करैहै सुधा मंजु - बतियान की॥ १॥

दोहा—

वरवस करुये बयन कहि मो सरवस हरि लीन।
कैसे नीरस नहिं बनति रसना रस सो हीन॥ २॥

परकीया

दोहा—

टूटि सलिल - भाजन गयो छूटि न पायो पंक।
कलह भयो तासों अली जा हित सह्यो कलंक॥ १॥

ता सरसिज को कर सकी कहा सहज सनमान।
सरसत मो मन अलि अहै करि जाको रस-पान॥ २॥

विप्रलब्धा

संकेत-स्थल में प्रियतम की अप्राप्ति से आकुल और क्षुब्ध नायिका विप्रलब्धा कहलाती है।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

पीर उठे पीरी परी पिय ते भई न भेंट।
दुलही-दुख दूनो भयो सूनो मिले सहेट॥ १॥
तिय आई आयो न पिय भई समय की भूल।
काँटे लौं कसकन लगे कलित-कुंज के फूल॥ २॥

मध्या

दोहा—

देखि सेज सूनी परी केलि-भवन भो काल।
विचलित अलवेली भई बिन अलबेले लाल॥ १॥
केलि-भवन आई वधू भरी उमंग उछाह।
वारि-प्रवाह लोचन बने बिना विलोके नाह॥ २॥

प्रौढ़ा

दोहा—

बार बार बहराइ कै तूने कियो अबार।
बादि अहै पिय के बिना उपवन-विपिन बहार॥ १॥
ललक-भरी आई वधू मिले नाँहि सुख-मूल।
केलि-भवन हूँ नहिं भयो केलि-मयी अनुकूल॥ २॥

परकीया

कवित्त—

सीतल सलिल - वारे सर सरसावैं नाहिं
कुंत लौं लगे है कुंज-पुंज गरवीली को।
सुललित - फूलन सों सूल सी उठन लागी
भयो अनुकूल न मयंक अरसीली को।
'हरिऔध' मंद - मद - मारुत हरयो अनंद
लूटन लग्यो है मैन चैन हूँ छबीली को।
लाल बिन एरी बीर मंजुल-निकुंज हूँ मैं
नीरस भयो है रस ललना - रसीली को॥ १॥

उत्कंठिता

आने का निश्चय करके भी जिसका प्रियतम विहार-स्थल में यथासमय न आवे -अथवा आवे ही नहीं, उस आकुल और उत्कठित स्त्री को उत्कंठिता अथवा उत्का कहते हैं!

उदाहरण—

मुग्धा

दोहा—

कहा भयो आये न क्यों मुख ते कढ़त न बैन।
चित - चंचलता कहत है चंचल - नयनी नैन॥ १॥
कहाँ रुके अरुझे कहा किधौं गये पथ भूल।
या सोचन चंपक - बरनि बनी कुसुम को फूल॥ २॥

मध्या

दोहा—

भई बेर क्यों का भयो यह विचारि सुकुमारि।
कबौं विलोकति पथ कबौं भरति दृगन मैं वारि॥ १॥

बैठति उठति बिकल बनति बिलपति लहति न चैन।
चितवति सखि-मुख दुखित बनि काटे कटति न रैन ॥ २ ॥

प्रौढ़ा

दोहा—

बीती निसि आये नहीं अब लौं नयनानंद।
कहा करौं कैसे गहौं बामन बनि कै चंद ॥ १ ॥
सेज - परी सिसकति कबौं कबौं भरति है आह।
घरी घरी उठि उठि बधू पिय की जोहति राह ॥ २ ॥

बरवा—

आवति छिन अँगनैया छिन चलि जाति।
उठि उठि गिनति तरैया कटति न राति ॥ ३ ॥
पसरी निरखि जुन्हैया चंदहिं चाहि।
कामिनि परी सेजरिया उठति कराहि ॥ ४ ॥

परकीया

कवित्त—

पौन मंद बह्यो छाई सेतता दिसन माँहि
दीपक मलीन भयो अंधकार टरिगो।
गात सियरानो बोले बृंद चरनायुध के
कलरौ चिरियन को चारो ओर भरिगो।
'हरिऔध' आये नाँहि अँखियाँ उनींदी भईं
अहह हमारो भाग आज हूँ बिगरिगो।
ऐरी बीर देखु अरुनाई छाई अंबर मैं
तारन - समेत तारापति फीको परिगो ॥ १ ॥

वासकसज्जा

प्रिय-समागम का निश्चय करके जो केलि सामग्री को सज्जित करती अथवा सखियों द्वारा सुसज्जित होती हो उसे वासकसज्जा कहते हैं।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

नवला कत सकुचति इतो सजत सँवारत कुंज।
दुरे छबीली होत का दुरत नहीं छवि-पुंज ॥१॥
काहें सजति न सेज अलि साज मिले अनुकूल।
बिकच-कमल-कर मैं फबहिं खिले फबीले फूल ॥२॥

मध्या

दोहा—

महल-टहल के समय मन काको हरति न बीर।
कलरव-रत-कटि-किंकिनी बजत मंजु-मंजीर ॥१॥
सकुचति कबौं सकुच तजति तिय सब लेति सहेज।
अभिमत-साजन ते सजति सखिन सजाई सेज ॥२॥

प्रौढ़ा

दोहा—

बोलि बोलि सखियान को कहि कहि बैन रसाल।
केलि-सदन को सुर-सदन सरिस बनावति बाल ॥१॥
बासि बासि बर-बास ते सजि सजि केलि-अबास।
बिलसति रहति बिलासिनी करि करि बिबिध-बिलास ॥२॥

परकीया

कवित्त—

बैठी हुती मंदिर मैं कलित-कुरंग-नैनी
जाको लखि काम-कामिनी को मान किलिगो।
क्यो हूँ कढ़्यो तहाँ आइ साँवरो-छबीलो-छैल
जाको गान-तानन ते ताके कान पिलिगो।

बैठति उठति बिकल बनति बिलपति लहति न चैन।
चितवति सखि-मुख दुखित बनि काटे कटति न रैन ॥ २ ॥

प्रौढा

दोहा—

बीती निसि आये नहीं अब लौं नयनानंद।
कहा करौं कैसे गहौं बामन बनि कै चंद ॥ १ ॥
सेज-परी सिसकति कबौं कबौं भरति है आह।
घरी घरी उठि उठि बधू पिय की जोहति राह ॥ २ ॥

बरवा—

आवति खिन अँगनैया खिन चलि जाति।
उठि उठि गिनति तरैया कटति न राति ॥ ३ ॥
पसरी निरखि जुन्हैया चंदहिं चाहि।
कामिनि परी सेजरिया उठति कराहि ॥ ४ ॥

परकीया

कवित्त—

पौन मंद बह्यो छाई सेतता दिसन मॉहिं
दीपक मलीन भयो अंधकार टरिगो।
गात सियरानो बोले बृंद चरनायुध के
कलरौ चिरियन को चारो ओर भरिगो।
'हरिऔध' आये नॉहि ऑखियॉ उनींदी भईं
अहह हमारो भाग आज हूँ बिगरिगो।
एरी बीर देखु अरुनाई छाई अंबर मैं
तारन-समेत तारापति फीको परिगो ॥ १ ॥

वासकसज्जा

प्रिय-समागम का निश्चय करके जो केलि सामग्री को सज्जित करती अथवा सखियों द्वारा सुसज्जित होती हो उसे वासकसज्जा कहते हैं।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

नवला कंत सकुचति इतो सजत सँवारत कुंज।
दुरे छबीली होत का दुरत नहीं छवि-पुंज ॥१॥
काहें सजति न सेज अलि साज मिले अनुकूल।
विकच-कमल-कर में फवहिं खिले फबीले फूल ॥२॥

मध्या

दोहा—

महल-टहल के समय मन काको हरति न वीर।
कलरव-रत-कटि-किंकिनी वजत मंजु-मंजीर ॥१॥
सकुचति क्यों सकुच तजति तिय सब लेति सहेज।
अभिमत-साजन ते सजति सखिन सजाई सेज ॥२॥

प्रौढ़ा

दोहा—

वोलि वोलि सखियान को कहि कहि वैन रसाल।
केलि-सदन को सुर-सदन सरिस वनावति वाल ॥१॥
वासि वासि बर-वास ते सजि सजि केलि-अवास।
विलसति रहति विलासिनी करि करि विविध-विलास ॥२॥

परकीया

कवित्त—

वैठी हुती मंदिर मैं कलित-कुरंग-नैनी
जाको लखि काम-कामिनी को मान किलिगो।
क्यो हूँ कढ़्यो तहाँ आइ साँवरो-छवीलो-छैल
जाको गान-तानन ते ताके कान पिलिगो।

मुख खोलि उझकि झरोखे 'हरिऔध' झाँके
लोक-सुदरी को मंजु-रूप ऐसो खिलिगो।
नीलिमा-गगन मैं मगन ह्वै गयो कलंक
आनन-उजास मैं मयक - बिंब मिलिगो ॥१॥

अभिसारिका

प्रियतम-समागम-निमित्त संकेत-स्थल में गमन करनेवाली अथवा प्यारे को बुलानेवाली नायिका को अभिसारिका कहते हैं।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

परग परग पै बहु अरति खटके पात सकाति॥
चली जाति पिय पास तिय सेद - सनी सकुचाति ॥१॥
पथ चलत विचलित भई कंपित भो सब गात।
भये चौगुने - चपल चख चित भो चलदल - पात ॥२॥

मध्या

दोहा—

पिय पहँ जात लजाति वहु लंक लचे बल खाति।
तजति उतायल भाव तिय जो पायल बजि जाति ॥१॥
सोच सकोचन करन ते दली मली दिखराति।
लली अली लै गलिन ह्वै केलि - थली मैं जाति ॥२॥

प्रौढ़ा

दोहा—

चली कत ढिग कामिनी सफल करन अभिसार।
सुर - पुर - तिय मोहति निरखि रति-मोहक सिंगार ॥१॥

ललना ललन मिलन चली गति लखि लजत गयंद।
बदन-चंद की जोति ते होति चद-दुति मंद॥ २॥

परकीया

सवैया—

मानी-मनोज को मान मरोरत मोहन मोहन को मृग-नैनी।
जोति जतावत जोम भरी जलजात-बरूथन को जग-जैनी।
'हरिऔध' अलकावलि सों अलि को अकुलावति आनँद-ऐनी।
भानुजा-कूल पै जात चली कल-कुंजन कूजत कोकिल-बैनी॥१॥

सुंदर-भाव-भरे तन पै बगरी बर-भूखन-जोति भली है।
सोंधे सनी अलकावलि हूँ चहुँ घेरि लई अलि की अवली है।
मजुल-गौन पै ए 'हरिऔध' गयंद हू की गति जाति छली है।
भानु-लली-प्रिय-रंग-रली कल-केलि-थली महँ जाति चली है॥२॥

परकीया के भेद

परकीया अभिसारिका के तीन भेद हैं—१—शुक्लाभिसारिका, २—कृष्णाभिसारिका और ३—दिवाभिसारिका।

शुक्लाभिसारिका

चाँदनी रात के अनुकूल वेश धारण करके प्रिय-समागम के लिये जाने वाली स्त्री को शुक्लाभिसारिका कहते हैं।

दोहा—

सेत-बसन हीरक-जटित विविध-बिभूखन धारि।
चली चाँदनी रात मैं चंदकला-सी नारि॥ १॥

कृष्णाभिसारिका

अँधियाली रात्रि के अनुकूल वेश धारण करके प्रियसमागम के लिये जानेवाली परकीया स्त्री को कृष्णाभिसारिका कहते हैं।

'हरिऔध' प्यारे-संग करन पयान ही मैं
आपनी भलाई पापी प्रान हूँ परखै ना।
बिलखि बिलखि भरि भरि बार बार बारि
नैनहूँ निगोरो आज नैन भरि देखै ना ॥१॥

आगतपतिका

प्रियतम-विदेशागमन से उत्फुल्ल स्त्री को आगतपतिका कहते हैं।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

सुनि मुख ते सखियान के पिय को आवत ऐन।
पड़े पलक के पाँवड़े ललकन लागे नैन ॥१॥
आये लाल बिदेस ते ललना भई निहाल।
अनुरंजित - चित - रुचि कहत रोरी - रंजित - भाल ॥२॥

मध्या

दोहा—

सुने कंत को आगमन उमड़्यो उमग - पयोद।
ललना - युगल - नयन लगे बरसन बारि - विनोद ॥१॥
प्रीतम आये पौर पै भई देखि बहु भीर।
छकी पै सकी तोरि नहिं लोक - लाज - जंजीर ॥२॥

बरवा —

आवत जानि छयलवा पकरि कपाट।
कामिनि खरी अटरिया जोहति बाट ॥३॥

प्रौढा

कवित्त

बार बार प्यार ते बिलोके चंद-मुख-चारु
फेर मैं परे से अंधकार मेरे ही के हैं।

उदाहरण

मुग्धा

दोहा—

जकी छकी नवला रहति छिपि छिपि बितवति काल।
तन मैं छबि छहरत निरखि छनौं न छोरत लाल ॥ १ ॥
छाँह बचावति लाड़िली छोरत ना अलि-बृंद।
तऊ बदन-अरबिंद के लालन भये मिलिंद ॥ २ ॥

मध्या

दोहा—

लाल-गरे परि ललित बनि लहि सु-बास सब काल।
फबि फैलावति ही रहति फूल-माल सी बाल ॥ १ ॥
सकुच-भरी पति-करन ते सज्जित ह्वै सरसाति।
परी किन्नरी सी रुचिर-सेज परी दरसाति ॥ २ ॥

प्रौढ़ा

सवैया—

काज परे हूँ न जाय कवौं कहूँ मो पति आपनी आनि अरो रहै।
नेक न मानत औरन की 'हरिऔध' को मेरो ही ध्यान खरो रहै।
साजत साज सँवारत भूखन सुंदर भावन मौहिं भरो रहै।
भूख औ प्यास बिसारि सदैव अवास मैं मेरे ही पास परो रहै ॥१॥

परकीया

सवैया—

अरी और तियान ते सोहैं परे हूँ कवौं अपनो दृग जोरै नहीं।
अनखाय नहीं अपमान किये रस हूँ मैं कवौं बिस घोरै नहीं।
'हरिऔध' हमारो हजारन मैं हमरे हित ते मुँह मोरै नहीं।
छकि मो छबि ऊपर छाँह की भाँति छबीलो हमैं छन छोरै नहीं ॥१॥

नायक

नायक

रूप-यौवन-सम्पन्न, उत्साह-शील, उदार, कुलीन, सुशील, जन-अनुराग-भाजन, चतुर, बुद्धिमान्, तेजस्वी और महान् हृदय पुरुष नायक कहलाता है। स्वभाव के अनुसार उसके चार भेद माने गये हैं, वे निम्नलिखित हैं—

१—धीरोदात्त, २—धीरोद्धत, ३—धीरललित और ४—धीरप्रशान्त

१—धीरोदात्त

क्षमावान्, धीर-गभीर, स्थिर-प्रकृति, महान्-चेता, हर्ष-शोकादि में अविचल-चित्त, दृढ़व्रत, विनयी और उदारहृदय पुरुष धीरोदात्त कहलाता है।

उदाहरण

कवित्त—

सूधो सधो उदधि-गभीर धीर-वीर है जो
जाकी धी में धरम-धुरीनता है निवसी।
सबल सुसील सत्यसंध साहसी है जौन
सरद-सिता सी जाकी साधना है विकसी।
'हरिऔध' लोक-हित ललित वनत जाते
विपुल-विभूति जाके लोमन ते निकसी।
महि माँहि परम-महान सोई मानव है
जाके मंजु-मानस में मानवता विलसी॥ १॥

सवैया—

राखैं दोऊ मरजाद सदा है गभीरता दोहुँन में मनमानी।
भू में अहैं रतनाकर हूँ दोऊ दीखैं समान दुहूँन में पानी।
ए 'हरिऔध' रहैं रस एक ही दोहुँन की गति जाति न जानी।
एक से भूतल में विलसैं दोऊ सागर औ गुन-आगर प्रानी॥ २॥

दोहा—

सुखित सकल को करि वनत सुर - समान नर कौन ।
वसुधा पै वरसत सुधा सरसत - ससि - सम जौन ॥ ३ ॥

२—धीरोद्धत

अभिमानी, शूर, चपल, मायावी, प्रचंड, दुर्दांत कोपन स्वभाव और अपनी प्रशंसा के पुल बाँधनेवाला पुरुष धीरोद्धत कहलाता है ।

उदाहरण

कवित्त—

मैं हौं महा-मानी करि पैहौं का न माया किये,
बाधा बोध भये दौरि बाँधि देहौं विधि को ।
बिगरे बिदारि देहौं बड़े - बड़े - बीरन कों
तमके नसैहौं सारी - साधना की सिधिको ।
'हरिऔध' कोप किये लोप कैहौं लोकन को
पावक ते पूरि देहौं पुहुमी-परिधि को ।
ककुभ के बारन की बोटी बोटी काटि देहौं
गिरि को उपाटि देहौं पाटि देहौ निधि को ॥ १ ॥

दोहा—

मोहि मुदित दिनमनि करत ससि सेवत सब भाँति ।
मेरे पद - नख सरिस हैं नभ - तल - तारक - पाँति ॥ २ ॥
मायामय हूँ होत हैं जो माया लखि मौन ।
सो मम जग में दूसरो मायावी है कौन ॥ ३ ॥
धनु लै धावत मोहि लखि कौन न होत अधीर ।
धरकन धरनी - धरन - उर धरती धरति न धीर ॥ ४ ॥

काको कलपावत नहीं करि निज लोचन लाल।
काल काल हूँ को बनत गहि कर में करवाल ॥५॥
परम-प्रबल माया-निपुन धीर-बीर मद-मान।
को बसुधा-तल में भयो बारिद-नाद समान ॥६॥

३—धीरललित

निश्चिन्त, कोमल-स्वभाव, नृत्य-गीतादि में अनुरक्त, हँसी-खेल में निपुण, काम-कामिनी-प्रेमिक और नीतिरत गभीर पुरुष धीरललित कहलाता है।

उदाहरण

कवित्त—

चिंता ते रहत दूर चारु-चाव भरो चित
सुख-मुख चाहि चाहि चाहना हँसति है।
धारत कमल-मुख कोमलता मानस की
कामना में कमनीय - कामिनी बसति है।
'हरिऔध' रुचि राग-रंग में रहति रमी
मंजु-तान कान में सुधा ह्वै निवसति है।
ललित-कलान ते मगन है रहत मन
लोयन में लालिमा लगन की लसति है ॥१॥

सवैया—

चाव सों है तिनको बहु चाहत जे अहैं चारुता-चाहक-चेरे।
घूमत है रस-मंजु थलीन में साथ अलीन के साँझ सवेरे।
है 'हरिऔध' सनेहिन को धन जीअत है रहि नेहिन नेरे।
सोहत है कुसुमावलि सो लसि मोहत मोहन-आनन हेरे ॥२॥

दोहा--

कोमल-सुख ते कढ़त है कोमलतामय बैन।
ललित देखि ललकत रहत धीरललित को नैन ॥३॥

तन मैं मन मैं नयन मैं बहत रहत रस-सोत।
चिंतामनि चोरी भये चित चिंतित नहिं होत ॥४॥

ललकि लुनाई लखन की लोयन को है लाग।
अगन मैं छलकत रहत राग-रग अनुराग ॥५॥

४--धीरप्रशान्त

नायक के अधिकांश गुणों से युक्त प्रशान्त ब्राह्मणादिक को धीरप्रशान्त कहा जाता है, इनमें त्याग और क्षमाशीलता की विशेषता होती है।

उदाहरण

कवित्त—

परम-कुलीन है कुलीनता को गौरव है
पै न काहू अकुलीन कोंहिं निदरत है।
विभव-भरो है पै न अनुभव-हीनता है
भूति-हीन-जन को विभूति वितरत है।
'हरिऔध' मूर है पै वनत क्यों ना सूर
मारो-उर-तम सर मरिस हरत है।
धीर है पै देखि कै अधीर को अधीर होत
वीर है पै धर्म-वीर-वीरता वरत है ॥१॥

धीरता गभीरता विदित वर वीरता मैं
सवल-सरीरता मैं साति निवसति है।
तेज ओज साहस अभीति नीति रीति माँहिं
प्रीति-परतीति माँहिं सुचिता वसति है।

'हरिऔध' उदित - उदारता - निकेतन है
चोखी - चातुरी को चित-चारुता कसति है।
मानस - महत्ता ते है महति रहती मति
उर मैं सतोगुन की सत्ता बिलसति है ॥ २ ॥

दोहा—

निज - गौरव हित नहिँ हरत पर के गौरव कॉहिं।
जनता को हित बसत है सुजन - सुजनता माँहिँ ॥ ३ ॥
जो जन होत अधीर नहिँ परे भीर पर भीर।
हरत रहत पर - पीर जो है सोई वर - बीर ॥ ४ ॥
कौन सुजन ताके सरिस अहै अवनि मैं आन।
जो अपने सनमान सम समझत पर - सनमान ॥ ५ ॥
निरखे हूँ निरखत नहीं जन - अपराधन कॉहिँ।
छमावान जैसी छमा है छमाहुँ मैं नॉहिँ ॥ ६ ॥
बहु-असरस जा मैं परे परम - सरस है होत।
सुजन - तरल - उर मैं बहत ऐसो रस को सोत ॥ ७ ॥

नायकों के सात्त्विक गुण

नायकों के सात्त्विक गुण आठ हैं। वे निम्नलिखित हैं—

१—शोभा, २—विलास, ३—माधुर्य, ४—गाम्भीर्य, ५—धैर्य, ६—तेज, ७—ललित और ८—औदार्य।

शोभा

शूरता, चातुरी, सत्य, उत्साह, अनुरागिता, नीच में घृणा और उच्च में स्पर्द्धा उत्पन्न करनेवाले अन्तःकरण के धर्म को शोभा कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

सूरता में सासन-उदारता है दरसति
सोंच मोंहि नीति-निपुनाई निवसति है।
भूत की भलाई है उछाह में विराजमान
घिन माँहि नीच-हित-वासना वसति है।
'हरिऔध' सोभा ही ते सोभावान सोभित है
उच्च-रुचि प्रतियोगिता ते विकसति है।
अनुरागिता में लोक-अनुराग को है रंग
चातुरी में चारु-चित चारुता लसति है ॥ १ ॥

दोहा—

अवनी-तल-अपकार-तम करि निज-कर सों दूर।
लहे सूरता वनत है जन-जीवन-नभ-सूर ॥ २ ॥

नर-गौरव-गिरि-सिखर को करति विपुल-छविमान।
लोक-हितकरी-चातुरी लसि चाँदनी समान ॥ ३ ॥

मानवता विकसित न तो जो न सचाई होति।
है वह जन-मन-ससि-सुधा नर-तन-दीपक-जोति ॥ ४ ॥

वहु-फल-दायक-वनत है छन छन करि छविवंत।
है उछाह नर-विटप को सरसत-लसत-वसंत ॥ ५ ॥

मानव-मानस-मोहिनी रस-दाइनी-महान।
कौन अहै अनुरंजिनी अनुरागिता समान ॥ ६ ॥

जाने अघ में घुन लगे सो घिन ताहि सुहात।
नीचन को सो जतन सो सुजन सुधारत जात ॥ ७ ॥

जन करि करि प्रतियोगिता कव न जगावत भाग।
कौन लगावत है नहीं भली-लगन की लाग ॥ ८ ॥

विलास

विलासमान की दृष्टि धीर, गति विचित्र और वचनावली मुसकुराहट लिए होती है, तथा भाव में गर्व का विकास होता है।

उदाहरण

कवित्त—

गौरवित-गति ते मृगाधिप को मान हरि
ओज - मंजु - गिरि पै विहरि बिलसत है।
भरत दिगंत मैं दिवाकर समान तेज
मुख मैं प्रभाव - पूत - बचन बसत है।
'हरिऔध' सबल - बिलास को बिकास बनि
कंज लौं विभूति - सरसी मैं विकसत है।
धीरता - बलित - चितवन ते चकित करि
मद - भरो - बीर मंद मद बिहँसत है॥१॥

दोहा—

पर - अपकारक उरन मैं उपजावति बहु - पीर
बीर - धीर - चितवन करति पापिन कौंहिं अधीर॥२॥
भीर परति है कुजन पै निरखि वदन - गंभीर।
बनति रहति है अगति - गति धीर - बीर - गति - धीर॥३॥
लोक - बिजयिनी - बीरता चलति बीर को घेरि।
अरि - कुरंग थहरत रहत केहरि सी गति हेरि॥४॥
बिदित करति है बीर की बिभुता सबल - सरीर।
प्रकटति चित - गंभीरता गिरा - मेघ - गंभीर॥५॥

माधुर्य

आकुल होने के कारणों के उपस्थित होने पर भी आकुल न बनना माधुर्य कहलाता है।

उदाहरण

कवित्त—

तहाँ अरि साहसी मचावत समर-घोर
जहाँ सूरमा हुँ को न पाँव ठहरत है।
तहाँ करवाल लै कमाल कै कै किलकत
महा-काल-केतन जहाँ पै फहरत है।
'हरिऔध' जघन हिलत ना डटे-दल मैं
घेरे परे घन के समान घहरत है।
पवि-पात भये नाँहिं नेकौ थहरत गात
नाँहिं नर-केहरि निहारि हहरत है ॥१॥

दुख को समूह देखि सामुहें सकात नाँहिं
साहस-सहित सारि आपदा सहत है।
प्रतिकूल-वायु बहे आकुल न नेकौ होत
आँच सहे कंचन सी मंजुता लहत है।
'हरिऔध' बार बार तग जंग माँहिं भये
अंग-अंग भरित उमंग ते रहत है।
सर-तीर-पीर हूँ ते बनत अधीर नाँहिं
भीर परे बीर बीरता कै निबहत है ॥२॥

दोहा—

भव-दुख-पारावार को है सो अनुपम-पोत।
विचलितकर-साधन लहे जो चित-चलित न होत ॥३॥
नर-पुंगव थहरत नहीं कठिन काल अवलोक।
आकुल करत न तासु चित आकुलतामय-ओक ॥४॥
दुख-दिवस हूँ मैं दुखं सकत सबल-मनन को छू न।
कटक मैं ही रहत है विकच गुलाब-प्रसून ॥५॥

गाम्भीर्य

भय, शोक, क्रोध और हर्ष आदि के कारण उपस्थित होने पर भी निर्विकार रहना गाम्भीर्य कहलाता है।

उदाहरण

कवित्त—

उदधि - गभीर - उर छुभित कवौं ना होत
वामै छवि अछवि समान ही है छहरति।
सकल - बिकार - हीन - वहु-विध-भावन मैं
छोभमयी - भावना छनेक नाँहिं ठहरति।
'हरिऔध' मानस विमोहित तहाँ ना होत
जहाँ महा - मोह की पताका-मजु फहरति।
चित माँहिं नाना - लालसान ते ललित-भूत
लोभनीय - लोभ की लहर नाँहिं लहरति॥ १॥

दोहा—

कामिनि की कमनीयता कामुक करति न ताहि।
जासु कामना मैं वसति काम - बासना नाहिं॥ २॥

सदा एक - रस रहत वुध भये विवेक उदोत।
सुख मैं सुखित वनत नहीं दुख मैं दुखित न होत॥ ३॥

सुरपति - अनुपम-पद लहे होत न विपुल - निहाल।
निरखि उठत करवाल हूँ वनत न लोचन लाल॥ ४॥

हारि परे हूँ हरन हित पर - धन हेरत है न।
वहु - रिस हूँ मैं नहिं कहत विवुध अनैसे वैन॥ ५॥

वेधत नाँहि गभीर - उर मारि कुसुम - सर मैन।
चोरि सकति चिंता नहीं वाके चित को चैन॥ ६॥

धैर्य

बड़े से बड़ा विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने काम पर डटे रहने का नाम धैर्य है।

उदाहरण

कवित्त—

धरि धरि धूरि मैं मिलैहै उधमिन काँहि
अंधाधुंध हूँ को अंधपन-सारो खोवैगो।
साधि साधि सब साधनान काँहि पैहै सिधि
उचित-विधान कै अविधि को बिगोवैगो।
'हरिऔध' धीर काम छोरैगो अधूरो नाहिं
धुन-बारि द्वारा धाक धब्बन को धोवैगो।
बाधक के बंधन बिधिन मैं बँधैगो नाँहिं
बाधा पर बाधा परे बाधित न होवैगो॥ १॥

बिबिध-बिपुल-बिघ्न बारिवाह को समीर
बहु-बिध-बाधक-बिधान-तम-रवि है।
सफल-बिफलता-सरोजनी को हिम-पात
अगति-गहनता-तृनावलि को गवि है।
'हरिऔध' निज-काज-साधन-निरत-धीर
नाना-प्रतिबंध-पुंज-पावक को हवि है।
आपद-अगाध-अंबुनिधि को है कुंभजात
पुंजी-भूत बिपद-पहारन को पवि है॥ २॥

दोहा—

सारत अपनो काज सब भभरत देखि न भीर।
पीर न पीरन को गनत बनत अधीर न बीर॥ ३॥

छुटी समाधि न संभु की भयो न तप-अवसान।
लगे सरग-तिय-नयन-सर चले पंचसर-बान ॥ ४ ॥
तीखे सहसन बिसिख ते विधि-विधि कै बहु ठाँव।
तजत धीरता धीर नहिँ धरत न पीछे पाँव ॥ ५ ॥

तेज

अन्य के किये गये आक्षेप और अपमानादि को प्राण जाने की संभावना होने पर भी सहन न करना तेज कहलाता है।

उदाहरण

कवित्त—

रोम रोम बिधे बाधा बाधा को न मानि लेहिँ
विविध-बिरोधन निवारि निबहत हैं।
अपमान भये पै अपान हूँ बिसरि जाहिँ
मान गये प्रान-दान करि उमहत हैं।
'हरिऔध' वाद भये बदत न काल हूँ को
खीजे वैर बामदेव हूँ ते बेसहत हैं।
होत हैं तिरोहित सकारे के सितारे सम
औरन को तेज तेज-वारे ना सहत हैं ॥ १ ॥

बंक-भौंह अवलोकि बंकता गहत भूरि
नेसुक-कलंक लगे भूलत अपान है।
बात वढ़े बात बात माँहिँ रिस-बस होत
सीस के गये हूँ ना सहत अपमान है।
'हरिऔध' तीखी-अँखियान हेरि तीखो होत
आन पर आन बने गहत कृपान है।
तेज-वान-जन-अभिमान-तम को है भानु
दुवन-गुमान-वन-दहन समान है ॥ २ ॥

दोहा—

तजत आनवारो नहीं कबहूँ अपनी आन।
वचन - बान नहिं सहि सकत सहत बान पै बान ॥ ३ ॥

दहत रहत है तूल सम दमिन - दल - अभिमान।
तेजवान को तेज है पावक - पुज - समान ॥ ४ ॥

प्रकृति - पुस्तिका को अहै परम - प्रभा - मय - पेज।
दानव-मानस-तम हरत मानव - मन - रवि - तेज ॥ ५ ॥

तेजवान नहिं सहि सकत काहू की ललकार।
वार करन हित कर गहत तुरत कौन तरवार ॥ ६ ॥

तेजवान - कर में अहै वह कराल - करवाल।
जासु सहचरी कालिका है जेहि सहचर काल ॥ ७ ॥

ललित

वाणी, वेश और शृंगार की चेष्टाओं की मधुरता की ललित संज्ञा है।

उदाहरण

कवित्त—

मधुर युगल - पद - तल - मंजु - लालिमा है
नूपुर - मधुर - ध्वनि मोहक - मदन है।
मधुर कपोल - विलसित - अलकावलि है
मधुर अधर - राग - रंजित - रदन है।
'हरिऔध' परम - मधुर युग - लोचन है
परम - मधुर विधु विमल - वदन है।
मधु बरसावत है मधुर मधुर बोलि
मधु के समान लाल माधुर्य - सदन है ॥ १ ॥

वेस बसनादि मॉहिं बिलसित माधुरी है
विविध - बिलास मैं विकास दरसत है।
रमनीय - तन कामिनीन - मन मोहत है
कमनीय - कांति देखि काम तरसत है।
'हरिऔध' मुख मनोहरता - निकेतन है
सुधा के समान मंजु-हास सरसत है।
भाव - भरे - कोयन मैं लसति, ललामता है
बड़े बड़े लोयन ते रस बरसत है ॥ २ ॥

सवैया—

सुंदर - वेस सुहावन-बानक पाग - सजी - सित सीस पै सोहति।
मंजु बनी अलकावलि कॉहिं न कौन सी कामिनी है जकि जोहति।
दीठि के तारन मैं कमनीयता है छबि की मुकुतावलि पोहति।
बैन की माधुरी है चित चोरति नैन की माधुरी है मन मोहति ॥३॥

दोहा—

मंद मंद हँसि मधुर बनि मोहत है मन मोर।
काको चित चोरत नहीं चितवन ते चित - चोर ॥४॥

कस मैं रहत न मन निरखि कारो कुंचित - केस।
काको बस मैं नहिं करत बहु - सुहावनो - वेस ॥५॥

मो मन मोहत बर - बसन बदन - मंजु-अवदात।
लोनो - नयन ललित - बयन परम - सलोनो गात ॥६॥

मोहन के ही कथन मैं है मोहन की बान।
काके मधुर-बयन सुने कान करत मधु - पान ॥७॥

मुरली - बादन मैं करत काको बदन कमाल।
काकी बानक है बनी अंक - लसे बन - माल ॥८॥

औदार्य

प्रियभाषणपूर्वक दान, शत्रुमित्र में समान दृष्टि और चित्त के उदार भाव को औदार्य कहते है।

उदाहरण

कवित्त—

एकरस सबको मधुर-रस दान काज
सरस-रसाल सम फरत रहत है।
वारिधर सरिस बरसि लोक-हित-वारि
याचक-समूह-सर भरत रहत है।
'हरिऔध' प्रेम साथ प्रिय बैन बोलि बोलि
चैन दैनवारी बानि बरत रहत है।
दीनता को दीनता कों दरिकै दुरंतमान
दिन दिन दानी दान करत रहत है॥ १॥

चारुतामयी है है अचारुता सहारी नाँहिं
कु-विचार कैसो सुविचारन की सूची हैं।
बुरे भाव जानैं ना सुभावना-निकेतन हैं
कुरुचिवती न अहैं, सुरुचि-समूची हैं।
'हरिऔध' सूधी हैं अहैं न वक्र-गति-वारी
पगी हैं सनेह में लोहार की न कूँची हैं।
नीची कैसे होहि क्यों नीचन पै कैसे परैं
ऊँचन की अँखियाँ रहति अति-ऊँची हैं॥ २॥

कैसे एक विपुल-पुनीत बनि पुलकत
कैसे दूजो पतित कहाइ दुख सहतो।
कैसे एक घर में बधावरो बजत नित
दूजो घर कैसे शोक-दावा माँहिँ दहतो।

'हरिऔध' जीव यदि जानतो अभेद भेद
कैसे तो बिभेद के प्रवाह मॉहि बहतो।
वुरी छूत-छात जो न छाती पै सवार होति
कैसे तो अछूत को अछूत कोऊ कहतो ॥३॥

कौन है परायो कौन आपनो विचारै किन
ऊँच नीच मानि कत पाप मैं पगत है।
मिलि मिलि सबसों सुखित कत होत नॉहिं
क्यों न सुख सबको बिलोकि उमगत है।
'हरिऔध' भागो भागो काहू सो फिरत कत
या जग मैं कौन तेरो सगो ना लगत है।
तन तन मॉहिं जगमगत रतन एक
जन जन मॉहिं एक जोत ही जगत है ॥४॥

सवैया—

मानवता तिनमैं है कहा जे कुरंगन वेधि विनोद हैं पावत।
ते 'हरिऔध' कहॉ हैं दयालु जे वान बिहगन पै हैं चलावत।
है तिनको उर मंजु कहॉ जे अहै मधुपावलि को कलपावत।
है तिनमैं कहॉ कोमलता कुसुमालि को धूल मैं जे हैं मिलावत ॥५॥

दोहा—

रवि ससि काको सग कहहिं काको समभहिं आन।
सबको गिनत समान हैं समता-ममतावान ॥६॥
को वैरी है कौन है दान-वीर को बीर।
सबको वितरत है सुरभि बहि बहि सरस समीर ॥७॥
बिना कहे दानी करत दया दान हरि पीर।
बिन जॉचे सरिसरन मैं नीरद बरसत नीर ॥८॥

दानिन को चित होत है दीन-जनन अनुकूल।
कर सुबरन बरसत रहत भरत बदन ते फूल ॥९॥
तजि उदार जन को हरत दीनन को धन-प्यास।
है काके कर-कमल मैं कमला - मंजु - मवास ॥१०॥

नायक के और भेद

रूप-यौवन-सम्पन्न, गुण मान, राग-रस-ज्ञाता, सुरसिक, सहृदय और नाना-कला-कुशल नायक के धर्मानुसार तीन भेद—१—पति, २—उपपति और ३—वैसिक, तथा अवस्था के अनुसार दो भेद १—मानी और २—प्रोषितपति—माने गये हैं।

उदाहरण

कवित्त—

चोज-वारी बातन मों मोहत मनोज हूँ को
मंजु - मुख - लुरित अलक लोक-फंद है।
साँवरो सलोनो मंद-मंद हँसि टोनी करै
गोरविन - गमन विमोहक गयंद है।
'हरिऔध' बैन कैसे ताकी सुखमा को कहै
जाको हेरि नैन हूँ को नाको होत बंद है।
ओखिन को तारो लोक-हियरा-हरन-वारो
जीवन-म्हारो प्यारो ब्रज-नभ-चंद है ॥ ॥१॥

मगन भयो है मन लालिमा पगन पेखि
टरयो पींडुरी की या सुढार-ढलकन पै।
सुगठन जाँघि जक्यो युगल - जघनहूँ को
रुक्यो काछनी हूँ की सुछबि छलकन पै।

'हरिऔध' राजी भयो नव - रोम-राजी हेरि
मोहि सो गयो है मजु - माल - हलकन पै ।
गोल गोल-अमल-कपोल पै मचलि अन्यो
बाँकुरो - बिहारी की अमोल - अलकन पै ॥ २ ॥

कंज से नयन वैन अमिय सने से अहैं
अलकन हूँ पै आभा नौगुनी लखाई है ।
चितवन-चारु चाल मंजुल - मराल की सी
छलकति रोम रोम छवि - सुखदाई है ।
'हरिऔध' हेरि हेरि लोक-कामिनीन हूँ की
देव - भामिनीन हूँ की मति भरमाई है ।
नैन - अभिराम सुख-धाम घन-स्यामजू की
सुंदरता काम हूँ ते सौगुनी सवाई है ॥ ३ ॥

सवैया—

छलकी सी चहूँघा छई सी परै छवि अंगन माँहिं समाती नहीं ।
सुकुमारता जैसी लसै तन मैं कहूँ तैसियै और दिखाती नहीं ।
'हरिऔध' विलोकत ही वनि आवै लखे अँखिया हूँ अघाती नहीं ।
मन - भावती - साँवरी - सूरत रावरी बावरी काहि बनाती नहीं ॥४॥

१—पति

शास्त्र विधि से विवाहित कुल-मर्यादाशील सुपुरुष को पति कहते हैं ।

सवैया—

धीर गँभीर गुनी गरुओ जेहि गौरव की गरिमा नित गैयत ।
सील सकोच सनेह सनो सुखमा लखि जाको हियो सरसैयत ।
मोद - भरो 'हरिऔध' मनोहर मैन की मूरत जाहि बतैयत ।
री बड़भागिनी भाखे कहा बड़े भागन प्यारो पती जग पैयत ॥१॥

पति के भेद

पति पाँच प्रकार के होते हैं—१—अनुकूल, २—दक्षिण, ३—धृष्ट, ४—शठ और ५—अनभिज्ञ।

अनुकूल

जो पुरुष एक ही विवाहिता पत्नी में अनुराग रखकर दूसरी की कामना नहीं रखता उसको अनुकूल कहते हैं।

सवैया—

लखि प्यारी तिहारी मनोहरता सुर की वनिता हूँ सराहैं नहीं।
मन-मोहनी आनि मिले हूँ कबौं अपने मन माँहि उमाहैं नहीं।
'हरिऔध' बिहाइकै प्रेम तिहारो कछू हम और बिसाहैं नहीं।
तव आनन छोरि कै आन कछू अँखियान बिलोकन चाहैं नहीं ॥१॥

दक्षिण

अनेक स्त्रियों पर समान स्नेह रखनेवाले पति को दक्षिण कहते हैं।

सवैया—

हम ऐसे अजौं अवलोके नहीं अलकावलि पेच परे जे नहीं।
जग मैं जनमे जन ऐसे कहाँ या उरोजन ओर ढरे जे नहीं।
'हरिऔध' न ऐसे सुने छिति मैं छवि नीकी निहारि छरे जे नहीं।
ए बड़ी बड़ी आँखें बधूटिन की गड़ि जात हैं काके करेजे नहीं ॥१॥

धृष्ट

बहुत अपमानित होकर भी जो लज्जित नहीं होता और चाटुकारी करता है उस अधम पति को धृष्ट कहते हैं।

कवित्त—

कैसहूँ जो आपनो किये है मन मेरी आली
नीकी करै ताको जो सँवाचि अब फेरै ना।
रार जो मची है मेरे नैन हिय प्रानन मैं
भलो अहै ताको जो विवेचि तू निवेरै ना।
'हरिऔध' याहू को न मन मैं कछु है आनि
मोको कबौं प्यारे प्राननाथ कहि टेरै ना।
साँची कहै होत बार बार बलिहारी अरी
बाँके नैनवारी क्यो हमारी ओर हेरै ना॥ १॥

शठ

छल-पूर्वक अपराध गोपन करने में निपुण पति को शठ कहते हैं।

कवित्त—

भौंहैं जनि तानै रोस मन मैं न आनै,
हौं कियो न मनमानी मेरी बातन मैं कान दै।
अँखियाँ ललौहैं नाँहि नीर बरसौहैं भई
कहौं करि सौंहैं मेरी पति तू न जान दै।
'हरिऔध' बापुरो न जानै छल छंद ताहि
क्यों न सनमानै निज अंक माँहि थान दै।
मति कलपावै मेरे प्रान कही मेरी मान
एरी प्रानप्यारी मोको हँसि कर पान दै॥ १॥

अनभिज्ञ

जिसको शृंगार रस की सरस क्रियाओं का यथार्थ ज्ञान नही होता ऐसे असमर्थ पुरुष को अनभिज्ञ कहते हैं।

सवैया—

अकुलाये बनै न विलोकत हूँ कत लोक की लीकन डाँकती हो।
अनजान बनी सी कहा जल पै नख ते अखरान को आँकती हो।
'हरिऔध' अबूझ अजों है कहा बिन बूझे भरोखन भाँकती हो।
तरुनी तुम कौन को आन-भरी तिरछी अँखियान ते ताकती हो॥ १॥

२—उपपति

परदारानुरागी पुरुष को उपपति कहते हैं। इसके दो भेद हैं—वचन-चतुर और क्रियाचतुर।

सवैया—

मैन जगावती हैं तन में अपने बस में मनहूँ करि राखैं।
बोले बिना हूँ भुरावति सी बतियानहूँ भाव-भरी बहु भाखैं।
नेमुक नैनन ही 'हरिऔध' को पूरी करैं कितनी अभिलाखैं।
ढारहिं धार सुधा की हिये बहु-प्यार-भरी परतीन की आँखैं॥ १॥

बरवा—

चोरति करि चतुरैया चित को चैन।
ताकति तरुन तिरियवा तिरछे नैन॥ २॥

वचन-चतुर

वचन चातुरी द्वारा पर-स्त्री-संबंधी प्रीति-कार्य्य-साधन-तत्पर पुरुष को वचन-चतुर कहते हैं।

कवित्त—

मोती-माल गंग-तीर-बासी मन मेरो
कुच संभु को उपासी तापै रोस धारियत है।
नानि नानि बाँकी दोऊ भौंहन-कमानन
बिखीले नैन-बानन सों बेधि डारियत है।

'हरिऔध' राखै नाँहिं नेक ध्यान धर्म हूँ को
वेद औ पुरान हूँ को लीक टारियत है।
एरी नैन-तीर-वारी कहा तीर-बासिन को
तीरथ के तीर काहू तीर मारियत है॥ ३॥

चंचलता चौगुनी ठनैगी चंद-मुख चाहि
चाव भरे चटुल-चकोरन चारी मैं।
भीरु-भूरि ह्वैहै भटू भभरि सुगंध-अंध
ठौर ठौर भौंरवारी - भौंर-भीर - भारी मैं।
'हरिऔध' मोर मंजु-वेनी हूँ विथोरि देहै
वृंदावन - छोर की विलास-वारी-वारी मैं।
सारी जरतारी पैन्हि भूलि जनि जा री उतै
आ री प्रान प्यारी तू हमारी फुलवारी मैं॥ ४॥

क्रियाचतुर

क्रियाचातुरी से परस्त्री-सम्बंधी प्रीति-कार्य-साधन-तत्पर पुरुष को क्रियाचतुर कहते हैं।

सवैया—

क्यारिन कूल कछारन मै कल-कुंजन-पुंजन गाजन लागी।
विस्व-विमोहक वारी-कला वगरी चहूँ ओर विराजन लागी।
ए 'हरिऔध' विहाइ कै लाज हूँ लाजवतीनको भाजन लागी।
वावरी कै ब्रज की वनितान को बाँसुरिया बन बाजन लागी॥ १॥

३—वैसिक

वेश्यानुरक्त पुरुष को वैसिक कहते हैं।

सवया—

क्यों हूँ न याम जनात है जात रिझावत ऐसी रहैं रतिआन मैं।
देखत ही मन टूटि परै कछु राखहिँ ऐसी छटा छतिआन मैं।

ए 'हरिऔध' करो कितनो हूँ बिलब पै होत नहीं पतिआन मैं ।
बीस-गुनी मिसिरी ते मिठास है बार-विलासिनी की बतिआन मैं ॥ १ ॥

१—मानी

प्रिया से रुष्ट होकर मान करनेवाला पुरुष मानी कहलाता है ।

कवित्त—

झरसति पूखन प्रकोप की प्रखरता ते
रूखे-रुख तीखन-मरीचिन पे कुम्हिलात ।
कुबचन-प्रबल पवन की झकोर लागे
प्रति-पल वाको वा मृदुल-तन थहरात ।
'हरिऔध' बिरह-दवारि की दपट लागे
महमही - मंजुल - प्रमोद - वारी मुरझात ।
तेरे प्रेम-बारि ही ते एरे वारि-धर स्याम
बाल अलबेली नेह - वेली ज्यों लहलहात ॥ १ ॥

२—प्रोषितपति

विदेश में प्रिया-विरह से विकल और संतप्त पुरुष प्रोषितपति कहलाता है ।'

सवैया—

घोर मचाइ कै सोर घरी घरी घेरि करै घन हूँ बिपरीतै ।
दौरि दिसान महा-भयदाइनि-दामिनि हूँ करै दीह-अनीतै ।
कैसी करैं 'हरिऔध' कहो कै कछू है विदेस की ऐसियै रीतै ।
प्यारी विना वहु-भारी भई यह कारी-डरारी-निसा नहिं बीतै ॥ १ ॥

कैसहूँ मोहि न भूलत है सो पयान-समै को बिसूरिबो भारी ।
होत है दाह घनी उर मैं तुमरी गति याद परै जब प्यारी ।
बावरो सो 'हरिऔध' भयो वह क्यों बिसरै नटि जान अगारी ।
सालती हैं अजहूँ उर मैं अँसुवान भरी अँखियान तिहारी ॥ २ ॥

उद्दीपन-विभाव

उद्दीपन-विभाव

जो रस को उद्दीपित करते हैं उन्हें उद्दीपन-विभाव कहते हैं। सखा, सखी, दूती, ऋतु, पवन, धन, उपवन, चद्र, चाँदनी, पुष्प और परागादि उनके अतर्गत हैं।

उदाहरण

कवित्त—

कुंज - पुंज मैं है मंजु गुंजत मिलिंद-वृंद
छवि - पुंजता है कंज - पुंज मैं कलोलती।
भारवती सौरभ के भार ते विपुल वनि
वैहर - वसंत की है मंद मंद डोलती।
'हरिऔध' लालिमा अनार कचनारन की
ललकि ललकि है लुनाई - मुख खोलती।
मानव - अबौरो - मन वार वार बौरो करि
बौरी-कोकिला है बौरे-आमन पै बोलती ॥ १ ॥

कौमुदी कुमोदिनी की परम - प्रमोदिनी है
कमनीय - मेदिनी है कुमुद - निकर ते।
राजित रजत - द्युति ते है तरु - राजि - दल
रुचिर बनी है वेलि रुचि - रुचिकर ते।
'हरिऔध' राका-रजनी हूँ लोक-रंजिनी है
बहु - अनुरंजिता है कांति - कांतकर ते।
सुधा-धाम बार बार करि वसुधा-तल को
सुधा - बिंदु चुवत सुधाकर के कर ते ॥ २ ॥

दोऊ हैं जलधि - जात सरसात सीकरन
दोऊ हैं बसीकरन - पथ अनुसरते।
दोऊ हैं सुखद ताप - कदन मदन - धाम
सीतलता - सदन सरस - रसधर ते।
'हरिऔध' दोऊ हैं सजीवन स-जीवन के
आजीवन जीवन को मोद हैं वितरते।
सुधा - धार स्रवत धरा पर सुधाधर ते
सुधा - बिंदु चुवत सुधाकर के कर ते ॥ ३ ॥

पुलकित - कोमल - कलित - किसलै समान
सु - ललित - पानि औ मृदुल-पग दरसात।
विकसित - सरस - प्रसून लौं प्रमोद - वारे
प्यारे प्यारे अधर सुगधन-सने लखात।
'हरिऔध' जाकी हरियाली लाली जोवन की
लगे - नेह - बायु मद मंद मंजु लहरात।
लपटी नव - तनु - तमाल अलबेले - लाल
बाल-अलबेली नेह-बेली ज्यों लहलहात ॥ ४ ॥

कत जो न आयो कत आयो तो बसंत-पापी
पावक लगावति पलासन की पाँति है।
कल - कंठ - कूक बहु - विकल बनावति है
बौरे-बौरे आमन विलोकि विलखाति है।
'हरिऔध' बैहर ते विहरि करेजो जात
अवलोकि कुसुम - अवलि अकुलाति है।
पीर-पीरे-पातन ते पीरी परी जाति बाल
सीरे उपचारन ते सीरी परी जाति है ॥ ५ ॥

दोहा—

अमल-धवल-नभ-तल भयो नवल-प्रभा को पाय।
खिले-कमल जल मैं लसत पल पल नव-छबि छाय ॥६॥

निकरत नभ मैं निरखियत रस-मय-किरिन पसारि।
रतनाकर-अकम-रतन नव-रतनन-छबि धारि ॥७॥

मधुर-तान गूँजत गगन तजत तेज गुन भान।
रस-मय करत बसुंधरा समय-सुरन को गान ॥८॥

निर्मल-नीले-नभ दिपत नव-दुतिवंत कलिंद।
फूले-फूले-कमल पै भूले फिरत मिलिंद ॥९॥

हरे लेत काको न मन खिले फल ए लाल।
हरी हरी ए पत्तियाँ हरी भरी ए डाल ॥१०॥

बरवा—

वन बागन मैं मोरवा करत पुकार।
इत उत होत झिंगुरवा घन-झनकार ॥११॥

सखा

समान-शील-व्यसन, सुख दुःखादि में नायक का सच्चा सहायक पुरुष सखा कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

सुख मैं सुखित सदा रहत दुख मैं दुखित दिखात।
सहज-सखा सब दिवस रस बरसत सरसत जात ॥१॥

सखा के भेद

सखा चार प्रकार के होते हैं -१—पीठमर्द, २—विट, ३—चेट और ४-विदूषक।

१—पीठमर्द

मानवती नायिकाओं के प्रसन्न करने में समर्थ सखा पीठमर्द कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

घूमि घूमि घिरि घिरि लगे नभ मैं घन घहरान।
मान छोरि दै मानिनी कही हमारी मान ॥१॥
सरस-देह पादप भये नेह-पाठ करु कंठ।
कोकिल-कंठी मान तजु कूकि उठे कल-कंठ ॥२॥

२—विट

जो सखा सब प्रकार की कलाओं में कुशल होवे उसको विट कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

मोहत ललना-लाल-उर विलसि लालसा माँहिं।
सकल-कला-कोविद सकत कौन कला करि नाँहिं ॥१॥
विविध-भाव प्रगटत रहत सरस एक ते एक।
तिय-पिय-सुख-तन-छाँह बनि छोरत नाँहिं छनेक ॥२॥

३—चेट

नायक-नायिका को यथावसर चातुरी से मिला देने में निपुण सखा चेट कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

कबौं मिलावत कुंज मैं कबौं कालिंदी-कूल।
चेट करत चेटक रहत काल मिले अनुकूल ॥१॥

मुक्तामय कत करत नहिं सींचि बारिधर - गात।
लखे मालती - कुंज मैं कनक - वेलि लहरात॥ २॥
क्यों न मयूरी करति है सफल नयन - जलजात।
कालिंदी के कूल पै बिलसत बारिद - गात॥ ३॥

४—विदूषक

विविध कौतुक, स्वाँग और हास-विलास द्वारा जो नायक और नायिका को आनंदित करता रहता है उसे विदूषक कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

हँसत हँसावत ही रहत रिझवत सहित विवेक।
सौतुक ललना लाल के कौतुक करत कितेक॥ १॥
करत रसिकता ही रहत बसि रसिकन मन माँहिं।
हरि बनि राधा को छलत बनि राधा हरि काँहिं॥ २॥

सखी

जिस सहचरी से नायक-नायिका कोई भेद नहीं छिपाते तथा जो सुख-दुःख में सच्ची हितकारिणी और सहायिका होती है उसे सखी कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

चित - कलिका हित जो बनति प्रातकाल की पौन।
सखी सरिस सुखदाइनी सरसमना है कौन॥ १॥

सखी के भेद

हित-दृष्टि से सखी चार प्रकार की होती है—१–हितकारिणी, २–व्यंग्य-विदग्धा, ३–अंतरंगिणी और ४–बहिरंगिणी। कर्म उसके चार होते हैं—१–मंडन, २–शिक्षा, ३–उपालंभ और ४–परिहास।

१—हितकारिणी

जो नायिका का कार्य शुद्ध हृदय और निष्कपट भाव से करती है वह सखी हितकारिणी कहाती है।

दोहा—

हित ही मैं रत रहति है हितू-सखी दिन-राति।
सुखित सुख बिलोके बनति दुख मैं दुखित दिखाति ॥ १ ॥
तन मन वारत ही रहति धरति न धन को ध्यान।
सखी निबाहति नेह है हित पै ह्वै बलिदान ॥ २ ॥

२—व्यंग्यविदग्धा

उचित अवसर पर जो व्यंग्य-वचन द्वारा अपना कार्य साधन करती अथवा निज अभिप्राय प्रकट करती है, उसे व्यंग्य विदग्धा सखी कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

कत अँगिराति जम्हाति बहु भयो कौन सो तंत।
कत धरकत उर अधर कत अरी भयो छतवंत ॥ १ ॥
बाल कहा तेरे भये लोचन इतने लाल।
वामैं बिलसत लाल हैं परिगो किधौं गुलाल ॥ २ ॥

३—अंतरंगिणी

सर्वभेदज्ञ और प्रत्येक रहस्य की बात जाननेवाली सखी अंतरंगिणी कहाती है। यह सखी जो कार्य जिसके निमित्त करती है उसका ज्ञाता उसको छोड़ अन्य नहीं हो सकता।

उदाहरण

दोहा—

सत्र मम मन ही की करति मान-भगी रहि मौन।
अंतरंगिनी के बिना अंतर जानति कौन ॥ १ ॥

जासु बचाये पति रही क्यों न ताहि पतियाहिं।
तासों अंतर कौन जो अंतर राखत नाँहि ॥ २ ॥

४—बहिरंगिणी

बाहर की जो अनेक बातों से अभिज्ञ होती है और अपना कार्य स्पष्ट बातें कहकर करती है उसको बहिरंगिणी सखी कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

रीझि रिझावति ही रहति मंद-मंद मुसुकाति।
बतिया कहि कहि रस-भरी रस बरसत ही जाति ॥ १ ॥
साध पुजावति सुख लहति विलसति भरे-उमंग।
गरब गहेली हूँ सधति सधी सहेली संग ॥ २ ॥

मंडन

नायिका को वसन-आभूषणों से सजाना, उसके बालों को गूँथ देना इत्यादि मंडन कहलाता है।

दोहा—

सोहत तव गर मैं रहै मो मन बनै निहाल।
सोहन को सोहत रहै मंजु महमही माल ॥ १ ॥
पहिराई चुनि चूनरी सजे सुहावन-साज।
अंजन-रंजित दृग किये पिय-मन-रंजन काज ॥ २ ॥

शिक्षा

सखी शिक्षा संबंधिनी जो बात कहती है उसे शिक्षा कहते हैं।

कवित्त—

दीपक-सिखा-सी-दुति-खासी देह की दिखाय
सौतिन को दुसह-दवा सी दहिबो करो।
भाव-भरी इन अँखियान सों चितै कै
मनमोहन-चितै को चोरि लीबो चहिबो करो।

पाइ परजंक पै पियारे 'हरिऔध' कौंहिँ
अक भरि भावती मयक गहिबो करो।
दाख लौं रसीले रस - वरसीले - वैन बोलि
निज-अभिलाख लाख-लाख कहिबो करो ॥ १ ॥

उपालंभ

नायक एव नायिका को उलाहना देना उपालंभ कहलाता है।

दोहा—

जा रम्म ते सरसत रहत मनसिज - मजुल - वान।
तरुनी तू तानति कहा तापै भौंह - कमान ॥ १ ॥
जाते असरसता लहति परम - सरस - दृग - कोर।
भली भामिनी होति नहिँ ऐसी भौंह - मरोर ॥ २ ॥
वाके छत ते अछत - उर छरछरात दिनरात।
क्यों तेरे तिरछे - नयन वरछी हैं वनि जात ॥ ३ ॥

परिहास

नायिका को हँसाने, छेड़ने अथवा आनंदित करने के लिये सखी जो बात कहती है उसे परिहास कहते हैं।

दोहा—

चख ते चिनगारी कढी चितवन पिय की ओर।
तजि चिनगी चुगिहै कहा आनन - चद - चकोर ॥ १ ॥
उचित मिलन ही मिलन है भलो न अनमिल-सग।
गोरो - तन कारो वनत परसे कारो - रग ॥ २ ॥
है सुदर भोरी - हँसी गोरी - गोरी - देह।
नेह निवाहत कौन है करि नेहिन सों नेह ॥ ३ ॥

दूती

सदेश ले जानेवाली, नायक-नायिका में संयोग करानेवाली और समयोपयोगी वचन-रचना में निपुण स्त्री को दूती कहते हैं। वह तीन प्रकार की होती है—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। उसके कर्म छः हैं; १—विनय, २—स्तुति, ३—निंदा, ४—प्रबोध, ५—संघट्टन, ६—विरहनिवेदन। कभी नायिका स्वय भी दूतत्व करती है उसे स्वयदूती कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

छवि अवलोके मैलो लगत छपाकर है
लोल-लोल-लोचन विलोके ललचाति है।
मधुमयी मंजु-मुसुकान चित चोरति है
मोहनी पै मोहि मोहि मोहित दिखाति है।
'हरिऔध' कमनीय-काम सम तन हेरि
कामिनी की सारी-मान-कामना हेराति है।
रिस-भरी रस-भरे सैनन ते सरसाति
सीरे-सीरे-बैनन ते सीरी परि जाति है ॥१॥

सवैया—

आनन-चंद की जो है चकोरिका चित्त ते ताहि उतारत लाजैं।
चातकी जो घन से तन की अहै तापै न गाज गिराइ कै गाजैं।
जो 'हरिऔध' सुधा न पिआवत तो वसुधा मैं बसेहुँ न भाजैं।
जो सुख-साजन ते न सजावत साजन तो दुख-साज न साजैं ॥२॥

दूती-प्रकार

मधुर और प्रिय वचनों द्वारा अपना कार्य साधन करनेवाली को उत्तमा, कुछ मधुर कुछ तीखी बातों से काम लेनेवाली को मध्यमा और उग्रस्वभावा तथा मधुर-कटुवादिनी को अधमा दूती कहते हैं।

विनय

स्त्री अथवा पुरुष से विनय करके जब दूती कार्य साधन करती है तब उसे विनय कहते हैं।

उदाहरण

उत्तमा दूती

दोहा—

सुधि लीजै मो विनय सुनि गहत पिपासित पाय।
सुधा-पियासे को सकति तू ही सुधा पिआय ॥१॥

मध्यमा

दोहा—

मोहहु मोहित रसिक पै रस बरसहु दै मान।
नयनन तजहु नीरज-नयनि करहु बिनय मम कान ॥१॥

अधमा

दोहा—

कर जोरे हूँ नहिं तजति बरजोरी की बान।
गिनती के हैं सुख-दिवस करु बिनती को ध्यान ॥१॥
काँटे लौं कसकत रहत अस कत बोलत बैन।
अकरुन किये कहा फिरति करु सकरुन ए नैन ॥२॥

स्तुति

जब दूती स्तुति अथवा प्रशंसा द्वारा अपना कार्य साधन करती है तब उसे स्तुति कहते हैं।

उदाहरण

उत्तमा

दोहा—

तेरे जैसे नहिं सुने मधुर-रस-भरे बैन।
ऐसे काके कमल से बड़े बड़े हैं नैन ॥ १ ॥

कवित्त—

बिबस बनाइ वारनादिक बिहंग हूँ को
बनचर बानरादि हूँ को बहरावै है।
बिटप औ बल्ली हूँ बिमोहि बिलमावै वारि
बहत बयार हूँ की गति बिरुझावै है।
'हरिऔध' बूझि देखै बैगुन बिलोकै कहा
बावरी जो ब्रज बनितान को बनावै है।
बिबुध बरूथ बिबुधेस बिधि हूँ को बेधि
बीर बनमाली बन बाँसुरी बजावै है ॥ २ ॥

मध्यमा

दोहा—

कामैं ऐसी सरसता कामैं ऐसो भाव।
कहूँ मिल्यो नहिं भावती तो सम मृदुल-स्वभाव ॥ १ ॥

अधमा

दोहा—

अपनावत ही रहत हैं मोहि लेत हैं मोल।
मेरे लोयन मैं बसे तेरे लोयन लोल ॥ १ ॥

निंदा

नायक अथवा नायिका की निंदा करके दूती का कार्य साधन करना निंदा कहलाता है।

उदाहरण

उत्तमा

दोहा—

सुरसरि - धारा मैं परति वैतरनी को बारि।
कबहूँ निंदित जो बनति परम अनिंदित नारि॥ १॥

मध्यमा

कवित्त—

कहा कलपाये ऐसी कलप - लता सी हूँ को
जीवन -स्वरूप जाके जग मैं जिये के हो।
भलो कौन भाखिहै रखे ते भेद तासों तुम
एक फल जाके नाना - साधन किये के हो।
'हरिऔध' कहत बनै ना पै कहेई बने
खीन लखि ताको जाके जनम लिये के हो।
कूटि कूटि कपट तिहारे पोर पोर भरी
निपट कठोर तुम साँवरे हिये के हो॥ १॥

दोहा—

हौं निदत भूले नहीं है निंदित तव चाल।
क्यो एनी - नैनी कहे परति तनेनी बाल॥ २॥

अधमा

दोहा—

भाल-अंक को कहि बुरो भौंह करति कत बंक।
तू है नाँहि कलंकिनी तो कत लग्यो कलंक ॥ १ ॥

प्रबोध

स्त्री अथवा पुरुष का प्रबोध करके अर्थात् उन्हे समझा बुझाकर जब दूती अपना कार्य साधन करती है तब वह प्रबोध कहलाता है।

उदाहरण

उत्तमा

दोहा—

सुख-रजनी ऐहै बहुरि नसि जैहैं सब संक।
विकसित ह्वैहै उर-कुमुद लखि पिय-बदन-मयंक ॥ १ ॥

मध्यमा

दोहा—

परी जाति कत दूबरी कत तव तन पियरात।
धीर धरे ही भावती दुख के दिवस सिरात ॥ १ ॥

अधमा

दोहा—

वे सोअत सुख-नींद हैं तू रोअति दिन-राति।
वे उत आकुल हैं न तो तू इत कत अकुलाति ॥ १ ॥

संघट्टन

नायक और नायिका के परस्पर सम्मिलन का साधन दूती की जिस क्रिया द्वारा होता है उसे संघट्टन कहते हैं।

उदाहरण

उत्तमा

कवित्त —

गति-मति मान-अपमान की कथान भूलि
तेरे गुन-गान ही की बिरद लियो है री।
दिन - रैन तेरे नैन - बैन ही की बातैं कहै
तेरी तीखी - सैनन पै मन हूँ दियो है री।
रटनि लगी है आठो जाम तेरे नाम ही की
तेरो ही भयो सो 'हरिऔध' को हियो है री।
आली तूने लोनो लानो सोना सों सरीर लहि
सहज-सलोनो हूँ पै टोनो सो कियो है री॥ १॥

कलित - कपोलन पै अलकैं लुरी हैं मंजु
सुललित - आभा लसी अधर - तमोर की।
हियरो हरनवारे हिय पै फबे हैं हार
अगन-प्रभा है आछे - भूखन-अथोर की।
'हरिऔध' वेस - बसनादिक बखाने बनै
आने वनै उर मैं निकाई नैन - कोर की।
एरी बीर काकी मति बावरी बनी है नाँहिं
सु - छवि विलोकि बाँकी नवल-किसोर की॥ २॥

मध्यमा

सवैया—

जीवन है सिगरे जग को लखि जीवन तेरे ही आनन-ओर है।
प्रान है कामिनि को 'हरिऔध' पै हेर्‌यो करै तव-आँखिन-कोर है।
भाग है ऐसो तिहारो भटू इतनी कत कीजत मान - मरोर है।
"है घन-स्याम पै तेरो पपीहरा है ब्रज-चंद पै तेरो चकोर है"॥१॥

अधमा

सवैया—

मैनमयी लखि मूरति स्याम की बीर न कैसहूँ धीर धरैगी।
नैन परी जो कहूँ मुसुकान तो फेर न ऐसो गुमान करैगी॥
साँची कहौं 'हरिऔध' मिले सबही अठिलानि की बानि टरैगी।
का न करैगी अरी तू अबै यह बाँसुरी-तान जो कान परैगी॥१॥

विरह-निवेदन

नायक-नायिका दोनों का विरह दूती एक दूसरे पर जिस कार्य द्वारा प्रकट करती है उसे विरह-निवेदन कहते हैं।

उदाहरण

उत्तमा

कवित्त—

छिन छिन छीजत है परम छबीलो अंग
बिपुल-बिलासवती हिम सी बिलाति है।
रस-हीन सहज-सरलता सरसि होति
सूखति सनेहमयी-सरिता लखाति है।
'हरिऔध' आये तो तुरंत अवलोको चलि
बिधुरा बियोग-बारिनिधि मैं समाति है।
सुधि आये सिहरि सिहरि बहु सिसकति
गात सियराये बाल सीरी परी जाति है॥१॥

दोहा—

नेह-स्वातिजल-दान कै सरसहु घन-अभिराम।
पी पी कहि प्यारी रटति पपिहा लौं तव नाम॥२॥

चलहु बहु सरस बनि रहहु पिय असरस - दुख-पुंज।
कंज - नयनि तौ बिन भई अललित ललित - निकुंज ॥ ३ ॥

मध्यमा

दोहा—

सरसिज है सोई सरस जो सब दिन सरसात।
सूखे - मुँह ते कत कहति तू सखि सूखी - बात ॥ १ ॥
बिकसित ह्वै ह्वै करति है भँवर कोँहिं रस - लीन।
कबौं कमलिनी ना बनति कोमलता ते हीन ॥ २ ॥

अधमा

दोहा—

कहिहै बतिया बहँकि तो कछू न रहिहै हाथ।
कितनी रहति कुरंगिनी एक कुरंगम साथ ॥ १ ॥
देखी कितनी सुंदरी सुने बहु मधुर - बैन।
तेरे ही कामिनि नहीं अहैं कमल से नैन ॥ २ ॥

स्वयंदूती

जो नायिका दूती का कार्य्य स्वय करती है उसे स्वय-दूती कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

कौन सों सोग भये जलजात लौं कोमल आनन है कुम्हलायो।
कौन सी पीर भई उर मैं अहै आँखिन जाते अजौं जल छायो।
साँची कहो 'हरिऔध' कहा भयो जो इतनो मन है मुरझायो।
काके वियोग त्रिभूति मले तन गोरो गुलाव सों क्यो पियरायो ॥१॥

कवित्त—

दूनी आब-ताब है गुलाब गुलदाउदी मैं
आभा उपजाति सी लखाति है निवारी मैं।
चंपा चारु-चाँदनी पै चौगुनी चढ़ी है विभा
सौगुनी-प्रभा है सेत-सेवती सँवारी मैं।
'हरिऔध' जैयै कत कलित-कुसुम काज
कूल कालिंदी की वा अलीनवारी-बारी मैं।
न्यारी-न्यारी छबि के सुगंध-वारे प्यारे-फूल
क्यारी-क्यारी फूले हैं हमारी फुलवारी मैं ॥२॥

अन्य उद्दीपन-विभाव

पवन

दोहा—

परसि परसि काको नहीं पुलकित करत सरीर।
सहज-सुवासन ते सनो सीतल-मंद-मंद-समीर ॥१॥

वन

दोहा—

अलका को मोहत रहति वाकी ललित-निकुंज।
नंदन-अभिनंदन अहै छिति-तल-वन छवि-पुंज ॥१॥
पादप-पुंज-प्रधान-थल खग-मृग-निकर-निवास।
बहु-विलसति वन भूमि है वनि मधु-मंजु-मवास ॥२॥

उपवन

दोहा—

कलित-पादपावलि-लसित ललित-लतान-निकेत।
मंजुल-कुसुमावलि-वलित उपवन है छवि देत ॥१॥

पुष्प

दोहा—

ललकित-लोयन मैं बिलसि बनि छिति-छबि-अनुकूल।
फूले हैं क्यारीन मैं रंग रंग के फूल ॥१॥

पराग

दोहा—

क्यारिन मैं महमह महँकि लहि अलिगन - अनुराग।
बन - बागन विहरत रहत सरस - प्रसून पराग ॥१॥

चंद्र

दोहा—

स्याम स्याम-छवि अंक से अंकित करि निज-अंक।
मोहि मोहि काको नहीं मोहित करत मयंक ॥१॥
नभ मैं कम तारे नहीं काम - रूप अ - कलंक।
बरसत वसुधा मैं सुधा सुधा - निवास - मयंक ॥२॥
कैसे छिटकति चाँदनी करि छबिमय छिति अंक।
क्यों होती रंजित रजनि होतो जो न मयंक ॥३॥
चोर - चैन - हर चारुता - चोर रुचिर - रुचि - रंक।
है चकोर - चित चोर जग - लोचन - चोर - मयंक ॥४॥
केहि आनंदित नहि करत हँसि हँसि बनि सुख - अंक।
प्रकृति - भाल - चंदन - तिलक गगन प्रसून मयंक ॥५॥

चाँदनी

दोहा—

काहू की कीरति - विमल फैली है मन मोहि।
कै चमकति है चाँदनी चारु धरा पै सोहि ॥१॥

चारु - चंद की चाँदनी बिलसी भू - तल माँहिं।
सुधा - धार धावति अहै कैधो वसुधा काहिं ॥ २ ॥

काको है सुख होत नहिं काहि न होत हुलास।
लखे चाँदनी - अक मैं गुल - चाँदनी - बिलास ॥ ३ ॥

कै छिटकी है चाँदनी लहे समय अनुकूल।
राका - रजनी को अहै कैधों कांत - दुकूल ॥ ४ ॥

किधौं बिछी है चाँदनी किधौं प्रकृति को हास।
किधौं खिली है चाँदनी कैधों चंद - बिकास ॥ ५ ॥

षट् ऋतु

वसंत

कवित्त—

पादप को पुंज पूरि गयो पीरे - पातन ते
पाटल - प्रसून हूँ पगागन पगंत है।
कुहू कुहू कैलिया कदंबन पै कूकै लगी
कुंज कुंज काम की कला हूँ प्रगटंत है।
एहो 'हरिऔध' कुंद कंज कचनारन मैं
वगर बजारन बिनोद बगरंत है।
ठौर ठौर भौंरन लग्यो है भौंर - भौंर - वारो
बागन मैं बौर - वारो बगर्‌यो बसंत है ॥ १ ॥

नये - नये - कोंपल मैं मंजरी लगी है मंजु
न्यारी ही भई है छटा दिपत - दिगंत की।
चहूँ ओर चंचरीक - पटली करति गान
आभा भई गगन अनोखे निसिकंत की।
'हरिऔध' छिति पर छाई है छगूनी छटा
चारों ओर सुछबि बनी है छबिवंत की।

पौन के लगे ते कैसो डोलत है तरु-बृंद
कैसी आज फूली फुलबारी है बसंत की ॥ २ ॥

कम कमनीय हैं न जग - अनुरंजिनी हैं
बिलसति कोंपलें बिटप - अंक जेती है
फूले फूले फूलन पै गुंजत मधुप - पुंज
चिरिया हूँ चहकि चहकि चित चेती हैं।
'हरिऔध' लतिकाएँ बिपुल ललित बनि
ललकित लोचन मैं लोच भरि देती हैं।
करि अठखेलियाँ ललामता की लाली रखि
लाल लाल बेलियाँ निहाल करि लेती हैं ॥ ३ ॥

मधु - मोह बनि है मधुप मैं बिराजमान
काकली ह्वै कोकिल - कलाप मैं बसत है।
चौगुनी - चमक बनि राजत मयंक मैं है
चारु - चाँदनी मैं चारुता मिस हँसत है।
'हरिऔध' हरे - हरे तरु मैं हरीतिमा है
छवि - व्याज वारिज - बरूथ मैं बसत है।
सरस - सुमन पै बरसि रस सरसत
बेलिन - बिलास मैं बसत बिलसत है ॥ ४ ॥

फूले हैं पलास कैधौं दहकि दवारि लागी
कूकैं पिक कैधौं कंठ बधिक - प्रवीन को।
उलही धरा पै लसी लतिका - ललित कैधौं
जोहि जोहि जालन सों जकर्‌यो जमीन को।
'हरिऔध' चाहत त्रिखीले - बाँके चानन को
कैधौं बिकस्यो है जूह कुसुम - कलीन को।

एरी वन बागन मैं बगरयो वसंत कैधों
पंचबान खेलत सिकार बिरहीन को॥ ५॥

काढ़ि लैहै क्वैलिया करेजो कूकि कुंजन मे
बावरी बनैहै मौरि आम-अमराई मैं।
गूँजि गूँजि भौंरन की भीर हूं अधीर कैहै
पीर हूँ उठैगी पीरे-पात की पराई मैं।
एहो 'हरिऔध' मेरे हिय ना हुलास रैहै
बारिज-विकास हेरे पास की तराई मैं।
अंतक लौं अंत ए करैंगे काम-तंत-वारे
कत जो न आयो या वसंत की अवाई मै॥ ६॥

मोरि मान सकल गुमान अभिमान हूँ को
मरदि गयो है मेरे मन हूँ मलीन को।
चूर चूर करिकै चपल-चित चैन हूँ को
चोरि लै गयो है चाव कुसुम-कलीन का।
प्रीतम हमारे 'हरिऔध' प्रान-प्यारे बिना
करिकै उजार मंजु केलि की थलीन को।
पारिकै अनंत-सोक-सागर मैं अंत आली
मारिकै चल्यो है री वसंत बिरहीन को॥ ७॥

सवैया—

कै कुसुमावलि है बिकसी अथवा कुसुमाकरता उमही है।
पा मलयानिल-मोहकता मलयाचल सी बनी मंजु मही है।
नंदन के वन सी कमनीयता पादप-पुंज मैं पूरि रही है।
चैत-सुधाकर के कर सौं कढ़ि चारु-सुधा वसुधा पै वही है॥ ८॥

फूलि कै फूलन मैं तन को तरु - किंसुक को तनिकौ लरजै ना।
आम हूँ बौरि कै बाग मैं बूझत बौरी बनावन मैं हरजै ना।
गूँजिबो त्यागि कै भृंग न ताइबे की 'हरिऔध' रखै गरजै ना।
कूकि कै काढ़त प्रान क्यों कोऊ कसाइनी क्वैलिया को बरजै ना॥ ९॥

दोहा—

कुसुमित करि उपवन विपिन बनि बनि बहु छबिवंत।
बरबस लोयन मैं बसत बिलसत - सरस - बसंत॥१०॥

बसि बसि जन - लोयनन मैं ललकित-चित हरि लेति।
सेमल - सुमन - ललामता लालायित करि देति॥११॥

काको मन मोहत नहीं कासों लहत न प्यार।
चैत - सित - सिता मैं बिलसि सेत - सुमन - कचनार॥१२॥

को नहिं ललकत बहु - लसित हेरि पलासन - पाँति।
कौन लालसा कुसुम - कुल - लाली लखि न ललाति॥१३॥

आकर होतो कुसुम को जो कुसुमाकर नाँहिं।
कैसे सुंदर - कुसुम - सर मिलत कुसुम - सर काँहिं॥१४॥

कैसे बनि विकसित - विपुल बिकसत सुमन - अनंत।
कैसे रस - बरसत रहत सरसत जो न बसंत॥१५॥

ग्रीष्म

कवित्त—

सूख्यो कठ ताल साथ रसना दहन लागी
पूखन विखै मैं ओठ अजहूँ न डोले हैं।
बानी जू सिधानीं त्रास मानि बहु ताप केरो
आतप - प्रताप के न वैन जऊ बोले हैं।
'हरिऔध' बापुरो कहै कछु कैसे कहै
तन ते विचार के किये ही कढ़े सोले हैं।

दावा किये उर मैं निदाघ - दाघ आँकन कौ
अनुमान - पग हूँ मैं परत फफोले है ॥ १ ॥

तजिकै तमोल तिल - तेल तहखानन कौ
तरुनी - तियान ते बिदूरता गहत है।
बरफ बनाई वारुनी ते ह्वै बिरत बीर
व्यजन - बयार ते विनोद न लहत है।
'हरिऔध' सीरे - सीरे व्यंजन बिहाय सारे।
बसन - बिभूखनादि हूँ को ना चहत है।
जोर भये जगत मैं जरत - जलाकन के
जीवन को जीवन मैं जीवन रहत है ॥ २ ॥

लपट औ बिदहत लूकन को कावा होत
वायु दहि दावा होत दिनकर - चंड ते।
'हरिऔध' अगनित - आयत अलावा होत
रज - कन लावा होत तपन - अखंड ते।
दिसि दिसि दगधित - धूरन को धावा होत
ग्रीखम - छलावा होत दीधित - उदंड ते।
जगत पजावा होत तीन - लोक आवा होत
भूमि तपि तावा होत आतप - प्रचंड ते ॥ ३ ॥

कहा इत ठाढ़ी करै लखै कि न कैसो दव
देहिन दिसान को दहत दरसत है।
तरुन के पातन कौ तन तचि कारो भयो
तोय तपि ताप सो तपन परसत है।
'हरिऔध' गिरिन को गात गरमानो घनो
जरि जरि रज को समूह झरसत है।

भागि चलु एरी भौन मॉहिं भोर ही ते आज
आतप - अगार ते अँगार बरसत है ॥ ४ ॥

अमित - उमग सों बिहडित ह्वै बार बार
ठडता अठडता भई है खड खड की।
अड बड बाँकी बरिवडता हूँ होन लागी
बीर! घनसार - खड हूँ से बरिवड की।
ग्रीखम - प्रचड की प्रचडता मै 'हरिऔध'
खडित उदंडता भई है ब्रहमड की।
दहहिं उदड ह्वै अखड - महि - मडल को
दावा - दह - मडित - मरीचैं मारतड की ॥ ५ ॥

आतप मैं पूखन की प्रखर मरीचिन ते
थर थर रूखन की पाँति हूँ कँपति है।
जीवन की भाखै कौन जीवन बिना हू जरि
रज की जमाति नाम - जीवन जपति है।
'हरिऔध' भभरि भभूकन औ लूकन ते
छायावान - कुजन मैं छाया हूँ छपति है।
ओम ते जलाकन के जगत पजावा भयो
भौन भये आवा भूमि तावा सी तपति है ॥ ६ ॥

सूखे जात तपरितु - त्रास ते सरित सर
कूपन मैं आप दुरि ताप ते बचत है।
पानिप - विहीनता विलोकि वारि-वारन की
वारिधि के पेट मॉहि पानी ना पचत है।
'हरिऔध' भीखनता हेरिकै भभूकन की
भूरि - भय - अभिभूत भूतल जॅचत है।

पल पल बहु - हिम - जल ते सिंचत तऊ
तआ लौं स - अचल हिमाचल तपत है ।।७।।

बार बार बरि बरि उठहिं विपुल - वन
पावक मैं पादपता पादप की पगी है।
तपरितु - ताप ते तवा सम तपति महि
वारि हूँ की सीतलता आतप ते भगी है।
'हरिऔध' भरे से अगार हैं अँगारन सो
आग सी वगर औ बजारन मैं लगी है।
ज्वाल उगिलत ज्वालामुखी के समान रवि
ज्वालमाला सारे जगती - तल मैं जगी है ।।८।।

प्रतपित तपरितु - ताप ते वसुधरा है
प्रलय - प्रकोप ते तिहूँ पुर किधौं तये।
पावक - दुरंत ते दिगंत है दहत किधौं
दावा - मय सेस के सहस - फन ह्वै गये।
'हरिऔध' कोऊ दव - गिरी है वमत दव
नरक - अँगार कैधौं छिति - तल पै छये।
खुलिगो तिलोचन को तीसरो विलोचन कै
दिव माँहिं द्वादसो दिवाकर उदै भये ।।९।।

दावामय बने सीरे सीरे सारे - उपचार
सेस - फन साँस भई सरस - समीरता।
पावक ते पूरि गये सरित सरोवरादि
नभ छाई धूरि बनि धरती - अधीरता।
'हरिऔध' तपरितु - तीखन - तपन तपे
तात भो तुहिन लोप भई नीर - नीरता।

चंदनता चूर चूर भई चारु - चंदन की
दूर भई सिगरी उसीर की उसीरता ॥१०॥

सवैया—

लेप उसीर को है सरसावत भावत चंदन-चूर बगारो।
सेद-सनो-तन है सुख पावत सीरे-समीर को पाइ सहारो॥
ही अनुरागत है अवलोकत सीतल-बारि है लागत प्यारो।
तावन-वारो उपावन हूँ किये आयो निदाघ सतावन-वारो॥११॥

भीखन भोर ही ते बनि पूखन है जन के तन को बहु तावत।
आग लगाइ अगारन माँहि अँगार धरातल पै बगरावत॥
का 'हरिऔध' करै कित जाय अहै तप-ताप अपार तपावत।
ना तहखानन मैं कल आवति ना खसखानन मैं सुख पावत॥१२॥

दोहा—

निज-जननी को देखि दुख उठति ताप लहि भूरि।
धधकत दव लखि धरनि मैं रवि दिसि धावति धूरि॥१३॥

दहन बने रवि-करन के 'दाह' न सकत निवारि।
कैसे हूँ उबरत नहीं जो न बरत जन बारि॥१४॥

काहि बहु तपावत नहीं तपरितु - आतप - ताप।
तपन आपहूँ करन ते पिअत सरित सर आप॥१५॥

का अचरज जो बहु जगी जग-जीवन की प्यास।
वन को नाम जपति अहै जरि जरि वन की घास॥१६॥

पावस

कवित्त—

प्यारे - प्यारे तन कारे-घन घूमन चहूँघा लगे
तन मन बापुरे बिदेसिन के तरजे।

उलही ललित लतिका हूँ लहरान लागी।
सलिल-सने से भये सूखे रहे थर जे।
'हरिऔध' धूँधरित धुरवा दिसान कोने
फोरैं काम केकी ए न मानैं बीर बरजे।
पीरद वियोगिनी के धीरद सँयोगिनी के
नीरद के गगन नगारे आनि गरजे॥ १॥

कुंजन म वार वार कूकत कलापी-कुल
पपिहा पुकार वार बार प्रीति परखत।
घूमि घूमि घेरि बार बार घन घहरत
हिलि हिलि तरु बार वार चित करखत।
'हरिऔध' वार बार झिल्ली-झनकार होति
तिय-हिय लागि बार वार पिय हरखत।
बीजुरी बिकासित करद व्योम वार वार
बारिधर वार बार बारि-धारा बरखत॥ २॥

बनी ठनी बिबिध-बिलासवती-बाल होय
बास बँगलान होय बसन बसा रहै।
वार बार बीजुरी को विपुल-विकास होय
बरखत बारि होय बारिद घिरा रहै॥
'हरिऔध' बीना वेनु वजत स-मोद होय
बाँदी होय वेना होय बढ़त विभा रहै।
बीरा होय बीरी होय बारुनी बयार होय
बारी वैस होय तबै बरखा-बहार है॥ ३॥

कारी कारी घटा नभ घूमि घहरान लागी
बावरी हमारी तऊ बतिया बनी कहाँ।

'हरिऔध' प्यारी छवि छाई अवनी-तल पै
पावै मोद सीतल ह्वै तबौं मेरो ही कहाँ।
लाग करि आई बाग बिरह दबाइबे कौ
एरी पै अभाग - वारी पावै सुवरी कहाँ।
जौं लौंया हमारो जी हरा न नैकौं होन पायो
पातकी - पपीहरा पुकारयो तौ लौं पी कहाँ ॥ ४ ॥

भूखन विना ही भूरि भूखित भई सी लसै
भावुकता दीखै भामिनी के भाव भोरे मैं।
चंचल-चितौन चित माँहिं चुभि चुभि जाति
चारुताई - चौगुनी लखाति चारु-डोरे मैं ॥
पन्नगी सी पेंग पारि पारि कै पलटि जात
लपकि लपटि जात 'हरिऔध'-कोरे मैं।
ऊँची-ऊँची - तानन ते कानन सुधा बगारि
गोरे - गोरे - आनन की झूलति हिँडोरे मैं ॥ ५ ॥

सवैया—

या कजरारी घटान-छटान को बैठी अटान बिलोकत जाति है।
मोर मयूरिन को लखि कै मन ही मन मोद-भरी मुसकाति है ॥
प्रात परी सी घरी ही घरी 'हरिऔध' के अंक परी अलसाति है।
बाल बिलासवतीन को चोर बिलासमयी बरसात की राति है ॥६॥

चहुँ-ओर पयोद बिलोकन मैं निज मोद-भरो मन दीबो करो।
करि कौतुक हूँ कल-कूजन मैं हियरा हमरो हरि लीबो करो।
'हरिऔध' मयूरिन सो मिलिकै नव-प्रेम-सुधा नित पीबो करो।
चोरवा चित को हित कीनो भटू मोरवा सोरवा अब कीबो करो ॥७॥

दोहा—

वीर धीर कैसे धरहुँ रहत न चित में चेत।
परम अधीर-पपीहरा पी पी कहि जिय लेत॥ ८॥

अरुन पीत सित कत करत स्याम सलोनो अंग।
कत आदर बद बनत हैं बदलि बदलि कै रंग॥ ९॥

मो मन ही मानत नहीं कहा करैगो मैन।
बादर के बरसे कहा जब जल बरसत नैन॥ १०॥

कवित्त—

शरद्

मंद-मंद-हसन गगन बिच चंद लाग्यो
करतूति दामिनी भई है कला-नट सी।
निरमल-जल-वारे सरन खिले हैं कंज
जिन पै लगि है भौंर भौरन की ठट सी।
'हरिऔध' चहूँ ओर सरद बिकास पायो
पावस-प्रतापी की गई है आयु घट सी।
चटकीली चाँदनी ते रंजित भई है भूमि
कढ़ति दिसान सो सुगंध की लपट सी॥ १॥

बिना कीच कैसी स्वच्छ राजति बसुंधरा है
कैसी मंजु-नीलिमा आकास में बसति है।
गंध लै समीर हूँ वहत मंद मंद कैसो
कैसी यह बिमल-दिसा हूँ बिहँसति है।
'हरिऔध' दीसत हैं सर में सरोज कैसे
धीर बहि कैसी सरिता हूँ सरसति है।
सोहत है सीतल मयंक कैसो नभ माँहि
कैसी अवनी-तल पै चाँदनी लसति है॥ २॥

नीर-वारे कारे कारे घन की निकाई नसी
नीलिमा अनत - नभ - मडल की नीकी है।
केका - रव केकिन - कदब ते अनाकुल ह्वै
वहु सोभा हस - अवली ते अवनी की है।
'हरिऔध' घोर अंधकार हूँ न दीखै कहूँ
आभा चहूँ ओर चद - वारी रजनी की है।
चपलाई चपला की अब ना लखाई परै
छिति पर छाई चारुताई चाँदनी की है ॥ ३ ॥

विकसित - वारिज - वरूथ में बढ़ी है बिभा
छबि अधिकाई भूरि - भृंग - लपटान की।
घेरि घेरि घूमत दिखात हैं न कारे - घन
घरी घरी होति नाँहिं घहर घटान की।
'हरिऔध' अनुपम - सरद - अवाई देखि
आभा भई औरै आज आँगन अटान की।
छन छन चाँदनी ते वनति छबीली छिति
छूटे चद - मंडल ते छहर छटान की ॥ ४ ॥

विमल - विकास ते गगन विकसित भयो
परम - प्रकास - पुंज पसर्‍यो धरा पै है।
दीपति-दुगूनी सो दिखाति है दिसा हूँ दिव्य
राजत रजत द्रुम - दलन - प्रभा पै है।
'हरिऔध' विपुल-विकासिनी-विभा की वात
पूनों की विभावरी की भाखी जात कापै है।
छीर-धार जैसी चारु - चाँदनी चहूँघा लसै
स्रवत सुधा सो आज चंद वसुधा पै है ॥ ५ ॥

छीरनिधि कैधौं आज छहरत भूतल पै
छायानाथ कैधो छपानाथ मिस ऊगा है।
सुभ्रता सतोगुन की राजत दिगंत मै के
समवेत - सेतता तिलोक की अजूवा है।
'हरिऔध सरद मै कैधौं सुर - मंडल ने
रजत - मयी कै मंजु - मेदिनी को पूजा है।
कोऊ नट-कीली जोति कैधौं अटकीली भई
चटकीली - चाँदनी कै वगरी चहूधा है ॥ ६ ॥

कैधौं महा तीव्र - तेज-वारो वड़ो-तारो कोऊ
तजिकै अनंत या धरा की ओर छूट्यो है।
कैधौं ओप - वारे असुरारि को अपार जूह
मोद मानि सृंग पै हिमाचल के जूट्यो है।
'हरिऔध' कैधो चारु-सरद-सिता है लसी
कैधौं भूपै हीरा की कनीन कोऊ कूट्यो है।
छीरनिधि कैधौं आज फूट्यो है वसुंधरा पै
छिति पै छपाकर कै नभ छोरि टूट्यो है ॥ ७ ॥

अंतक लौं दिव मैं दिपत निसिकंत
कै प्रकास प्रलै - काल के दुरंत-दिनपत को।
महा - ताप - वारो चलै मारुत चहूँघा किधौं
स्वास त्रिख - वारो है फनीस फुंकरत को।
'हरिऔध' किधौं तीव्र - तारक - पतन होत
पावक वमत कै त्रिसूल पसुपत को।
पसरी कराल - काल - सरद -जुन्हैया किधौं
ज्वालमाल आवत है जारत जगत को ॥ ८ ॥

हित तू हमारो नाथ कीनो ना हिमत माँहिं
कैसहूँ सिसिर मैं न मानस सम्हारयो तू।
आवन को तंत तेरो भयो या बसंत माँहिं
मेरो जिय ग्रीखम -जालकन में जारयो तू।
'हरिऔध' का भो जो न पावस-प्रताप माँहिं
मेरे तन-तापन को तामस निवारयो तू।
जरद भई हूँ मारी करद करेजे काम
कैसा मेरो दरद सरद से बिसारयो तू॥ ६॥

सवैया—
मूरतिमान कै मोद लसै कै विनोद-भरो रजनी-मुख राजै।
भाग-भरी जग की जननी के सु-भाल को कै यह भूखन भ्राजै।
कै 'हरिऔध' सतोगुन की यह सीतलता भरी सूरति छाजै।
पारद-पुज कै रूप धरे फबै कै नभ सारद-चद विराजै॥१०॥

नव-नीलिमा या नभ की हमरो यह भाव-भरो मन वेधत है।
वहि वासमयी यह सीरी-बयार बिनोदन हूँ को बगेदत है।
'हरिऔध' विना सब सारद-सुदर-साज करेजो कुरेदत है।
छुटै छोभ हूँ ना रतिया को छनौ छतियाको छपाकर छेदत है॥११॥

दोहा—
सारद-ससि मोहत गगन वरसत सुरस-अथोर।
दूनी भू-आभा भई छई छटा चहुँ ओर॥१२॥
औरै आभा नभ वसी विभा लसी ससि माँहिं।
वसुधा भयी सुधामयी तारे तरनि लखाहिं॥१३॥

हेमन्त

कवित्त—
तीखी-जोति जाल हूँ मैं जरत-मसाल हूँ मैं
जगी ज्वालमाल हूँ मैं लपट्यो लसंत है।

कूलन कछार हूँ मैं सरित सेवार हूँ मैं
बन मैं बयार हूँ मैं बहु बिहरंत है।
'हरिऔध' व्योम हूँ मैं तारन के तोम हूँ मैं
सूरज मैं सोम हूँ मै दरश्यो सतंत है।
हसन-अहार हूँ मैं हिम के पहार हूँ मैं
हीरा हीर-हार हूँ मै राजत हेमंत है ॥१॥

पोर पोर आँगुरी की बारि ते गरन लागी
सीकर मलीन या दिगंतन करै लगो।
कोमल मरीचैं ह्वै गई हैं मारतंड हूँ की
आतप मैं प्रानिन को प्रेम हूँ अरै लगो।
'हरिऔध' भू पर लखात है हेमंत छायो
दिन दिन बासर को गात हूँ गरै लगो।
या तन को सीरी-पौन परसे कसाला होत
पादप के पातन पै पाला हूँ परै लगो ॥२॥

बदन दुराये ही हरत रैन मैं मयंक
त्रासै ते समीर बीर सरद भयो सो है।
भू तजि लखात नभ-जात बारि सीकर ह्वै
गात सेत गगन गिरीन ह्वै गयो सो है॥
'हरिऔध' महा उतपात ते हेमंत ही के
धूसरित बरन दिगंतन लयो सो है।
दबक्यो दिवाकर दिखात अति भीत ही ते
सीत ही ते संकुचित बासर भयो सो है ॥३॥

सिसकत रहत तमीपति रजनि माँहि
तमरिपु हूँ को होत कढ़त कसाला है।

सी सी करि घरी घरी घूमत चहूँघा रहै
सीरी-पौन हूँ को गरमी को परयो लाला है।
'हरिऔध' आकुल ह्वै अरो खरो रूख हूँ है
ठरो सीत-भरो वाको ठौर हूँ को ठाला है।
बूझि परै वाला हिम-गाला सी दुसाला माँहिं
पाये सीतकाल ज्वालमाला भई पाला है ॥४॥

दीखै सीकरन माँहिं सपरि गयो सो ससी
दिवानाथ लका ओर आकुल अरे अहैं।
सीरी साँस भरत अधीर ह्वै समीरन हूँ
सरित सरोवर हूँ हिम मैं गरे अहैं।
'हरिऔध' पावक हूँ पाहन मैं पैठ्यो जात
दलन दुराये गात पादप खरे अहैं।
पाला नाँहि परयो सीत प्रबल प्रमाद ही ते
प्रान बिन तारे आइ पातन परे अहैं ॥५॥

सीतल हिमाचल-दरी सी सब साला लगैं
सगिनी प्रतीति होति सुधा सीरे-पक की।
माला लगै मोती की हिमोपल-जमाति जैसी
कामिनी जनाति है विभूति हिम-अंक की।
'हरिऔध' हेरत हिमंत करतूति ऐसी
तुहिन-सनी सी है सुपेती परजक की।
पाला लगै पावक दुसाला लगै कंज-पात
रवि की मरीचि लागैं किरनैं मयंक की ॥६॥

पाला को कसाला ताहि कंपित न करि पैहै
जाके कंठ माँहिं मृग नाभि मजु-माला है।

बहि बहि सीतल - समीर क्यों सतैहै ताहि
सकल - बिभूतिमयी जाकी सुख - साला है ।
'हरिऔध' ताको हिम-पात को कहा है त्रास
जाके पास परम - मधुर - मधु - प्याला है ।
जगी ज्वाल-माला है बसन तूल-वाला अहै
बाला है दुसाला है हेमंत को मसाला है ॥ ७ ॥

धाई चली आवति है कैधों ध्रुव-धाम ही ते
कैधो गिरी भू पै चंद-मंडल के कोरे ते ।
कैधो याहि काढ़्यो कोऊ उदक-सरीर गारि
कैधों बनी सीतलता जग की निचोरे ते ।
'हरिऔध' कहै ऐसी दुसह - हिमंत - वात
कैधो भई सीरी बार बार हिम बोरे ते ।
कैधों चली चंदन परसि मलयाचल को
कैधो कढ़ि आवति हिमाचल के कोरे ते ॥ ८ ॥

बात ना चलैये नाथ सिसिर बितावन की
सुरति बसंत मैं बिसारिकै न फूल तू ।
गरब न कीजै भूलि ग्रीखम गँवावन को
पावस न आवन उमंग मैं न भूलै तू ।
'हरिऔध' कैसो तेरो कठिन करेजो है जो
सरद समैया हूँ मैं रह्यो प्रतिकूलै तू ।
कीने केते तंतन के प्रानन को अंत ह्वैहै
कही मानि कंत या हेमंत को न भूलै तू ॥ ६ ॥

सवैया—

फाग रचै पिय सो सिसिरै पति साथ बसंत मैं बागन होवै ।
ग्रीखम मैं तहखाने बसै घन की छवि पावस मैं सँग जोवै ।

भाग-भरी 'हरिऔध' तिया सुख सों अपनो सब साज सँजोवै।
साथ लखै सरदै नभ चंद हेमंत मैं कंत-गरे लगि सोवै॥१०॥

कैधों प्रभाकर-आतप मै अरे कै मद-प्यालन को अपनाये।
कैधों धरे पट-तूल-भरे किधौं साल-दुसालन सो लपटाये।
सीत हेमंत को कैधों टरै 'हरिऔध' अधूम-अगार तपाये।
कै कमनीय उरोजन-वारी सरोज-मुखीन को अंक लगाये॥११॥

दोहा—

जीव जंतु की बात का तृन-तरु होत सभीत।
पाला को लहि बिपुल-बल पाला-मारत सीत॥१२॥

भूमि कुहासामय भई सीत न समझत पीर।
दुरि दिन बितवत दिवसपति सर सर चलत समीर॥१३॥

तृन-तरु-तन जीवन-बदन भाफ-पुंज है भूरि।
किधौं कुहासा है परत पसरत पुहुमी पूरि॥१४॥

शिशिर

कवित्त—

घटी-जाति-राति हूँ मै दिन अधिकात हूँ मैं
पियरात पात हूँ मैं प्रगट जनावै है।
तीखे होत घाम हूँ मैं केते धूम धाम हूँ मैं
ललना ललाम हूँ मैं रमत लखावै है।
'हरिऔध' तान हूँ मैं रंग-वारे-गान हूँ मैं
आन-वारी बान हूँ मै मधुर दिखावै है।
चोप चाव चैन हूँ मैं मद-मद बैन हूँ मै
मुद-ऐन-ऐन हूँ मैं सिसिर सुहावै है॥१॥

तोख तन पावै तूल - भरे कपरे के घरे
अजहूँ मलीनता दिगंत की गई नहीं।
प्यारे लगैं भौन भारी - भारी परदान - वारे
भीखनता अजौं भानु - कर ने लई नहीं।
'हरिऔध' चहूँ ओर सिसिर छयो तो कहा
आप हूँ मैं सीतलता - सहज भई नहीं।
मंजुल - निकाई चारु चंद मैं समाई नाँहिं
चारुता - अनूठी चाँदनी मैं चितई नहीं ॥ ॥ २ ॥

साथ प्राननाथ के सिसिर मैं समोद - बाल
सरित सरोवरादि माँहिं अवगाहै ना।
बार बार धूप ही मैं बैठे छांय - बारी जाव
सीत-छोभ माँहि छकी चाहै छनौ छाँहै ना।
'हरिऔध' सी सी करै सीतल - समीर लगे
सीतलता वाकी अजौं सुमुखी सराहै ना।
चाँदनी मैं कढ़े नेकौ चित मैं उमाहै नाँहिं
चंद-मुखी चाव करि चंद हूँ को चाहै ना ॥ ३ ॥

तपि कै तमारि निज तीखन - मरीचिन ते
नेकौ सीत प्रबल - प्रमादन को तोरै ना।
पावक को दहत - अँगारो पट तूल - डारो
पूरो पूरो हिम को महत्त - मान मोरै ना।
'हरिऔध' सिसिर समैया हूँ मैं सीरी-पौन
गौन करि भौनन मैं देत दुख थोरै ना।
औरन की कहा पाई जरदी पतौअन हूँ
सर्दी मरदी कै तऊ बेदरदी छोरै ना ॥ ४ ॥

सवैया—

भावत ना सरपेच असुंदर कान के कुंडल को कहती है।
बाजू धरै भुज मैं न भटू कर सों कल-कंकन ना गहती है।
माह मैं ए 'हरिऔध' मनोहर - हार हूँ ना उर पै बहती है।
कंठ-सिरी मन मैं न टिकै कटि-किंकिनी ते नटि कै रहती है॥ ५॥

तीसी लसी बहु-खेतन मैं अपनी कुसुमावलि सों छबि छावत।
पात चने के हरे हरे कोमल काकी नहीं अँखिया बेलमावत।
ए 'हरिऔध' प्रसून केराव के लै चित काहि नहीं ललचावत।
मानस काको नहीं सरसे सरसों के सुहावने फूल लुभावत॥ ६॥

मंजुल - वायु लगे बल खाइ बिलोचन माँहि समाय रही हैं।
ओस की बूँदन सों सरसाय सहेलिन माँहि सोहाय रही हैं।
ए 'हरिऔध' किती तितिलीन को प्यार से पास बुलाय रही हैं।
पीरे - प्रसूनन सों बिलसी उलही रहरैं लहराय रही हैं॥ ७॥

दोहा—

सिता नहीं प्यारी लगति ससि हूँ करत स-भीत।
निसि सियराये ही बढ़ति सिसिर समय को सीत॥ ८॥

उर मैं हिम-सर सो लगत सिहरत सकल - सरीर।
सी सी कहि सिसकत न को परसत सिसिर-समीर॥ ९॥

परि साँसत मैं सीत की हरति रहति है ऊब।
हरे हरे निज - दलन मिस हरे हरे कहि दूब॥ १०॥

लोक सीत - साँसत सहत दुरि दिन बितवत घाम।
सिसिर माँहि कुहरा परे मचत महा कुहराम॥ ११॥

ओस - सीकरन माँहि दुरि सीत सहति भरि ऊब।
हरे हरे कोमल - दलन - वलित दूबरी - दूब॥ १२॥

शिशिर-अंतर्गत होरी

कवित्त——

द्वारन को दर को दरीचिन को देहरी को
दिसन को देहिन को रंजित कीनो है।
बगर को बीथिन को बाटन बजारन को
बिटप को बेलिन को कीनो रँग भीनो है।
'हरिऔध' अबिर उड़ाइ कै अवासन को
औरै ओप अवनि को आँगन को दीनो है।
नूपुर को नासिका को नथ को नवेलिन को
बाल अलबेलिन को लाल करि लीनो है॥ १॥

तबल पै तारन पै तंत्रिन तमूरन पै
तान-बारे तन पै प्रवाल तरसत है।
कानन पै कुंजन पै कंज पै कुमोदिनी पै
क्यारिन पै कूल पै ललाई दरसत है।
'हरिऔध' आनन पै अंगन अवनि हूँ पै
ऐन पै अटा पै अरुनाई अरसत है।
गोधन पै गिरि पै गवैयन पै गोपन पै
गोपिन के गोल पै गुलाल बरसत है॥ २॥

ऐसो बाढ़्यो फाग को प्रपंच ब्रज-बीथिन मैं
बीज लालिमा को मानों लोकन मैं ब्वै गयो।
लाल भयो गगन अवनि सब लाल भई
दिसन ललाई छाई रवि-तेज ख्वै गयो।
'हरिऔध' लाल लाल हेरि गिरि तरु तोम
नर पसु पंखी मीन बिधि-ज्ञान ग्वै गयो।
लाग्यो जौ लौं झाँकन झरोखे सो उझकि
तौ लौं रातो मुख बापुरे-बिधाता हू को ह्वै गयो॥ ३॥

बोलि बोलि बैस - वारी ब्रज की बधूटिन को
लूट सी करी है वा अबीर-वारे-थाल की।
मारि पिचकारी ताकि कलित - कपोलन पै
लाल लाल मंडली बनाई ग्वाल-बाल की।
'हरिऔध' चकित बनति बहु चौंकत सी
चोरत सी चाल काहू मंजुल - मराल की।
गोरे - गोरे-गाल-वारी ए री वह गोरी-बाल
लाल पै चली है मूठ भरि कै गुलाल की ॥ ४॥

गरबीले - ग्वारन की गारी हूँ न कान कीनी
तनक न मानी आन तीखी-तान-तारी की।
रंग की उमग की अनंग - भरे बैनन की
सुरति न कीनी साँवरे की गति न्यारी की।
'हरिऔध' ध्यान मैं न आनी धोखे हूँ धमार
धूम हूँ धमार - वारे धीर - धुरधारी की।
मीड़ित - गुलाल - मंजु - वदन - रसाल मोरि
बिहँसि बचाई बाल चोट पिचकारी की ॥ ५ ॥

गावत है गारी भरो गीतन असंक ह्वै कै
बोलन कबीर मैं निसंक अति दरसाय।
लाल कीनो बीथिन बजारन गुलाल फेंकि
अबिर उड़ाइ लीनी अरुन दिसा बनाय।
'हरिऔध' ऐसो अपमान कैसे सह्यो परै
ललिते कहा तू इतो रही आज अरगाय।
गहि कै गरब वाको होरी को निवारै क्यों न
ऊधम मचावै कौन ए री बरसाने आय ॥ ६ ॥

डारि दीनो रंग तो उमंग कत ऊनो भयो
बिगर्‍यो कहा जो मुख माँहि मली रोरी है।
कुंकुम चलाये कौन हानि भई अंगन को
मारि पिचुकारी कौन करी बरजोरी है।
'हरिऔध' तेरो होत कहा अपकार है
जो बार बार ग्वालन की बजति थपोरी है।
रूसन को रार को न रोस को कछू है काम
एरी वृखभानु की किसोरी आज होरी है ॥७॥

ठानत हो सदा हठ आपनी ही बातन को
ताके रोकिबे को कहाँ काको को सहेजिहै।
होइ जैहे कछू विपरीति तो बतावो लाल
बरसाने कौन सो सँदेसो कोऊ भेजिहै।
'हरिऔध' अबिर गुलाल लौं बनी है बात
बूझि देखो कहँ लौं करेजो परतेजिहै।
पुप्प-रस-कनिका लगे ते जाको पीर होति
ताको अंग कैसे रंग-धावन अँगेजिहै ॥८॥

कत पिचकारी कर माँहिं लीने आवत है
ब्रज मैं जनात तू तो निपट हठीलो है।
नेक मेरी बातन को भूलि ना करत कान
होरी के गुमान मैं गजब गरबीलो है।
'हरिऔध' कहा लाभ अनरस कीने होत
सुबस बसे हूँ ब्रज कैसो तू लजीलो है।
ए हो लाल वा पै रंग छोरिबो छजत नाँहिं
गात-रंग ही सो वाको बसन रँगीलो है ॥९॥

बीर बरसानो छोरि गोकुल गई ही आज
जान्यो ना गोपाल ऐसो ऊधम मचायहै।
सारी बोरि दीनी सारो गात करि लीनो लाल
जैसो छल कीनो ताहि कैसे बतरायहैं।
'हरिऔध' अब तो न आपने रहे हैं नैन
करिकै उपाय कौन इनै समझायहैं।
अंग लाग्यो रग तो सलिल सो छुडाय लैहैं
नेह सग लाग्यो तासों कैसे छूटि पायहैं ॥१०॥

छोरो रग चाव सों हमारे इन अगन पै
कबहूँ कछू ना लाल भूलि हम कहिहैं।
बोरि दीजै सिगरी हमारी सारी केसर मैं
मन मैं विनोद मानि मौन साधि रहिहैं।
'हरिऔध' अँखियाँ छकी हैं रावरी छवि मैं
इनपै दया ना कीने क्यों हूँ ना निबहिहैं।
परिबो पलक को तो कैसहूँ सहत प्यारे
परिबो गुलाल को गोपाल कैसे सहिहैं ॥११॥

सवैया—
चेटक सी करि चोरि गई चित्त चाव-भरी चलि चचल-चाल सों।
मोहि गई मनमोहन को वा अबीर-भरी मनि-मोतिन-माल सों।
ए 'हरिऔध' चलाई पिचूकन वेधि गई जुग-नैन विसाल सों।
लाल-गुलाब लपेटि गई वह गोरटी हाल ही लाल के गाल सों ॥१२॥

ताकि कै मारत हो पिचकारी तऊ मन मै तनकौ नहिँ खीजत।
रग में सारी भिगोय दई हम ताको उराहनो हूँ नहिँ दीजत।
पै इतनी विनती 'हरिऔध' सया करि क्यों हमरी न सुनीजत।
[illegible] अँखियान को प्यारे गुलाल ते लाल क्यों कीजत ॥१३॥

अनुभाव

अनुभाव

जिन क्रियाओं से रसास्वाद का अनुभव होता है उनको अनुभाव कहते हैं। यह चार प्रकार का होता है—१—सात्त्विक, २—कायिक, ३—मानसिक और ४—आहार्य।

१—सात्त्विक

शरीर के स्वाभाविक अंग-विकार को सात्त्विक भाव कहते हैं। इनके आठ भेद निम्न लिखित हैं—

१—स्तंभ, २—स्वेद, ३—रोमांच, ४-स्वर-भंग, ५—कंप, ६—वैवर्ण्य, ७—अश्रु और ८—प्रलय। किसी किसी ने जृंभा को भी सात्त्विक भाव माना है; ऐसी दशा में उसके नव भेद होंगे।

स्तंभ

कारणविशेष से समस्त अंगों की गति अथवा क्रिया का अवरोध हो जाना स्तंभ कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

लाल लखे ललना छकी भो चित विपुल अचैन।
बोले बोलत नहिँ बनत खोले खुलत न नैन॥ १॥
पारे पलक परत नहीं लोयन भये अडोल।
लोल-लोयनो करति है काहें नाँहिं कलोल॥ २॥

स्वेद

केलि, भय, परिश्रम आदि के कारण रोम-कूप से निकले जल-बिंदु को स्वेद कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

ऊँची अटा पै अकेली हुती अलवेली खरी करि रूप-उँजारो।
एड़िन छ्वै छहरात हुतो 'हरिऔध' छुट्यो कच घूघुर-वारो।
औचक आइ दोऊ अँखियाँ इतनेहिं मैं मूँदि लियो पिय-प्यारो।
भेद-भरो मन ऊबि छरो गयो सेद मैं डूबि गयो तन सारो ॥१॥

रोमांच

किसी कारण रोम ा खड़ा हो जाना रोमांच कहलाता है।

उदाहरण

सवैया—

वूझि भली-विध कीजै कछू अलि काज उतावली के नहिं नीके।
चौगुनी-चचल होति चले 'हरिऔध' कथानक केलि-थली के।
धीर धरे हूँ वनैगी न वीर जो कामिनी क्यों हूँ परी कर पी के।
नेक हो . नैन लरे सिगरे-तन-रोम खरे ह्वै गये रमनी के ॥१॥

कंप

शीत, कोप और भय आदि से अकस्मात् अग अग के काँप उठने को कप कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

संग सहेलिन को गयो छूटि कै वानर पीछूं पर्‍यो वन केरो।
तोको अचानक आइ कपूत कोऊ कै कलेस दियो वहुतेरो।
कै यह पूस को सीरो-समीर सताइ गयो 'हरिऔध' घनेरो।
कौन सी ा भई वतराय दै जो इतनो तन काँपत तेरो ॥१॥

दोहा—

कहा भयो कत बावरी तेरो मुख पियरात।
कत पीपर के पात लौं थर थर कॉंपत गात ॥ २ ॥

स्वर-भंग

स्वाभाविक ध्वनि में विकार होने को स्वर-भंग कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

घिरे नभ मैं घन घूमत हे 'हरिऔध' हुती सब ओर बहार।
बिचार कियो अस चाव-भरो चित गाइये मंजुल - राग-मलार।
इतै अलबेली अलाप कियो उतै आइ गये ब्रजराज - कुमार।
भयो सुर - भंग निहारत ही उतर्‌यो मनो बाजत बीन को तार ॥१॥

वैवर्ण्य

शरीर की काति में अंतर पड़ने को वैवर्ण्य कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

अबै आई बिनोद - भरी मुसकात भयो यह बीच ही कैसो दई।
'हरिऔध' सों धाइकै कोऊ कहो इतनो यह जात हैं काहें तई।
नित ही बन - कुंजन आवती हैं बजी बॉंसुरिया हू न आज नई।
अरी कौन-सी पीर भई पल मैं मो परोसिनो जो परि पीरी गई ॥१॥

अश्रु

कारणविशेष से नेत्रों से जल-पात होने का नाम अश्रु है।

उदाहरण

सवैया—

आई अपार - बिनोद भरी बनिता ढिग साँवरे-सील-निधान के।
आदर-मान ही मैं 'हरिऔध' कढ़े मुख बैन बिदेस पयान के।
ऊबि कै ऊँची उसास लई सुख भूल गये सिगरे सनमान के।
मोती समान कपोलन ह्वै अँखियान ते बूँद गिरे अँसुआन के ॥१॥

दोहा—

तुमरे बिछुरे प्रानपति रहे न अपने नैन।
वारि बिमोचत रैन - दिन पावत पलौ न चैन।
अरी बीर बरजत कहा रुदन करन दे मोहिं।
सजल - नयन - बल ही सकल - हिय - दुख हरुए होहिं ॥ २ ॥

प्रलय

किसी वस्तु में तल्लीन होकर देह-दशा की विस्मृति को प्रलय कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

ललकति राधा नाम लै पुलकति पकरि अलीन।
ललना लालन ह्वै गई ह्वै लालन मैं लीन ॥ १ ॥

जृंभा

भय, मोह और आलस्य के कारण क्षण-क्षण मुँह खोलकर जमुहाई लेने को जृंभा कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

जुरे नयन पिय-नयन ते नयन फेरि फिरि जाति।
सजल-भाव ते भूरि भरि जलज-मुखी जमुहाति ॥ १ ॥

२—कायिक

आँख, भौंह, हाथ आदि शरीर के अंगों द्वारा जो चेष्टाएँ अथवा क्रियाएँ की जाती हैं उनको कायिक कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

अति प्यार-पगी बतिया हुँ सुने पिय-प्यारे प्रतीति को छोरै लगी।
अनुराग-रँगे अभिलाखन मैं अभिमान के आखर जोरै लगी।
'हरिऔध' के सीस महावर-रेख निहारत ही मुख मोरै लगी।
तिरछी अँखियान ते ताकि तिया अनखान-भरी तृण तोरै लगी ॥१॥

३—मानसिक

मन-संबंधी आमोद-प्रमोद का नाम मानसिक अनुभाव है।

उदाहरण

कवित्त—

गिरि-सानु पै है चारू चाँदनी लसति कैसी
पसरी प्रभा है कैसी पादप-निकर मै।

झरना झरत नीर-कन हैं पियत कैसे
ओप है अपार कैसो पाहन-पसर मैं।
'हरिऔध' कैसी खिली कलित-कुमोदिनी है
सुभ्रता बसी है कैसी सीपन-सगर मैं।
कैसो बारि हलत समीर मंद-मंद लागे
कैसो झलमलत मयंक मानसर मैं॥ १॥

रंग-भरे कलित-कमोरे रंग बरसत
चारुता निचोरे लेति रोरी मंजु-भाल की।
मानस मैं मोद-सुधा-सरिता हिलोरे लेति
प्रीति-गाँठ जोरे लेति जोति-मनि-माल की।
'हरिऔध' छोरि पिचकारी चित छोरे लेति
बोरे लेति रस मैं लचकि लंक बाल की।
लालन के लोने-लोने-लोयन को चोरे लेति
गिरि गोरे-गालन पै गरद गुलाल की॥ २॥

दोहा—

बिलसत हैं सरसिज-युगल मनरंजन-ससि-गोद।
मोद-निकेतन बदन लखि काहि न होत बिनोद॥ ३॥

४—आहार्य

वेश धारण को आहार्य अनुभाव कहते हैं।

दोहा—

पहिरि सु-कुंडल कल-मुकुट पीत-बसन बन-माल।
कर मैं मुरली लै बनी मुरली-धर ब्रज-बाल॥ १॥

सात्विक अलंकार

नायिकाओं के अट्ठाईस सात्विक अलंकार माने गये हैं। उनमें से तीन अगज, सात अयत्नज और अट्ठारह स्वभावसिद्ध हैं।

अगज—१–भाव, २–हाव और ३–हेला।

अयत्नज—१–शोभा, २–काति, ३–दीप्ति, ४–माधुर्य, ५–प्रगल्भता, ६–औदार्य और ७–धैर्य।

स्वभावसिद्ध—१–लीला, २–विलास, ३–विच्छित्ति, ४–बिब्बोक, ५–किलकिंचित, ६–विभ्रम, ७–ललित, ८–मोट्टायित, ९–बिहृत, १०–कुट्टमित, ११–मौग्ध्य, १२–विक्षेप, १३–कुतूहल, १४–हसित, १५–चकित, १६–केलि, १७–मद और १८–तपन।

विशेष

प्रायः भाषा-ग्रंथों में दश 'हाव' माने गये हैं, और ये, वे ही हैं जो स्वभावसिद्ध अलंकारों की गणना में १ से १० सख्या तक लिखित हैं। कोई कोई इन में 'हेला' को मिलाकर 'हाव' की सख्या ग्यारह और कोई 'बोधक' को मिलाकर बारह बतलाते हैं। समस्त 'हाव' अनुभाव के अंतर्गत हैं, उनका स्वतत्र स्थान नहीं है।

सयोग-समय में नायिकाओं में जो स्वाभाविक चेष्टाएँ अथवा भौंह नेत्रादि के विलक्षण व्यापार मनोविकारों के आधार से होते हैं वे वही 'हाव' कहलाते हैं। ये प्रायः मनोभावों के अल्पविकास के सूचक मात्र होते हैं।

अंगज सात्विक अलंकार

१—भाव

निर्विकार चित्त में उद्बुद्धमात्र काम-विकार को भाव कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

वहै पवन सौरभ वहै वहै आम को बौर।
वहै कामिनी हूँ अहै भयो आज मन और॥१॥

है कालिंदी-तट वहै वहै कदंब रसाल।
आज कहा तोको भयो इत आवत ही बाल ॥२॥

वहै कोकिला-रव अहै वहै भृंग-गुंजार।
आज बनी क्यों बावरी निरखि बसंत-बहार ॥३॥

वहै मलय की मंजुता खग-कुल वहै कलोल।
भयो जात कत लाड़िली तव चित इतनो लोल ॥४॥

२—हाव

संयोग-समय में स्त्रियों के स्वाभाविक भ्रू-भंग-विलासादि को हाव कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

सरसावति काको नहीं रस-निचुरत मुसुकान।
तिरछी-चितवन कहति है तिय-चित की बतियान ॥१॥

रस राखन मैं नहिं रखति नेक कसर दृग-कोर।
पिय-मन की कहि जाति है तिय की भौंह-मरोर ॥२॥

३—हेला

संयोग-समय में विविध-विलास-भावों के प्रकटित होने का नाम हेला है।

उदाहरण

दोहा—

गुलचा दै तिरछे चितै दृग नचाइ मुख मोरि।
बाल भुरावति लाल को विहँसी भौंह मरोरि ॥१॥

क्यौं करति हाँसी कबौं छीनि लेति उर-माल।
क्यौं छाछ-वाली कहति अहै 'छिछोरो लाल ॥२॥

अयत्नज सात्त्विक अलंकार

१—शोभा

रूप-यौवन आदि से संपन्न शरीर की सुन्दरता को शोभा कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

छन छन नवता लहत है छवि छलकत-अवदात।
चंद सरिस सुंदर - वदन मृदुल - सलोनो - गात ॥१॥
तिल वन जाति तिलोत्तमा काम-कामिनी छाम।
है ललामता को निलय ललना - रूप - ललाम ॥२॥

२—कांति

स्मर-विलास से बढ़ी हुई शोभा का नाम कांति है।

उदाहरण

दोहा—

काम-कलामय ह्वै लसति हरति कल्पना - क्रांति।
विकसे-अभिनव-कुसुम सी कांतिमयी की कांति ॥१॥
विलसे नवला - अंग मैं काम-कला की जोति।
चामीकर से गात की चमक चौगुनी होति ॥२॥

३—दीप्ति

बहुविस्तृत कांति को दीप्ति कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

दीपावलि तन-द्युति निरखि दबकी सी दिखराति।
विविध-जोति उजरी फिरति जरी बीजुरी जाति ॥१॥

बिलसत यौवन में अहै वाको भाव-अनूप।
लोक-बिकासक-काम को दुति है बिकसित-रूप ॥२॥

४—माधुर्य

सब दशाओं में रमणीय रहना माधुर्य कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

होत नहीं मसि-बिंदु ते अललित बाल-लिलार।
औरो मन-रंजन करत दृग लहि अंजन-सार ॥१॥
अधर पान की पीक ते अधिक-ललाम लखात।
मिसी मले नवला-दसन नव-नीलम बनि जात ॥२॥
तिरछे चलि लहि वंकता करि चंचलता मान।
अधिक मधुमयी बनति हैं ललना की अँखियान॥३॥

५—प्रगल्भता

केलि-कला में निर्भयता का नाम प्रगल्भता है।

उदाहरण

दोहा—

दोऊ आलिंगन करहिं दोऊ करहिं कलोल।
पिय को तिय तिय को पिया चूसत अधर कपोल ॥१॥

६—औदार्य

सदा विनय रखना औदार्य कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

मधुर बोलि सनमान करि सबको हित उर धारि।
करति सदन को सुर - सदन सुर - ललना सी नारि ॥ १ ॥

७—धैर्य

आत्मश्लाघा से युक्त अचचल मनोवृत्ति को धैर्य कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

नव - प्रसून नावक बनै पावक मलय - समीर।
परम धीर - अनुरागिनी ह्वैहै नाँहिं अधीर ॥ १ ॥

पिय - मुख - चंद - चकोरिका जोहै पंथ निहार।
सुधा - बिंदु होवै गरल बरसै इंदु अँगार ॥ २ ॥

स्वभावसिद्ध सात्त्विक अलंकार

१—लीला

प्रेम-वश प्रिया-प्रियतम का अन्योन्य-वेश-धारण लीला हाव कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

लालन बनि बनि राधिका राधा बनि बनि लाल।
बिहँसत बोलत बहु लसत ललकत करत निहाल ॥ १ ॥

कवित्त —

सिखि-पच्छ सोह्यो सीस कुंडल-ललित कान
जापै फबि फैली प्रभा अलक - समाज की।
बंसी कर लसी उर बन - माल मोती - माल
जोति कछु तीखी परी अँखिया-सलाज की।

कटि - तट पीत - उपरैना लस्यो 'हरिऔध'
कहत बनै ना स्यामताई - मंजु आज की।
बिजन बिराजि बृखभानु जू की जाई
कैसी बनक बनाई मन - भाई ब्रजराज की ॥ २ ॥

२—विच्छित्ति

साधारण शृंगार से नायिका के मोहक शोभाधिक्य का नाम विच्छित्ति है।

उदाहरण

सवैया—

या कल-कंज से पायन की लखि लालिमा लाल हूँ लागत औगुनी।
चारुता चारु - चमीकर ते नवला - बर - अंग बिराजति चौगुनी।
दीख परै 'हरिऔध' हमैं नव - भूखन ते तन की दुति नौगुनी।
एक ही केसर - आड दिये सुखमा मुख की ससि ते भई सौगुनी ॥१॥

३—विलास

संयोग-समय में नेत्र-व्यापार कटाक्षादि तथा गति, स्थिति, आसनादि की विलक्षणता को विलास कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

ललकति पुलकति मुरि हँसति चितवति लहति विकास।
नवल - बाल बिलसति रहति करि करि बिबिध-बिलास ॥ १ ॥
चितवति कबौं चकित बनति कबौं हँसनि मुसुकाति।
करि बिलास बहु लाडिली लोयन मॉहि समाति ॥ २ ॥

४—विभ्रम

प्रिय के संयोग-समय में आतुरता-वश भूषणादि का उलटे पलटे धारण कर लेना विभ्रम कहलाता है। भ्रांति का नाम भी विभ्रम है।

उदाहरण

दोहा—

कल-रव है चिरियान को धुनि कटि-किंकिन की न।
कहा छरी मति जाति है निरखत फूल-छरीन ॥ १ ॥
अदल बदल भूखन गये तन-सुधि रही न तोहि।
तौ मन तौ मन नहिँ रह्यो मनमोहन पै मोहि ॥ २ ॥

५—किलकिंचित

एक साथ ही भय, हास्य, त्रास, क्रोध, कुछ मुसुकुराहट आदि का प्रकट होना किलकिंचित कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

रोस करति रूसति हँसति विकसति बनति स-भीत।
जोहि जोहि तिरछे नयन मोहि लेत मन-मीत ॥ १ ॥
लजति भजति खीजति जजति सजति सजावति गात।
बरसि बरसि रसरिस करति कहति रसीली-बात ॥ २ ॥

६—मोट्टायित

प्रियतम के रूप, गुण, स्वभावादि की प्रशंसा अथवा वर्णन सुनकर मुग्ध अथवा अनुरक्त होना मोट्टायित कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

सुनत स्याम-घन के सरिस अहैं सरस घन-स्याम।
प्रेम-वारि लोयन भरे बरसे मुकुत ललाम ॥ १ ॥
कहत बाल-रवि के सरिस बल्लभ हैं गोविंद।
विकसित भो तिय-मुख-कमल पुलके नयन-मिलिंद ॥ २ ॥

७—बिब्बोक

गर्व-पूर्वक प्रिय के अनादर का नाम बिब्बोक है।

उदाहरण

कवित्त—

बन-वारो कारो-कूर-किंसुक न पावै ठौर
उपवन-वारी मंजु-मल्लिका की क्यारी मैं।
बैठि नहिं क्यों हूँ सकै बायस-लड़ैतो जाय
मंडली-मराल-बालिका की छबि-वारी मैं।
'हरिऔध' कौन तू कहाँ को है बिचारै कि न
नेसुक मैं नातो नद हूँ को दैहौं गारी मैं।
कैसे सौंहैं दीठ तू करत रे कुँवर कान्ह
जानत कहा न बृखभानु की दुलारी मैं॥ ३॥

८—कुट्टमित

सुख-समय में मिथ्या दुःख-चेष्टा और कृत्रिम रोष प्रकट करने का नाम कुट्टमित है।

उदाहरण

सवैया—

तोसों गरीब सनेह कै मो सम राज-सुता सों कहा फल पैहै।
तेरे समान सपूत सों नेह कै कौन तिया जग मैं जस लैहै।
दूर खरे 'हरिऔध' रहो परे छाँह तिहारी सबै बिनसैहै।
साँवरो नंद को छोरो छुवै जनि गोरो सरीर मो गोरो न रैहै॥ १॥

९—विहृत

संयोग-समय में लज्जादि के कारण मनोभिलाष में व्याघात उपस्थित होना विहृत कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

तिय कछु चाहत कहन पै लाज जीह गहि लेत।
मुख के मधुमय-बयन के काज नयन करि देत॥ १॥
वा लज्जा ते बावरी कहा काज तू लेति।
पिय के कान समीप जो बीन बजन नहिं देति॥ २॥

१०—ललित

सर्वांग सरस और श्रृंङ्गारित करने को ललित हाव कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

लाल रिझावन को हँसति बोलति बैन रसाल।
लोने - लोने - नयन को लोल बनावति बाल॥ १॥
लोच - भरे लोचनन ते बनति ललन चित - चोर।
चाव सहित ललना रहति पिय - मुख - चंद - चकोर॥ २॥

११—मद

सौभाग्य, यौवन आदि के अभिमान से उत्पन्न मनोविकार को मद कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

वे किनमैं हैं बावरी हैं जिनमैं रस नाहिं।
मधु न होत तो मधुप क्यों जात माधवी पाहिं॥ १॥
कौन अहै गुन - आगरी रसिक जिअत केहि जोहि।
अरी नागरी ही सकति नागर - नर को मोहि॥ २॥

१२—केलि

कांत के साथ कामिनी की विहार-क्रीड़ा को केलि कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

सजि सजि सुमन-समूह सों वनि बसंत की वेलि।
पुलकि पुलकि ललना करति निज-लालन ते केलि॥ १॥

१३—तपन

प्रियतम के वियोग में कामजनित उत्ताप को तपन कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

सीरे सोरे लेप सब वनत दीप के नेह।
नव बियोग-तप-ताप ने तवा भई तिय-देह॥ १॥
कबहुँ रुकत कबहूँ वहत कबहूँ होत अथाह।
सोच सकोचन मैं परो लोचन - वारि-प्रवाह॥ २॥

१४—मुग्धता

ज्ञात पदार्थ को भी प्रियतम के सामने अज्ञात समान पूँछना मुग्धता कहलाती है।

उदाहरण

दोहा—

पिय बतरावहु बोलिकै मधुर अमी से बैन।
खिले कमल से हैं किधौं मुँदे कमल से नैन॥ १॥
अस जनात लाली गई अवनी-तल पै पोति।
कत लालन मो - पग परत लाल चाँदनी होति॥ २॥

१५—कुतूहल

रमणीय वस्तु के देखने के लिये चचल होना कुतूहल कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

जाकी कलित - कथान को तू भाखति कथनीय।
सो कित को' है कौन है कैसो है कमनीय ॥ १ ॥

अली जहाँ है बज रही मुरली सब - रस - मूल।
चलु चलु अवलोकन करें सो कालिंदी - कूल ॥ २ ॥

१६—विक्षेप

भूषणों की अधूरी रचना, बिना कारण इधर-उधर देखना, धीरे से प्रियतम से कोई रहस्य की बात कहना आदि विक्षेप कहलाता है।

उदाहरण

दोहा—

इत उत चितै कबौं कछू धीरे कहि हँसि देति।
पहिरि अधूरो - आभरन मन - पूरो करि लेति ॥ १ ॥

पहिरें द्वै द्वै चूरियाँ इत उत चितवत जाति।
बतिया कहि कहि भेद की भेद - भरी मुसुकाति ॥ २ ॥

१७—हसित

यौवन-विकास से उत्पन्न अकारण हास को हसित कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

पिय - मन - मोहन को करति रस-बस विविध विलास।
मधुर - मंद - गति गहति तिय मंद मंद करि हास ॥ १ ॥

कौन नहीं कामुक बनत कौन सकत चित रोकि।
हास-भरी-नवलान को औचक हास-बिलोकि॥ २॥

१८—चकित

प्रियतम के सामने अकारण डरना और घबराना चकित कहाता है।

उदाहरण

दोहा—

कछु सकाइ सकुचाइ कछु कछु अकुलाइ अकाल।
चकित बनावति काहि नहिं चकित-बिलोचन-बाल॥ १॥
इत उत चितवति चौंकि बहु भरि लोयन मैं भाव।
चकित बनावत लाल को चकित-बाल को चाव॥ २॥

बोधकहाव

दोहा—

ललना लालन को चितै दीन्हें बार बगारि।
लालन निज-मुख पै लियो कर-नीलांबर डारि॥ १॥



रस निरूपण

रस निरूपण

स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के सहित चमत्कृत होकर मनुष्यों के हृदय में अलौकिक और विलक्षण आनंद का स्वरूप धारण करता है, तब वह रस कहलाता है।

उदाहरण

कवित्त—

सोच ना रखत भव - मोचन को भाव देखि
रुचि माँहि रुचिर - प्ररोचना भरत है।
प्रतपित होत पाप - तापते न प्रेम लहे
प्रथित - प्रताप - बल पातक हरत है।
'हरिऔध' हरि के विचारित - चरित गाइ
विचलित - चित को उबारि उबरत है।
पावन-अनिंदित-पराग को मिलिंद बनि
वदित - पदारविंद वंदन करत है ॥१॥

मंजु - चंद - मुख देखि मानस बनत सिंधु
सुनि बैन कान - रस पान कै अघाये हैं।
कल - केलि अवलोकि मुदित - महान होत
भोरे भोरे भावन के भूरि - सुख पाये हैं।
'हरिऔध' मंजुल - मधुर - मुसुकानि हेरि
उमगि उमगि सुधा - सर मैं अन्हाये हैं।
परम - सलोने गोरे - गालन पै वारि जात
लोने - लोने - लालन पै लोचन लुभाये है ॥२॥

बन बन माँहिं दरसत सुर - तरु नाहिं
सरस - रसाल को सदन है न बौर बौर।

नर नर माँहिं नाहिं नरता निहारी जाति
प्रभुता - प्रभाव - पूत होत नाँहिं पौर पौर।
'हरिऔध' सब मैं समान गुन - गन है न
बहु - रस बलित बनत नाँहिं कौर कौर।
घर घर माँहिं रमनीय - रमनी है कहाँ
कमनीय - खनि अवनी मैं है न ठौर ठौर ॥३॥

मद - माती - मुदित - मयूर मंडली के काज
पारत पियूख कौन घन की घहर मैं।
मंजु - सुर - मत्त या कुरगन के हेत कौन
बेबसी भरत बेनु - बधिक - निकर मैं।
'हरिऔध' होति जो न मोह मैं महानता तो
बँधत मिलिंद कैसे कंज के उदर मैं।
मन कैसे रमत चकोर और मरालन कौ
मोद - वारे मंजुल - मयंक - मानसर मैं ॥४॥

मरु - भूमि - मारुत बनत मलयानिल है
रहत अमरता न अमर - नगर मैं।
लहत न वारि - बूँद वारि - धर वारिधि मैं
बनजाति वारि - धारा धूरि वारि-धर मैं।
'हरिऔध' अनुकूल - दैव प्रतिकूल भये
गरल सुधा की सोत होत सुधा - कर मैं।
पावत न मधु है मधुप मधु माधव मैं
मिलत मराल कौ न मोती मानसर मैं ॥५॥

मरु - भूमि नंदन - विपिन बनि विलसत
नंदन - विपिन दग्ध होत दरसत है।

पामर - परम नाक - पति पद पावत है
नाक - पति पामर - पगन परसत है।
'हरिऔध' कल्पना रहित काल - कौतुक है
कल्प - तरु कबहूँ अँगारे बरसत है।
अ - सरस बनत बसंत दाघ के समान
दाघ बनि सरस - बसंत सरसत है ॥६॥

गुनिन मैं गौरव लहत गुन - आगर है
नागर - निकर निवसत है नगर मैं।
सोहत है पावन - सलिल - सुर - सरि माँहिं
किसलय - कलित लसत तरु - वर मैं।
'हरिऔध' मान है समान संग माँहिं होत
मंजुलता बसति मयंक - मंजु - कर मैं।
सर मैं खिलत सरसीरुह - समूह देखे
मिलति मराल - मंडली है मानसर मैं ॥ ७ ॥

चरन बिनाहुँ अहै चलति अचल माँहिं
करन बिनाहुँ वार करति अपार है।
बीरन को मारि मारि अमर बनावति है
धीरन को वाकी धार परम - अधार है।
'हरिऔध' संतत हरति जन - जीवन है
जीवन को तबहूँ रखति बहु - प्यार है।
पानिप अछत सदा रहति पिपासित है
तेज-वारी ह्वै कै तम - वारी तरवार है ॥ ८ ॥

सवैया—

बावरी बोध न होवै अजौं कर कैसे लियो गिरि-गोधन सारो।
त्यों छन ही महँ पान कियो किमि पावक हूँ बन - दाहन - वारो।

हेरि कहै 'हरिऔध' हिं देवकी क्यों गहि नाथि लियो अहि-कारो ।
कस हूँ को मल मारि लियो किमि फूलसों कोमल-लाल हमारो ॥६॥

काम न ऐहै बिकास कवौं रस-हीनन सों रस प्यास न जैहै ।
चाहे करै उपवास सदा कवौं काहू बिसासी - अवास न जैहै ।
कै बन-बास उदास रहै पै अनेहिन को बनि दास न जैहै ।
पास कपास-प्रसूनन के अलिबास - बिलास को आस न जैहै ॥१०॥

दोहा—

दोऊ नैनन मैं रही छबि - रावरी समाय ।
चहूँ - ओर तिहुँ - लोक मैं तू ही एक लखाय ॥११॥

कारे कारे कूवरे सिगरे बरन लखाहिं ।
बरनि सकत कैसे कोऊ सुवरन - बरनी काहिं ॥१२॥

कहा भाग ऐसो अहै बिगरि बनै जो बात ।
कबहूँ दूध बनै न सो जो कैसहुँ फटि जात ॥१३॥

भलो बुरो समयो नहीं है अपने बस मॉहिं ।
पै 'हरिऔध' न होत सो भाग लिखो जो नाहिं ॥१४॥

वोलि रिसौहैं - वैन ए कत कीजत अलि वार ।
बन - बागन मैं वावरी वगरी देखु वहार ॥१५॥

शृंगार

स्थायी भाव—रति

देवता—विष्णु भगवान् अथवा श्रीकृष्ण

वर्ण—श्याम

आलंबन—नायक और नायिका

उद्दीपन—

सखा, सखी, वन, बाग, उपवन, तड़ाग, चंद्र, चाँदनी, चंदन, भ्रमर, कोकिल, ऋतुविकास आदि—

अनुभाव—भृकुटि-भंग, कटाक्ष, हाव, भाव, मृदु मुसकान आदि—

संचारी भाव—उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर शेष २९ स्मृति, हर्ष, औत्सुक्य, जड़ता, मति, विबोध आदि भाव—

किसी किसी की सम्मति है कि इस रस में कुल संचारी भाव आते हैं—

विशेष

विभाव, अनुभाव, और संचारी भाव के संयोग से शृंगार रस उत्पन्न होता है, इनके द्वारा ही रति की पुष्टि होती है। प्रिय वस्तु में मन के पूर्ण-प्रेम-परायण-भाव का नाम रति है, ऐसी रति उत्तम कोटि के नायक नायिकाओं में ही होती है, अतएव प्रायः पर-स्त्री और अनुराग-शून्या वेश्या को कुछ लोग नायिका में परिगणित नहीं करते। १—संयोग और २—विप्रलंभ शृंगार के दो भेद हैं।

इस रस में संचारी, विभाव और अनुभाव सब भेदों सहित आते हैं; अतएव इसे रसराज कहते हैं।

१—संयोग शृंगार

एक दूसरे के प्रेम में पग कर नायक नायिका जब परस्पर दर्शन, स्पर्शन और संलापादि में रत होते हैं, तब वह संयोग शृंगार कहलता है।

उदाहरण

कवित्त—

राधिका - नयन में हैं मोहन - नयन बसे
मोहन बिकत राधा - नयन निकाई पै ।
प्यारी - मुख - सुखमा सराहत रहत प्यारो
प्यारी मोहि जात प्यारे मुख - मंजुताई पै ।
'हरिऔध' स्याम को कहति रमनी है काम
स्याम रति वारत रमनि रुचिराई पै ।
लाल को लुभावति है ललना ललित - छबि
ललना लट्टू है भई लाल की लुनाई पै ॥ १ ॥

पिय - तन - घन तिय - मुदित - मयूरनी है
पिय - तिय - नलिनी मिलिंद - मतवारे हैं ।
कौमुदी तरुनि है कुमुद - मन मोहन को
मोहन तरुनि लतिका के तरु प्यारे हैं ।
'हरिऔध' नारि है सरसि मीन - प्रीतम की
प्रीतम मराली - नारि मानसर प्यारे हैं ।
बाल बनी बालम - बिलोचन की पूतरी है
लाल बने ललना के लोयन के तारे हैं ॥ २ ॥

२—विप्रलंभ

जब अनुराग अत्यंत प्रबल और प्रिय समागम का अभाव रहता है, तब विप्रलंभ अथवा वियोग शृंगार की उत्पत्ति होती है। इसके निम्नलिखित तीन भेद हैं—

१—पूर्वानुराग, २—मान और ३—प्रवास।

उदाहरण

सवैया—

बावरी बेकल क्यों न बनौं पल ही पल क्यों न उठौं अकुलाई।
बेदन ते बिलखौं न कहा इन नैनन ते अँसुआन बहाई।
क्यों न गहौं 'हरिऔध' अधीरता कैसे लहौं थिरता मनभाई।
एरी लगी छत मैं छतिया के गोपाल की वा अँखियान लुनाई ॥१॥

१—पूर्वानुराग

मिलन अथवा समागम से प्रथम हृदय में जो अनुराग का आविर्भाव होता है, उसको पूवराग अथवा पूर्वानुराग कहते हैं, इसके चार मार्ग हैं—

१—प्रत्यक्ष दर्शन २—चित्रदर्शन ३—श्रवणदर्शन ४—स्वप्नदर्शन

१—प्रत्यक्ष दर्शन

किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के नयनगोचर होने पर जिस अनुराग का प्रादुर्भाव होता है, उसे प्रत्यक्ष दर्शन कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

कलित - कपोलन पै अलकैं लुरी हैं मंजु
सुललित - आभा लसी अधर - तमोर की।
हियरा - हरन - वारे उर पै फबे हैं हार
अंगन प्रभा है आछे - भूखन - अथोर की।
'हरिऔध' वेस वसनादिक बखाने बनै
आने बनै चित मैं निकाई नैन - कोर की।
एरी बीर काकी मति बावरी बनी है नाँहिं
सु - छबि बिलोकि चोंकी नवल-किसोर की ॥१॥

अति अनुकूल सुख - मूल कालिंदी के कूल
लोक - सिद्ध - पीठ जाको अुति ठहरावै है।
'हरिऔध' स-बिधि सम्हारि निज-साँसन को
आसन हूँ मारि सक-त्रासन भगावै है।
एरी बीर बिटप कदंब पै न बैठो आज
रस पैठो मंजु - मीठी - बाँसुरी बजावै है।
काहू मोहिनी को मोह-वारो मन, मोहन को
मोहन हमारो मन्त्र - मोहन जगावै है ॥२॥

भूलि ना सकी हौं हूलि हूलि हिय मेरे उठै
ललित - लुनाई वाके लोयन - ललाम की।
प्यारी छबि पापी-प्रान पलक बिसारै नाँहिं
आनन बगारे कारे - कारे - केस-दाम की।
'हरिऔध' कान हूँ न मानै पान कीने बिना
चैन-दैन-वारी - सुधा बैन - अभिराम की।
आँखिन समाई क्यों हूँ कढ़त न माई वह
मद मंद मंजुल अवाई घनस्याम की ॥३॥

दोहा—

मो मन अपनो करत है बाँकी - भौंह - मरोर।
आवत है चितवत - चकित चाव-भरो - चित चोर ॥४॥

२—चित्रदर्शन

चित्रदर्शन द्वारा जिस अनुराग की उत्पत्ति होती है उसे चित्रदर्शन कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

भावुकता-भव-भूति-निकेतन भाव-भरी मुख है बहु - भावत।
भाल को रोचन मोहत है मन लोचन-लोच-भरो ललचावत।

ए 'हरिऔध' हँसी हित - जोरति हेरन है हियरा हुलसावत।
चित्र तिहारो चितेरे बताइ दै चित्त बसे हु क्यों चित्त चुरावत ॥ १ ॥

दोहा—

चितै चित्र मैं लाल के अमल - अमोल - कपोल।
ललकित लालायित भये ललना - लोयन - लोल ॥ २ ॥

३—श्रवण-दर्शन

रूप, गुण अथवा कीर्ति श्रवण से जो अनुराग उत्पन्न होता है उसे श्रवण-दर्शन कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

तू बतरावति है मुसकाइ कै मो - मति माधुरी माँहिं फँसी है।
पल्लव से तव होंठ हिले नव-नेह-लता उर माँहिं लसी है।
हौं छवि देखे बिनाहिं छरी गई तू छरे मोहिं भई सु - जसी है।
नैन मैं मेरे रमे मन-मोहन बैन मैं मोहनी तेरे बसी है ॥ १ ॥

दोहा—

मानस को मोहन लगे मन - मोहन छवि - ऐन।
लोने लोने बैन सुनि भये सलोने नैन ॥ २ ॥

४—स्वप्नदर्शन

स्वप्न में दर्शन करने से किसी में जो अनुराग उत्पन्न होता है, उसे स्वप्न-दर्शन कहते हैं—

उदाहरण

सवैया—

राति ही ते है अराति भयो उर आकुल - भाव उसास सनो है।
है न उबार उमाहन ते बहु - दाहन ते दुख होत घनो है।

भूलति सूरति ना 'हरिऔध' की सावन-नीरद नैन बनो है।
सो सपनो जरि जाउ सखी अपनो सुख जाते भयो सपनो है ॥ १ ॥

दोहा—

होवै वह कमनीय कोउ कै कामिनि अनुकूल।
सपनो सपनो है अरी तू यह सपनो भूल ॥ २ ॥

२—मान

प्रियापराधजनित प्रणय कोप को मान कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—लघु, मध्यम और गुरु।

लघु मान

पर-पत्नी-अवलोकन-जनित मान को लघु मान कहते है, यह हँसी और मीठी बातों ही से निवृत्त हो जाता है।

उदाहरण

दोहा—

मोको करि करि बावरी हँसहिं खिजहिं खिसियाहिं।
पिय ए अँखियाँ रावरी कत इत उत चलि जाहिं ॥ १ ॥

मध्यम मान

परस्त्री प्रशसा सूचक वाक्य अथवा आदरपूवक उसका नाम लेते सुनकर जो मान है, उसे मध्यम मान कहते हैं, यह विनय और शपथ आदि से दूर हो जाता है।

उदाहरण

दोहा—

अब लौं पतियाई बहुत पिय कब लौं पतियाहिं।
जो जिय को भावति न तिय मुँह मे आवति नाहिं ॥ १ ॥

गुरु मान

अन्य स्त्री रमण विश्वास जनित मान को गुरु मान कहते हैं, यह नाना अलकार देने और पाँव पकने से दूर होता है।

उदाहरण

दोहा—

प्रिय तो मनहीं की करहु जो मन मानत नाहिं।
वाही क परसहु पगन जा पग परसे जाहिं॥ १॥

३—प्रवास

प्रियतम के परदेश निवास को प्रवास कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है १—भूत प्रवास, २—भविष्य प्रवास।

भूत प्रवास

जिस प्रवास का सबध भूतकाल से होता है उसे भूत प्रवास कहते हैं।

उदाहरण

सवैया—

अति आतुर प्यासे समान पियूख भरे अखरा-रस पीजत है।
दिन हूँ ढिग आवन के गुनि कै अपनो हियरा थिर कीजत है।
पद प्रान प्रिया पढ़ि कै 'हरिऔध' बहे अँसुआ तनु भीजत है।
यह रावरी-प्रेम-पगी-पतिया रखि कै छतिया नित जीजत है॥१॥

पति ही परदेसी भयो तो कहो तिय जीवन को फल कौन लहा।
'हरिऔध' न धीरज होवै छनौ अकुलात अहै मन मेरो महा।
तन मो सी तियान के दाहन मैं जग मैं जस कौन सो तेरो रहा।
विहरै हियरा नहिं बूझि परै विधना हम तेरो बिगार्यो कहा॥२॥

लखि कै या कपूत-कला-निधि कौ सिगरो कल आपनो खोवती हैं।
नभ के इन तारन की अवली निज नैन के तारन पोवती हैं।
'हरिऔध' न आँख लगै कबहूँ दुख सों पल हूँ नहिं सोवती हैं।
पतिया पढ़ि कै सिगरी रतिया पकरे छतिया हम रोवती हैं ॥३॥

दोहा—

जिय तरसत पिय मिलन कौ पावत पलौ न चैन।
पूस मास पावस भयो दृग बरसत दिन रैन ॥ ४ ॥
बिवस भई बनि बावरी कैसे दिवस सिराहिं।
छरछराति छाती रहति पाती आवति नाँहि ॥ ५ ॥

भविष्य प्रवास

जिस प्रवास का सबध भविष्य काल से होता है, उसे भविष्य प्रवास कहते हैं।

उदाहरण

दोहा—

लखत विदेस पयान को होत तिगूनो तंत।
मानत कंत कही नहीं आवत सरस-बसत ॥ १ ॥
जाहु विदेस, इतो कहहु, तब जीहैं केहि जोहि।
कहि पी कहाँ पपीहरा जब कलपैहै मोहि ॥ २ ॥
छकी गमन सुनि छैल को बनी छबीली मूक।
छटपटाति छिति पर परी छाती भई छदूक ॥ ३ ॥

बरवा—

प्रीतम जात विदेसवाँ निपट अनेस।
सिसकत खरी तरुनिया बगरे केस ॥ ४ ॥

दश दशा

प्रियतम की वियोगावस्था में जो दशाएँ प्राणी की होती हैं, वे प्रायः दश प्रकार की होती हैं, इसलिए इनको दश दशा कहते हैं। ये दशाएँ अभिलाषा से प्रारंभ होकर मरण तक पहुँचती हैं, उनके नाम ये हैं—

१—अभिलाषा, २—चिंता, ३—स्मरण, ४—गुण-कथन, ५—उद्वेग, ६—प्रलाप, ७—उन्माद, ८—व्याधि, ९—जड़ता और १०—मरण। किसी किसी ने ११ वीं दशा मूर्छा भी मानी है।

१—अभिलाषा

वियोगावस्था में प्रियतम के मिलने की इच्छा को अभिलाषा कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

सोभा के निधान सुख-कंद-कल-कंधन पै
मान सों या आपनी भुजान कब रखिहौं।
मधुर - सुधा से सुखमा से भरे बैनन को
कब इन प्यासे दोऊ स्रौनन सों चखिहौं।
'हरिऔध' प्यारे को लगाइ छतिया सों कब
बतिया प्रतीति-प्रीति रीति की परखिहौं।
मृदु-बोल बोलि कब लोल - नैन - लालन कौ
करत कलोल कालिंदी के कूल लखिहौं॥ १॥

ब्रज मैं पधारि ब्रजजीवन विनोद दैहैं
वृन्दावन - बीथिन मैं बिहँसि बिचरिहैं।
लैहैं सुधि विपुल- बिहाल - ब्रज - बालन की
तानन सुनाइ सुधा कानन मैं भरिहैं।

'हरिऔध' फेर कबौं अनुकूल ह्वैहैं लाल
कूल पै कलिंद - तनया के केलि करिहैं।
हरिहैं हमारो दुख - पुंज गुंजमाल - वारे
कुंज के बिहारी फिर कुंज मैं विहरिहैं ॥ २ ॥

दोहा—

कब बियोग - निसि विनसिहै लहे दिवस - संयोग।
कब अँखियाँ अवलोकिहैं मुख - अवलोकन-योग ॥ ३ ॥
घन-रुचि-तन-नव-छबि निरखि कब नचिहै मन-मोर।
बदन-चंद अवलोकिहै कब मन - नयन - चकोर ॥ ४ ॥

२—चिंता

प्रिय प्राप्ति अथवा चित्त-शान्ति-साधन विचार को चिंता कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

प्रेम को पियूख जो न परतो प्रपंच माहिं
तो न योग - भोग देव - दानव मैं ठनती।
सुख को पयोधि तो न बनती अ - सुख-सिंधु
विविध - विभूति अविभूति मैं न सनती।
'हरिऔध' अविधि-उपाधि क्यो परति पीछे
अवधि की आस क्यों विसास-जर खनती।
तो न मन - काम - रिपु कामुकता काम देति
मोहन की मोहनी जो मोहनी न बनती ॥ १ ॥

सवैया—

होति न जो ममता ब्रज की ब्रज के दुखियान को क्यों दुख खोतो।
भूलतो जो अनुरागिन को अनुराग को तो बहतो किमि सोतो।

तो बनतो 'हरिऔध' हितू नहिं जो उर मैं हित - बीज न बोतो।
मोहनी तो मन को न विमोहित मोहन मैं यदि मोह न होतो ॥२॥

बावरी सी भई वेदन ते कलपैं पल ही पल प्रान हमारे।
भूलि न चैन परै अँसुआन मैं डूबे रहैं अँखियान के तारे।
मेरी घरी है पहार भई जब ते 'हरिऔध' विदेस सिधारे।
वीर हमैं न बतावत है कोऊ कैसे बितावत हैं दिन प्यारे ॥३॥

दोहा—

चिनगी सी तन मैं लगति चौंकत राति सिराति।
चिंता - मनि चेतत नहीं चित - चिता नहिं जाति ॥ ४ ॥

छार करति क्यों तन नहीं है दाहति दिनराति।
जो चिंता है चिता तो क्यो न चिता बन जाति ॥ ५ ॥

३—स्मरण

वियोग समय में प्रिय के संयोग समय की बातों, चेष्टाओं, और समागम सुखों की स्मृति को स्मरण कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

काहे लोल - लहर समीर ते करत केलि
सरिता कलोल - मयी होति क्यो सलिल से।
काहें है रसालता ते लसत रसाल - पुंज
डोलत प्रसून क्यों है मंजुल - अनिल से।
'हरिऔध' चित जो त्रिलोकि कै विकल होत
काहें तरु - वृंद तो बने हैं मोह-मिल से।
लतिका-ललित तो लसी है क्यो तमाल-अंक
क्यों हैं कंज कलित - कलिंदजा मैं बिलसे ॥ १ ॥

सवैया—

मंजु-तमालन सो लिपटी नव - लोनो - लता है बिथा उपजावति ।
कुंजन के वर - बेलि बितान की मंजुलता है महा - कलपावति ।
सुंदरता ससि - सोभित - रैन की चारु - सिता-सितता है सतावति ।
बारिद के अवलोकत ही अलि बारिद - गात की है सुधि आवति ॥२॥

वेई निकुंजन जा मैं लखि इन नैनन ते वह सूरत-साँवरी ।
वेई कलिंदजा के कल कूल भरी जहाँ प्रीतम के सँग भाँवरी ।
वेई घने-वर-बेलि-वितान जहाँ 'हरिऔध' भई ही निछावरी ।
हौं झिझकी परी झाँवरी बीर बिलोकत ही मति ह्वै गई बावरी ॥३॥

दोहा—

नव-जल-धर-तन सुधि भये चूर होत चित-चैन ।
लखि कलिंद-तनया-सलिल होत सलिल-मय-नैन ॥ ४ ॥

है लहरति लोनी-लता बायु बहति है मंद ।
दुचित होत मो चित चितै चैत - चाँदनी चंद ॥ ५ ॥

४—गुण-कथन

वियोग समय में प्रिय गुणानुवाद-कथन को गुण-कथन कहते हैं ।

उदाहरण

कवित्त—

पर-दुख-दुखी क्यों न दुखी दुख देखि होत
काहे पीर पर - पीर - हारी ना हरत है
पर - नैन - भरे जाको नैन भरि आवत है
वाको दृग मो दृग भरे ना क्यो भरत है ।

'हरिऔध' सोई मोहिं धीरज बँधावै क्यो न
धीर जो अधीरन बिलोकि ना धरत है।
दयानिधि क्यों न दयानिधिता दिखावत है
करुना क्यों करुना-निधान ना करत है ॥१॥

आँखिन को तारो क्यों हमारो है परारो होत
उर को हरन-हारो कत होत कोही है।
असरस होत क्यों सरस-आदरस - वारो
क्यों न देत दरस मयंक-मुख-जोही है।
'हरिऔध' विरह-पयोधि परी ऊबति हौं
क्यो न बाँह गहत सु-बाट को बटोही है।
जनम को छोही काहें परम अछोही भयो
मोहन सों मोही काहें भयो निरमोही है ॥२॥

सवैया—

कामुकता-कमनीय-निकेतन कामिनी की अँखियान को तारो।
सूधो सधो सुख-धाम सुधा-सनो सुंदर-सील-सनेह-सहारो।
भाव-भरो सुथरो भव - वल्लभ जीवन - जीवन - भूतल - प्यारो।
मोहि न कोऊ मही-तल मैं मिल्यो मोहन लौं मन-मोहन वारो ॥३॥

साँवरे अगन सी सुकुमारता साँवरे-अंगन मैं निवसी है।
मंजुल-आनन - सी कमनीयता मंजुल - आनन माँहि लसी है।
ए 'हरिऔध' अहैं दृग से दृग मंजु - हँसी सम मंजु-हँसी है।
मोहन - बैनन सी मधु-मानता मोहन बैनन ही मैं बसी है ॥४॥

दोहा—

गिरत उठत थहरत उड़त थिरकत होत उतंग।
तऊ न तव - गुन - गुन तजत मो - मन अगुन-पतंग ॥ ५ ॥

रही अवधि की अवधि नहिं सुधि हू की सुधि नाँहिं ।
तिय, पी, सुगुन-सरस-सुधा सरसति बसुधा माँहिं ॥ ६ ॥

५—उद्वेग

प्रिय-वियोग से व्याकुल होकर किसी विषय में चित्त न लगने का नाम उद्वेग है ।

उदाहरण

कवित्त—

गात पियरात तो न हियरो हिरानो जात
चिंता तो विवेक-हीन-वेदना न जनती ।
सूखतो न अधर उसास ते न ऊब होति
रार तो न आस औ निरास माँहिं ठनती ।
'हरिऔध' विधि को बिधान तो बेधि देत
तो न प्रेम मंजुता अमंजुता मैं सनती ।
वायु-चिर-सगिनी विहंगिनी सी वेगवान
योगिनी वियोग मैं वियोगिनी जो बनती ॥ १ ॥

सवैया—

राति सिराति तो वार न वीतत बात वियोग की काहि वतैये ।
जोहत पंथ थके युग लोचन क्यो दुख-मोचन को लखि पैये ।
वेसुध हौं 'हरिऔध' विना भई कौ लौं विथान कथान सुनैये ।
का करिये सखि सगम की विधि वायु विहगम क्यों वनि जैये ॥२॥

दोहा—

ऊवति वीते अवधि दिन कोमल-तन-कुँभिलात ।
तितनो आकुल होति तिय जितनो चित अकुलात ॥ ३ ॥
सुन पिय-आगम प्रात ही युग सम वीतत राति ।
परलहि परी वनन चहति सेज-परी अकुलाति ॥ ४ ॥

६—प्रलाप

प्रिय की अनुपस्थिति में उसे उपस्थित मानकर अथवा वियोग से विशेष व्यथित होकर अनर्गल किंवा निरर्थक वार्तालाप को प्रलाप कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

कूकन न दै री कुंज-पुंज मैं पिकन काँहि
आवन सदन मैं न मंजुल-बयारि दै।
तोरि दै सकल तरु-बृंद के नवल-दल
लोहू लाल-सेमल-प्रसूनन को गारि दै।
'हरिऔध' विरह-बेहाल-मन मेरो अहै
एरी वीर अलि की अवलि कौ विडारि दै।
कलित - कमल - कुल - कोमलता - काल बनि
ललित-लतान की ललामता निवारि दै॥ १॥

रसना पुनीत-गुन गाई गौरवित होति
रुचि चारु-चरित विचारि विकसति है।
सुमिरि सुमिरि मंजु-भाव मन मोहि जात
उर मैं प्रभावित-प्रतीति प्रविसति है।
'हरिऔध' प्रीतम-बिदेसी है बिदेसी कहाँ
रोम रोम माँहिं पूत-प्रीति विलसति है।
वैनन मैं वसति विदित-विरुदावलि है
नैनन मैं सूरति-सलोनी निवसति है॥ २॥

सवैया—

मानिहौं नातो न वारिधि-बंस को वारिधिता को कवौं ना सकैहौं।
ना कमला कमलापन सोचिहौं ना कमला-पति को पतिऐहौं।

मोहि सताइ बचैगो न पातकी पातक-सिंधु मैं ताहि डुबैहौं।
दैहौं बिथोरि कलंकित-कालिमा छोरि मयंक मयंकता लैहौं ॥३॥

तो से कपूत के पाप ही ते बड़वानल वारिधि को तन तावत।
तो सम पामर होत न, कौन तो, गौतम-ती को कलंक लगावत।
पी 'हरिऔध' बिना अब पातकी मोहुँ को पावक लाइ सतावत।
डूबत को कहूँ एरे मयंक तू एक चुलूक हूँ वारि न पावत ॥४॥

दोहा—

ताको कैसो विरह दुख ताको कहा प्रवास।
मेरे मानस मैं अहै निस-दिन जासु निवास ॥ ५ ॥

कैसी है यह साँवरी-सूरति कहत बनै न।
निवसति है अँखियान मैं अँखियाँ निरखि सकैं न ॥ ६ ॥

रुधिर-भरो क्यों है खरो किंसुक कुसुमन ब्याज।
आह आह कै कोकिला कहा कराहति आज ॥ ७ ॥

मो चित बिचलित होत है बहि बहि दहत सरीर।
बरजि बरजि आवै न इत सीतल-मंद-समीर ॥ ८ ॥

७—उन्माद

वियोगावस्था में संयोगोत्सुक हो बुद्धि-विपर्यय-पूर्वक वृथा व्यापार करने, जड़, चेतन विवेक-रहित होने और व्यर्थ हँसने, रोने आदि को उन्माद कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

हँसे, रोवै, गावै, बतरावै, बकै, बोलै नाँहिं
उठै बैठै, धावै भरै वन वन भाँवरी।
नभ को निहारै कछू कहै फिर भू को चहै
जकी ही सो रहै जो विलोकै छवि साँवरी।

'हरिऔध' काहू की कही न उर आनै
रूख पात हूँ सों पूछै औ बखानै बात रावरी।
काल रही नैनन की पूतरी जो बाल आज
एरे निरदयी तेरे देखे बिना बावरी॥ १॥

इत उत दौरी फिरैं हसैं रोवै थिरैं नाँहिं
अनु - छन दीवो करैं बन बन भाँवरी।
इक टक लावैं जो पयोद लखि पावैं कहूँ
भिरहिं तमाल हूँ बिलोकि छबि साँवरी।
'हरिऔध' उघरी ही रहैं लाज हूँ ना वहैं
पलकन हूँ ना चहैं बीते हूँ बिभावरी।
प्यारी वह सूरत तिहारी अहो प्रान-नाथ
अँखियाँ हमारी भईं देखे बिना बावरी॥ २॥

सवैया—

बातैं वियोग-बिथा सों भरी अरी बावरी जानैं कहा बनवासी।
पीर हूँ नारिन के उर की ना पछानत ए तरु-तीर - निवासी।
सोभा, स्वरुप, मनोहरता 'हरिऔध' सी यामैं न है छबि खासी।
बाल तमाल सों धाइ कहा तू रही लपटाइ लवंग-लता सी॥ ३॥

दोहा—

बनति कमलिनी राति की बिगत-निसा ससि जोति।
भये रावरी - छबि सुरति बाल बावरी होति॥ ४॥
रोअत हँसत लरव भिरत ललकत लहत न चैन।
बिना रावरे - मुख लखे भये बावरे नैन॥ ५॥

८—व्याधि

वियोग व्यथाजनित शरीरकृशता, पांडुता आदि अस्वास्थ्य को व्याधि कहते हैं।

कवित्त—

भावत न भौन भार भये अंग - भूखन हैं
सेज सतराति ना सुहाति मंजु-सारी है।
चाँदनी दहति है अँगारें बरसत चंद
चारु-भूत कंजन की चारुता न प्यारी है।
'हरिऔध' बिना सुख-साध आधि-व्याधि-भई
पावक ते पूरित - प्रसूनन की क्यारी है।
फूँकि फूँकि देत है बसंत बजमारो मोहिं
कूकि कूकि कोकिला हूँ हनति कटारी है॥ १॥

सवैया—

लोनी-लवंग - लता लहराइ बिलोचन मेरे नहीं ललचावत।
कोमल - मंजुल - पादप के दल हैं न अलौकिकता दिखरावत।
कौन सो रोग भयो बिछुरे पिय भोग नहीं जिय को बेलमावत।
हैं फल भावत ना मन - भावने हैं न लुभावने फूल लुभावत॥२॥

दोहा—

है बिलास की आस नहिं पास रह्यो सुख कौन।
मोहिं अभावन-मय कियो मन-भावन तजि भौन॥ ३॥

छन छन छीजत जात तन छवि - विहीन भो भौन।
मो छतिया मैं ह्वै गयो पति बिछुरत छत कौन॥ ४॥

बरवा—

सूखत याहि अनेसवाँ यह तन हाय।
पिय सो कहत सनेसवा कोउ न जाय॥ ५॥

छुवतहिं सखिन अँगुरिया जरि बरि जाहिं।
धधकति विरह - अगिनिया अंगन माँहिं॥ ६॥

दाहत देह दुलहिया बिरह - अँगार।
सीतल होत न अँखियन की जलधार ॥ ७ ॥

९–जड़ता

अंगों तथा मन के चेष्टाशून्य होने और इन्द्रियों की गति के अवरोध को जड़ता कहते हैं।

उदाहरण

कवित्त—

पतिया छुये ही काहें छतिया छिलन लागी
गात छोरि गईं क्यों छबीली-छवि छलकैं।
क्यो है छरि गई क्यों छलावा मैं परी लखाति
छूटे केस, क्यों हैं छटा-हीन मंजु अलकैं।
'हरिऔध' कहा भयो कौन सी वही है वायु
काहें लोप भईं लोक लोभनीय-ललकैं।
बोलि बोलि के हूँ काहें सकति न बोलि बाल
खोलि खोलि के हूँ काहें खोलति न पलकैं ॥ १ ॥

सवैया—

चंपक की लता चारु रही नहिं क्यों कुँभिलात है बेलि चमेली।
काहें भई चकि कै जकि कै छकि कै छन में नव-बाल दुहेली।
ए 'हरिऔध' बिलोकतही पतिया क्यो भई तिय को तलबेली।
काहें न खोलति है अँखियान को बोलति काहें नहीं अलबेली ॥२॥

दोहा—

पर की कही नहीं सुनत अपनी कहति न बात।
तिय है पाहन ह्वै गई किधौं भयो पवि-पात ॥ ३ ॥

हिलत डुलत बोलत नहीं खोले खुलत न नैन।
कहा भयो पतिया पढ़त धरकति छतिया है न ॥ ४ ॥

१०—मूर्छा

वियोग-दशा में शरीर के दुःख-सुख का ज्ञान न रहने का नाम मूर्छा है।

उदाहरण

कवित्त—

जो चित चिता की भाँति चिनगी लगावै चेति
वाते तो अचिंतित अचित उपकारी है।
जो उर नरक नाना-यातना-निकेतन है
वाकी अनुरागिनी धरा मैं कौन नारी है।
'हरिऔध' विधि के विधान ते कहा है वस
या ही ते बतावति वियोग-व्यथा-वारी है।
मीनता मलीन-मीन-केतनता ते है मंजु
चेतना ते चौगुनी अचेतनता प्यारी है ॥ १ ॥

सवैया—

होत है ज्ञान कवौं हित कौ नहिँ, गाँठ कवौं हित की जुरि जाति है।
मोह-मयी कवहूँ दिखराति कवौ सव मोहन ते मुरि जाति है।
प्रीति कवौं छलकी सी परै कवौं दीरघ-लोयन मैं ढुरि जाति है।
है सियराति अचेत भये तिय चेतन चाँदनी मैं चुरि जाति है ॥२॥

दोहा—

दही तिया पतिया पढ़त रही देह-सुधि नाँहिँ।
पकरि उर छिलत आपनो मुरछि परी महि माँहिँ ॥३॥
कित ते इत आई अरी मंद मंद करि गौन।
मुरछित ह्वै छिति पर परी अहे परी यह कौन ॥४॥

११---मरण

प्राण-परित्याग का नाम मरण है, वियोगावस्था में चरम नैराश्य की गणना मरण दशा में की जाती है।

उदाहरण

कवित्त---

परलोक हूँ में पन पूरो होत काहु को तो
उर को प्रतीति प्रानप्यारे की घनी रहै।
अहित भये हूँ मेरे प्रति-रोम-कूपन मैं
'हरिऔध' प्यारे ही के हित की ठनी रहै।
हौ तो हौं मरत पै मिलत जो मुये हूँ कछू,
तो हौं चहौ प्रेम ही की वारुनी छनी रहै।
लगी रहै लोयन कौ ललक विलोकन की
मुख-अवलोकन की लालसा बनी रहै॥ १॥

ह्वैहैं दुखी अँखियाँ हमारी तुमै देखे बिना
आग हूँ बरैगी बार-बार मेरे उर मैं।
तेरे कल-बैन बिना कान हूँ न पैहैं कल
नीरसता ह्वैहै किन्नरीन हूँ के सुर मैं।
अधर तिहारो पान कीने बिना 'हरिऔध'
माधुरी न रहि जैहै सुधा से मधुर मैं।
तेरे बिना एरे प्रान-प्यारे ए हमारे-प्रान
पाइहैं प्रमोद ना पुरंदर के पुर मैं॥ २॥

सवैया—

काल कराल करालता मैं परि छाती छितीसन हूँ की छिली है।
रैहैं नहीं अमराधिप से अमरावति हूँ कवौं जाति मिली है।
ए 'हरिऔध' दली जो गई नहिँ ऐसी कहाँ कोऊ वेलि खिली है।
जैहै सुधानिधि हूँ कबहूँ मरि काहि सुधा वसुधा मैं मिलि है ॥३॥

दोहा—

अंत - समय अनुराग - मय पिय आवहिं जो भौन।
तो मम - जीवन - सम सफल जीवन है जग कौन ॥ ४ ॥

मग जोहत लोचन थके अब रहि जात न मौन।
जिअत मिलहु जो मिलि सकहु मुये मिलत है कौन ॥ ५ ॥

तुम आये नहिँ देह तजि पौन करत है गौन।
मम - प्यासी अँखियान को प्यास बुझैहै कौन ॥ ६ ॥

जिअन लालसा है नहीं सुनहु रसिक - सिर - मौर।
अधर - सुधारस - लालची चाहत सुधा न और ॥ ७ ॥

मरत पै चहत मानियहु मेरी इतनी बात।
मम - तन - रज पै पिय कबहुँ रखियहु पग-जल जात ॥ ८ ॥

करुण रस

स्थायी भाव–शोक

देवता–यमराज

वर्ण–कपोतचित्रित

आलंबन

प्रिय-बंधु, समाज, देश की अपार हानि, स्वजनवृंद का मरण, शोचनीय व्यक्ति, दुःखदग्ध प्राणिसमूह आदि।

उद्दीपन

दाह कर्म, प्राणिसमूह की विविध यातना, शोचनीय अथवा दुःख-जनक-दशा का दर्शन, समाज और देश-पतन का निरीक्षण आदि।

अनुभाव

भूमि-पतन, रोदन, भाग्यनिंदा, दुःखप्रदर्शन, विवर्णता, उच्छ्वास, निःश्वास, स्तंभ, प्रलाप आदि।

संचारी भाव

निर्वेद, मोह, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, विषाद, जड़ता, उन्माद, चिंता आदि।

विशेष

इष्ट के नाश और अनिष्ट की परिपुष्टता अथवा आविर्भाव से इस रस की उत्पत्ति होती है। किसी किसी ने वरुण को इस रस का देवता माना है।

उदाहरण

दिनों का फेर

कवित्त—

रमा - कमनीय - कर - लालित रहे जे लोक
तिनके अमोल - लाल अन्न को ललात हैं।
सुंदर सँवारे जाके सुर से सदन हुते
धरा परे ताके मैन - तारे दिखरात हैं।
'हरिऔध' फूटे भाग भुवनाभिरामन के
भोरे - भोरे - तात भूमि-भार भये जात हैं।
जाको बल-विभव विलोकि लोक - पाल भूले
ताके कुल - बालक बलूले लौं विलात हैं॥ १॥

पल पल पैहै आज तिनको पतन होत
देव - विभवों ते भौन जिनके भरे रहे।
ताको तात पलत चबाइ तरु - पातन को
परे जो सदैव कल्प - पादप तरे रहे।
'हरिऔध' तेई अधकूप पाहुने हैं बने
भूप ह्वै स - भीत द्वारे जिनके खरे रहे।
ताको देखि आसन तजत ना गवासन हूँ
सासन ते जाके पाकसासन डरे रहे॥ २॥

धन के कुवेर गये बीते हैं वराक हूँ ते
सूखि सूखि सुर-तरु बने हैं तुच्छ तिनके।
साज - बाज जिनको धराधिप ते दूनो हुतो
तिनके गिरों हैं रोम रोम पास रिन के।

'हरिऔध' तेज - हीन तारे हैं तरनि बने
एक से रहे हैं मेदिनी मैं दिन किनके।
तने विने तिनके निवास हैं तरुन तरे
सोने के सदन हैं सुमेर जैसे जिनके ॥३॥

कलित - कपाल अहैं कालिमा - वलित होत
सूखे जात कोमल कमल से बदन है।
लालसा - लसित उर मै है सूल सालि जाति
कसक - प्रतोद मंजु - मोद के कदन हैं।
'हरिऔध' लोचन हमारे अजहूँ ना खुले
भये विकराल क्रूर - काल के रदन हैं।
रतन - समूह भरे सौध विनसे हैं जात
सूने परे जात सजे सोने के सदन है ॥४॥

वसुधा मैं वंदनीय ज्ञान को विकास भयो
जाके वेद - गान की मधुर - ध्वनि गूँजे ते।
ताके वंश - जात मूढ़ता के तम ते हैं घिरे
मान हैं रखत माँगि माँगि मान दूजे ते।
'हरिऔध' जाकी भूत - भावना विभूति हुती
सोई है अपूत, भाव - पूत - उर भूँजे ते।
आज पेट - पूजा ताकी पूजनोय - पूँजी भई
पूजनीय पूजे गये जाके पग पूजे ते ॥५॥

करुण कथा

कवित्त—

कैसे भला चौगुनो न चित - चैन चूर होतो
क्यो न चंद वदन विपुल होतो पियरो।

कैसे रोम रोम मैं समायो दुख ऊन होतो
कैसे होतो कछुक दहत-गात सियरो।
'हरिऔध' विधवा-विलाप जो करत नाँहि
कैसे भला बावरो बनत तो न जियरो।
कैसे पिक-कूकते करेजो ना मसकि जात
हूक ते न कैसे टूक टूक होतो हियरो ॥१॥

कब लौं निबाह होतो वेदना-बहन करि
कौ लौं करि केते ब्योंत काया काँहि कसती।
व्रत-उपवास कै बितावति दिवस कौ लौं
कब लौं बचावति विवेचना बिनसती।
'हरिऔध' बार बार विपुल-बेहाल बनि
कैसे बाल-विधवा बसुंधरा मैं बसती।
मन को मसोस जो न कढतो उसास-मिस
उर की कसक जो न आँसू ह्वै निकसती ॥२॥

रूप होते जाको है कुरूपता-कुरोग लगो
कबौं जो कलंक-अंक ते न उबरति है।
बारि-धर जाको तन दहत बरसि बारि
जाकी मति मधु-रितु-माधुरी छरति है।
'हरिऔध' ऐसी बाल-विधवा अभागिनी है
जाको दुख अनुरागिनी हूँ ना दरति है।
चाँदनी चमकि जाके चित को हरति चेत
जाको चैन चूर चंद-चारुता करति है ॥३॥

ससुर को सुर जाके सुर सो मिलत नाँहिं
जाकी जर सासु ह्वै विसाग्निनी खनति है।

देवर के तेवर हैं जाको बेधि - बेधि देत
औगुन - गनन जाके ननद गनति है।
'हरिऔध' कैसे होवै बिधवा व्यथित नाँहिं
जाको जाति नाना यातना हित जनति है।
जाकी पति पिता - सम पाता हूँ रखत नाँहिं
जाके हित माता हूँ बिमाता सी बनति है ॥ ४ ॥

सवैया—

नागिनि-सी भई फूल की सेज दवागिनि-सी उर माँहिं बरी है।
मंजु कला-कर काल भयो विधवा - सुख - साज पै गाज परी है।
सो विधि क्यों न भई जरि छार अहो 'हरिऔध' जो दाह भरी है।
काहे भई छतिया छत - पूरित काहें छरी गई फूल - छरी है ॥५॥

जाको छबीलो उछाह भरो छलिया - विधि के छलछंद ते छूट्यो।
जाको सु-जीवन मंजु-हरा भव-कंटक काल के हाथ ते टूट्यो।
ए 'हरिऔध' सुहागिन होत ही जाको सुहाग अभाग ने लूट्यो।
वा सम कौन अभागिनि जाको भये बड़ भागिनि भाग है फूट्यो ॥६॥

कारुणिकता

कवित्त—

जाकी कुसुमावलि - कलित चितचोर हुती
सोई भूरि - धूरि - भरो भूतल पै परो है।
जाको फल चाखि रही रसना सरस बनी
पात बिनु नीरस ह्वै ताको गात गरो है।
एहो 'हरिऔध' जो अवनि-अंक लाल हुतो
सोई आज काल को कवल बनि अरो है।

ताप-जरो जीव जाते सुखित - खरो है भयो
सोई हरो भरो तरु सूखो, सरो, मरो है ॥ १ ॥

सवैया—

नीले बितान मैं हैं न लसे अब हैं न वसे तम मैं बनि न्यारे।
हैं रजनी के न अक बिभूखन हैं न बिलोचन - रंजन - हारे।
ए 'हरिऔध' न हीरक से अब हैं बिलसे बर - जोति - बगारे।
तेज - बिहीन ह्वै धूरि - भरे महि मैं हैं परे बिखरे नभ - तारे।

मर्म्म-व्यथा

कवित्त—

आवत है दूर ते बिमोहित बिपुल बनि
भावतो न मानतो अभाव को तो हरतो।
तन - मन - वारि भूरि - भावरैं भरत हेरि
रीझ जो न जातो भले - भाव ते तो भरतो।
'हरिऔध' कहै एरे दीप तू दिपे है कहा
लोक ते नहीं, तो परलोक ते तो डरतो।
देह क्यों दहत है पतग जैसे प्रेमिक को
नेह भरो ह्वै कै क्यों सनेह है न करतो ॥ १ ॥

सवैया—

चंद चकोर को चाहै नहीं पै चकोर है चद को चाहि निहारत।
नीर कबौं नहिँ मानत मीन को मीन है नीर ते जीवन धारत।
ए 'हरिऔध' अनेही कबौं नहिँ नेह कै नेहिन कोँहिं निहारत।
है न पयोद पपीहरा प्रेमिका प्रान पपीहा पयोद पै वारत ॥२॥

लोचन-विहीनता

कवित्त—

जाति - दयनीय - दसा देखि दुख होत नाँहि
लोच - भरी - बात पै रहत ललचाये है।
हित को अहित औ अहित को कहहिं हित
पेच - पाच - वारे पेच पाच पै लुभाये हैं।
'हरिऔध' भूल ही पै भूल हैं करत जात
अजहूँ लिलार - लेख को न भूल पाये हैं।
कोरे बनि करहिं निहोरे करजोरे रहैं
भोरे-भोरे-भाव भोरे - हिंदुन को भाये है ॥ १ ॥

जगत मैं जाकी जगमगत सु - जोत रही
वाकी जाति - वारे नाँहिं जागत जगाये हैं।
तेज - हीन भये जात तात तेज - वारन के
जीवन - विहीन जग - जीवन के जाये हैं।
'हरिऔध' आज तिल ताल तिनहूँ को भयो
कबहूँ तिलोक के जे तिलक कहाये हैं।
भरत के पूत हूँ उभारे उभरत नाँहिं
भारतीय भोरे - भोरे भाव पै लुभाये है ॥ २ ॥

तंत कै कै हिंदुन को अंत जो न देहैं करि
कैसे तो दिगंत माँहिं कीरति वितरिहैं।
कैसे भारतीयता - बिभव को विकास कैहैं
भूति जो न भरत - कुमारन की हरिहैं।
'हरिऔध' देस प्रेमपाग मैं पगैंगे किमि
जो न जाति-लालसा लहू सों हाथ भरिहैं।

कैसे कुल - कमल कहाइहैं कमाल करि
कुल को कलक ते कलंकी जो न करिहैं ॥ ३ ॥

सवैया —

केते कलंक भयों के भये बलि केते गये गरिमा ते गिले हैं।
ऐसे धरा में अनेक धँसे जिनके मुख-पकंज हूँ न खिले हैं।
छोजि गये अजौं छीजत जात तऊ हिय पाहन से न हिले हैं।
घूर पै फूल-से-बाल मरे बहु धूल में लाखन लाल मिले हैं ॥४॥

विनय

सवैया—

औगुन के ही रहे बन औगुनी नाहिँ गुनी गुन की गरुआई।
औरन पेरि भई पुलकावलि जानि परी नहिँ पीर पराई।
आकुल भो 'हरिऔध' कहाँ अवलोकत ही जनता अकुलाई।
देखि भरी दुखिया-अँखियान की है न कबौं अँखिया भर आई ॥ १ ॥

आँखि-विहीन हौं आँखिन आछत नाथ कबौं अँखिया मत फेरो।
मो मति पगु भई है, मया करो अध औ पगु को पथ निवेरो।
है 'हरिऔध' तिहारो न औरको जैहै कहाँ तजि कै पग तेरो।
मो करनीन ते काज कहाँ करुना करिकै करुनाकर हेरो ॥ २ ॥

विपत्ति-वासर

दोहा—

जल सूखे, अमरस भयो, सरसिज नाँहिँ लखाहिँ।
कैसे विसर न जाँय खग ऐसे सरवर काँहिँ ॥ १ ॥

दूर भई सब मंजुता ताकत नाँहिँ मिलिंद।
अवनीतल पै है परो धूरि भरो अरविंद ॥ २ ॥

मिलत नहीं फल फूल दल रही न छाया आस ।
कैसे आवैं खग सकल सूखे-तरु-वर-पास ॥३॥

झरि सूखे रज मैं मिले भये काल प्रतिकूल ।
न्यारी लाली रखत हे लाल लाल जे फूल ॥४॥

जिन मैं तरु-वर लहलहे रहे महा-छवि देत ।
हैं उजरे सूखे परे हरे भरे ते खेत ॥५॥

मनोव्यथा

दोहा—

कब तोको निरखत नहीं पपिहा प्रीति-समेत ।
घन तू पाहनता करत जो पाहन हनि देत ॥१॥

कत चमकावत वारि-धर चपला-मिस तरवारि ।
चाहत केवल बूँद द्वै चातक चोंच पसारि ॥२॥

आजु कालि मैं लेहु सुधि मरत जिआवहु पालि ।
घन तब जल बरसे कहा सूखि गयो जब सालि ॥३॥

हरो भरो मरु नहि भयो बुझी न चातक-प्यास ।
घन तो बरसत वारि कत जो जरि गयो जवास ॥४॥

अकरुण चित्त

दोहा—

कोऊ चितवत चित्त दै कब चाहक की ओर ।
अछत चारु कर चंद के चिनगी चुगत चकोर ॥१॥

कहा नेह करि कीजिये भलो न नेही संग ।
दीपक के देखत दहत अपनो गात पतंग ॥२॥

कैसे तानत बान तू छोड़ि मनोहर तान ।
रंग रखत कैसे बधिक हरि कुरंग को प्रान ॥३॥

जो जानत जन तोरिहैं लखि सुखमा - सुखमूल।
तो काहे को फूलतो कबहूँ कोऊ फूल ॥४॥
कहा मनोहरता मिले पाये सरस - सुबास।
मधुप न मोहत तो कहा सुंदर - सुमन - विकास ॥५॥

बेचारे बिहंग

दोहा—

बसत बिपिन मैं खात फल पिअत सरित - सर - नीर।
तिन बिहगन कहँ बेधहीं मारि वधिक - गन तीर ॥१॥
काहे बिधि सुदर कियो दियो सुहावन - रग।
वधिक - बान बेधत रहत जो बिहग को अग ॥२॥
तीखे बानन ते बिधत कुसुम - मनोहर - अग।
चित्रित पर लै का करैं ए बापुरे बिहग ॥३॥
बसुधा मैं बेधत वधिक गहत गगन मैं बाज।
कहाँ जाय बिहरैं बसै बेबस बिहग - समाज ॥४॥

अंतर्वेद

दोहा—

जाते आलोकित बनैं तिमिर - भरे सब ओक।
कबहूँ फिर अवलोकिहै भारत वह आलोक ॥१॥
गई आँखि हूँ जाहि लहि जोहन - वारी होति।
कहा कबौं फिर जागिहै जाति माँहि सोइ जोति ॥२॥
जाते बहु - विकसित बनत जनजन, पूजे आस।
का कबहूँ ह्वैहै न फिर वैसो सरस - विकास ॥३॥

अद्भुत

स्थायी भाव—विस्मय अथवा आश्चर्य

देवता – ब्रह्मा

वर्ण – पीत

आलंबन

अलौकिक-वस्तु असंभवित-व्यापार लोकोत्तर-कार्यकलाप विचित्र दृश्य आदि।

उद्दीपन

लोक-चकितकर-कार्य-कलाप, वस्तु और व्यापारों का दर्शन, गुण-श्रवण, महिमा-निरूपण, वैचित्र्य-अवलोकन आदि।

अनुभाव

स्तंभ, स्वेद, रोमांच, गद्गद स्वर, संभ्रम, नेत्रविकास आदि।

संचारी भाव

वितर्क, आवेग, भ्रांति, हर्ष, औत्सुक्य, चांचल्य आदि।

विशेष

किसी किसी ने इस रस को देवता गंधर्व माना है।

रहस्यवाद

मनहरण

कवित्त—

छवि के निकेतन अछूते - छिति छोर माँहि
काकी छवि - पुंजता छगूनी - छलकति है।
वन उपबन की ललामता ललाम ह्वै ह्वै
काकी लखि ललित - लुनाई ललकति है।
'हरिऔध' काको हेरि पादप हरे हैं होत
कुसुमालि काको अवलोकि पुलकति है।
कौन बतरै है बेलि माँहिँ काकी केलि होति
कली कली माँहिँ काकी कला किलकति है ॥१॥

मंद मंद सीतल - सुगंधित - समीर चलि
कत प्राणि - पुंज को पुलकि परसत है।
भूरि - अनुराग - भरी ऊषा को कलित अंक
कत प्रति - बार ह्वै सराग सरसत है।
'हरिऔध' अंत ना मिलत इन तंतन को
कत ह्वै सुहावनो दिगंत दरसत है।
काकी सुधा - धार ते सुधाकर सरस बनि
सारी - वसुधा पै न्यारी - सुधा बरसत है ॥२॥

लहलहे काको लहे - उलहे - विटप होत
कासों हिले लतिका ललाम ह्वै ह्वै हिलती।
काके गौरवों ते गौरवित ह्वै लसत गिरि
धन - रासि धरा काके बल सों उगिलती।
'हरिऔध' होतो लोक मैं न लोक-नायक तो
कलिका कुसुम की विलोकि काको खिलती।

दमक दिखाति काकी दमकति - दामिनी मैं
चाँदनी मैं चंद मैं चमक काकी मिलती ॥ ३ ॥

एक तिनके ते है अनंतता विदित होति
पथ - रज - कन हूँ कहत 'नेति' हारे हैं।
सत्ता की महत्ता पत्ता पत्ता है बताये देति
काल की इयत्ता गुने लोमस, विचारे हैं।
'हरिऔध' अनुभूति - रहित बिभूति अहै
विभव-पयोधि-वारि-विंदु लोक सारे हैं।
भव - तन मैं हैं भूरि भूरि रवि सोम भरे
बिभु रोम रोम मैं करोरो व्योम-तारे हैं ॥ ४ ॥

देहिन को सुखित सनेहिन - समान करि
पंखे अति - मंजुल - पवन के हिलत हैं।
चंद के मनोरम - करनते अवनि काज
चाँदनी के सुंदर बिछावने सिलत हैं।
'हरिऔध' कौन कहै काके अनुकूल भये
सीपन मैं मोती मनभावने मिलत हैं।
कीच माँहिं अमल - कमल विकसित होत
धूल माँहिं सुमन - सुहावने खिलत हैं ॥५॥

काल - अनुकूल कैसे कारज - सकल होत
पिक कूके कैसे सारो ककुभ उमहतो।
बिकसित कैसे होति कला कुसुमायुध की
कैसे लहराति लता पादप उलहतो।
'हरिऔध' हेतु-भूत सत्ता जो न कोऊ होति
कुसुम - समूह कुसुमाकर क्यो लहतो।

बैहर क्यों डोलति बहन के मरद भार
मलय-समीर मंद मंद कैसे बहतो ॥ ६ ॥

फूल खिले देखे कै बिलोके हरे-भरे-तरु
भूलि निज-भाव ललचाई ललकैं थकीं।
जा थल दिखातो लोक-लोचन छबीलो लाल
औरै छबि देख वाँ उमंग-छलकैं छकीं।
'हरिऔध' उत भव-हित मैं लुकत हरि
इत सुख-मुख जोहि जोग-जुगतें जकीं।
कित हूँ लसे न बिलसे न हग सौहैं कबौं
आँखि मैं बसे हूँ ना विलोकि अँखियाँ सकीं ॥ ७ ॥

बसि घर बार मैं बिसारे घर बारिन को
घरी घरी बचि घेर घारन के घेरे ते।
तम मैं उँजारो किये उर को उँजारो लहि
देखे जग-जीवन के जीवन को नेरे ते।
'हरिऔध' कहै भेद खुलत अभेद को है
सारे-फेर-फारन ते मानस को फेरे ते।
कानन के कानन की बातन को कान करि
आँखिन की आँखिन को आँखि माँहिं हेरे ते ॥ ८ ॥

नैश गगन

कवित्त—

आलोकिक उजरे सुनहरे सुहावने हैं
कारे पीरे नीले हरे भूरे रतनारे हैं।
नयन-विमोहन विचित्रता-निकेतन हैं
विधि-कमनीय-कंज-कर के सँवारे हैं।

'हरिऔध' बिभु-बिभुता के हैं अनंत ओक
लोक - अनुरंजन के सहज सहारे हैं।
तेज-तोय-निधि के बबूले - चमकीले चारु
व्योम-तरु - तोम के फबीले - फूल तारे हैं॥ १॥

प्रकृति - असीमता - अनंतता के अंकुर हैं
आकर हैं अमित - प्रभाकर के थल के।
विपुल - अलौकिकता - ललित - निकेतन है
केतन हैं लौकिक - ललामता महल के।
'हरिऔध' विभु की बिभूति ते विभूति-मान
वैभव हैं मूल - भूत साधन सकल के।
दिवि के दुलारे लोक - प्यारे तेज पुंज-वारे
सुथरे - सँवारे सारे तारे नभतल के॥ २॥

कोटि कोटि कोस को है अंतर सितारन मैं
लाख लाख कोस माँहि काया निवसी अहै।
अवलोके गये नाँहिं अजहू कई करोर
मति अजौं कोटिन की थिति मैं फँसी अहै।
'हरिऔध' गिने नाना - तारन - कतारन के
अरब खरब की विवृति विनसी अहै।
तारे हैं अनंत - या अनंत नभ-मंडल मैं
एक एक तारे मैं अनंतता बसी अहै॥ ३॥

कोटि-कोटि-तारे भिन्न भिन्न रंग - रूप - वारे
विपुल वगारे जोति वगरे अरे अहैं।
कोटि कोटि छन छन छीजत बनत जात
जगत - जवाहिर से कोटिन जरे अहैं।

'हरिऔध' कोटि कोटि दिवि-पति देव
कोटि कोटि धाता पाता अंक मैं परे अहैं।
सारे - त्रिभा-वारे के समूह को सहारे दै दै
भारे - भारे - भूरि-भानु नभ मैं भरे अहै ॥ ४ ॥

किधौं हैं अनत मैं अनत-वायु - यान उडे
प्रकृति - बधू के किधौं लोचन के तारे हैं।
नदन - विपिन तरु के हैं किधौं दिव्य-फल
किधौं कल्प - पादप प्रसून - पुंज प्यारे हैं।
'हरिऔध' किधौं हैं विमान दिवि देवन के
उडहिं पतंग कै पतगम ए सारे है।
रतन पसारे हैं कि पारे के सँवारे - पिंड
अनल - अँगारे किधौं न्यारे - नभ-तारे हैं ॥ ५ ॥

सागर, सरित, सर, बन, उपबन, मेरु,
घन, जन, विपुल वहन कै अभै से हैं।
पल पल भ्रमत रहहिं विकसहिं भूरि
दिव्यता - निकेतन वतावैं किमि कैसे है।
'हरिऔध' लाख लाख कोस को कलेवर है
तारक - विमान मजु आप आप - जैसे हैं।
बडे - वेग - वान छवि - मान तेज के निधान
आन नभयान, ना जहान माँहिं ऐसे हैं ॥ ६ ॥

किधौं नील - अंवर मैं सलमा, सितारे टँके
किधौं नभ - अक मैं अनंत जोति जाल हैं।
स्यामल चँदोवे के किधौं हैं चमकीले-विंदु
किधौं मान - सर मैं कलोलत मराल हैं।

'हरिऔध' किधौं ताल माँहिं हैं कमल फूले
किधौं तम - तोम माँहिं वरत मसाल हैं।
तारक कै निसि-कंठ - माल के मुकुत - मंजु
खेलत कै दिवि मै दुलारे देव - बाल हैं ।।७।।

हीरक लुभात हेरि सेतता सितारन की
वारति ललाई लाल - तारन पै गुंजता।
तारक - अवलि अवलोकि मोहि मोहि जाति
नंदन - विपिन-कुसुमों की कल - कुंजता।
'हरिऔध' मंजुता कथन मैं कला - कर की
मानव चकित होत हेरि मति - लुंजता।
छहरि छहरि छके - नैनन को छोरे लेति
तारों-भरी राति की अछूती - छवि-पुंजता ।।८।।

कतहूँ प्रकृति की अछूती - छटा छहरति
कहूँ देव - वाला मंजु- मंडली हँसति है।
कतहूँ दिखाति है कतार तारकावलि की
कहूँ जगी-जोति सुधा - धारा मैं धँसति है।
'हरिऔध' ताकी अलौकिकता वतावै कौन
जामैं सारी-कांति कांति-कांत की वसति है।
बहु - रवि-ससि ते ललित ओक ओक अहै
नभ मैं ललामता त्रिलोक की लसति है ।।६।।

विचित्र चित्र

कवित्त—

दिवि है अदिवि उत देव हूँ अदेव अहैं
वाकी न्यारी - जोति अहै जगत जहाँ नहीं।

वाको तेज जित को हरत तम - तोम नाँहिं
तेज बितरत है तरनि हूँ तहाँ नहीं ।
'हरिऔध' जहाँ पै न रस सरसत वाको
सरस मिलत सरि सर हूँ वहाँ नहीं ।
तीनों लोक माँहिं रंग रंग की कलायें करि
मन की तरंग है तरंगित कहाँ नहीं ॥१॥

मरो जन हेरत न भुवन - बिभूति काँहिं
जोहत न भानु जोति भव मैं पसारे है ।
सूँघत न सुनत न गहत कहत कछु
काठ - सम रहत विचारन ते न्यारे है ।
'हरिऔध' नाँहिं अनुभवत परस पौन
सारी - अनुभूतिन ते रहत किनारे है ।
जीवन - बिहीन - जन को न जग-भान होत
जगत की सत्ता जीव - जीवन सहारे है ॥२॥

कहूँ तरु हिलत लसति तृन - राजि कहूँ
कुसुम खिलत कहूँ वेलि उलहति है ।
नाचत मयूर कहूँ गान है करत भृंग
कलित कथान कहूँ सारिका कहति है ।
'हरिऔध' कतहूँ कलोलत हैं मृग - यूथ
प्रकृति - वधूटी कहूँ नटति रहति है ।
कहूँ रंग रंग के कमल सों लसे हैं सर
कतहूँ तरंग - वती सरिता वहति है ॥३॥

कहूँ रस - धारा कहूँ वहति रुधिर - धारा
कोऊ कुम्हिलात कोऊ कंज लौं खिलत है ।

कहूँ है मसान कहूँ सरग विराजमान
कोऊ विहँसत कोऊ बेत लौं हिलत है।
'हरिऔध' विधि - करतूति बहु - रंगिनी है
कहूँ राग - रंग कहूँ हियरा छिलत है।
कतहूँ अराजक, है राजत स्वराज कहूँ
कोऊ राज लेत कोऊ रज मैं मिलत है ॥ ४ ॥

आगि लगि जाति है जवासन के तन माँहिं
बिदहत अरक - दलन अवलोके हैं।
पी पी कहि बारि पी न सकत पपीहरा है
पवि के प्रहार हूँ रुकत नाँहिं रोके हैं।
'हरिऔध' पावस मैं निसि तम-तोम माँहिं
बरत प्रदीप पादपन पै विलोके हैं।
बारिद बहावत सुधा है बसुधातल पै
बरसत मोती मंजु - मारुत के झोके है ॥ ५ ॥

हंस को गयंद औ गयंद हंस होत हेरे
रंभा के सु - खंभ वारिजों पै गये रोके हैं।
चंपक की कलित - कलीन माँहिं तारे मिले
भुजग कलभ - कर माँहिं अवलोके हैं।
'हरिऔध' मंजुल जपा - दल बनत लाल
गहव गुलाबन पै मोती गये लोके हैं।
कंजन मैं ललित - लुकंजन लसत देखे
बिधु मैं चपल युग - खंजन विलोके हैं ॥ ६ ॥

अनुकूल रहि प्रतिकूलता करहिं नित
वचन - रसाल कहि खींचि लेत खाल हैं।

'छल' ना करहिँ पै करेजो छीलि छीलि देहिँ
राखत कपाल बानि लेत वाल बाल हैं।
'हरिऔध' का हैं ए स्वराज तरु-आलवाल
सुमन की माल कै भुजंग - बिकराल हैं।
जाति - हित - ढाल किधौं हितू कंठ-करवाल
हिंदू - कुल - लाल किधौं हिंदू-कुल-काल हैं ॥ ७ ॥

मंदिर विलोकि कै पुरंदर सिहाने रहैं
पास सदा इंदिरा को आसन परो रहै।
सारे-लोक पिसैं पावैं कन ना पिपीलिका हूँ
पै प्रभूत - धन धरा - धिप लौं धरो रहै।
'हरिऔध' चाहत हैं भोरे - भाग वारे यहै
छूवै ना छदाम द्वारे धनद खरो रहै।
भावते अभाव हरि भोला - नाथ भूले रहैं
भवन सदैव भूरि - वैभव - भरो रहै ॥ ८ ॥

दोहा—

है लौकिकता - रहित हरि परम अलौकिक चीज।
है वारिद - भव - सालि को जगत - विटप को बीज ॥ ९ ॥

चित - अलि कत भरमत रहत कहाँ नहीं है वास।
विकसित - कुसुमन मै अहै काको सरस - विकास ॥१०॥

कहाँ नहीं निवसत अहै सकल - लोक - अभिराम।
लखन जोग लोयन लखत वाको रूप - ललाम ॥११॥

आलोकित वाको करै मिल्यो न वह आलोक।
लोक छोरि परलोक को कत अवलोकत लोक ॥१२॥

तीनो लोकन मैं फिरे देखे तीनों काल।
कहि पायो परलोक को को अवलोकित - हाल ॥१३॥

हित चाहै पर अहित करि द दै पूजा भूरी।
हरि आँखिन हूँ मैं अधम झोंकन चाहत धूरि ॥१४॥

का जग है काहें भयो कहा हेतु का काम।
कौन बतैहै कौन है या मंदिर को राम ॥१५॥

बाँधन हित भव-उदधि मैं सत-रज-तम को सेतु।
है त्रि-देव की कल्पना एक देव के हेतु ॥१६॥

प्रेम-पिपासा है-बढ़ी चित प्रति-दिन पवि होत।
पारावार तरन चहत रचि पाहन को पोत ॥१७॥

कैसे अनुरागी बनै है न राग-मय अंग।
'लाल' न, कारो चित भयो लहे लाल को रंग ॥१८॥

सवैया—

सामने होति नहीं अँखियाँ मुँह फेरि सुनावत बैन रसीले।
आनन जोहत वासर बीतत मोहिं रिझावत खोजि वसीले॥
ए 'हरिऔध' मरोरत भौंह नचावत नैनन को करि हीले।
कोऊ लजीली लजै है कहाँ लगि आप ही जो हैं लजात लजीले॥२॥

घुड़की धमकी

कवित्त—

आँखि दिखराइहैं तो दुगुनी दिखैहौं आँखि
पर - चित - चोरन की कसर निकारिहौं।
रार जो मचैहैं तो तिगूनी तकरार ह्वै है
पीछे परे वार वार पकरि पछारिहौं।
'हरिऔध' मान किये वनिहौं गुमानिनी हौं
कैसे भला नारी ह्वै अनारिन ते हारिहौं।
गारिहौं गरव सारो गोरे - गात-वारन को
मरद - निगोरन की गरमी निवारिहौं॥१॥

मद - मंद हँसि मंजु - वैनन सुनैहैं नाँहिं
चित हूँ न चंचल - चितौनन ते चोरिहैं।
लोल - लोल-लोयन ते मानस लुभैहैं नाँहिं
भौंह हूँ न भाव - साथ कवहूँ मरोरिहैं।
'हरिऔध' नर हैं नकारे तो नकारे रहैं
नारि हूँ नरन ते तमाम नातो तोरिहैं।
अव चाव साथ वैठि रुचिर - अगारन मैं
गोरे गात-वारन को गोरी ना अगोरिहैं॥२॥

आदर न पैहैं तवौ बार जो वितैहैं खरे
तवौं ना लुभैहैं जो मनो - भव लौं लसिहैं।
सहज - सनेह के न भाजन बनैंगे तवौं
मंद - मंद मोहक - मयंक लौं जो हँसिहैं।
'हरिऔध' अकस तजत ना अकस - वारो
कसे काँहि कब लौं कसौटिन पै कसिहैं।
कबौं काहू कामिनी नयन मैं बसे तो बसे
नर अब नारि के नयन मैं न बसिहैं॥ ३॥

सरस - बदन - वारी विरस - बदन ह्वैहै
गुनन - गहन - वारी औगुन को गहिहै।
उपहास कै है मंद - मंद - विहँसन - वारी
नेह - गेह - वारी - नेह - गेहता न लहिहै।
'हरिऔध' पति - परतीति मैं न प्रीति रहे
राग - मयी महि मैं विराग - धारा बहिहै।
पिक - बैनी पिक - बैनता ते पुलकैहै नाँहि
मृग - नैनी - मृग - नैनता ते रूसि रहिहै॥ ४॥

मोहक - मधुर - प्रेम मलय - समीर लगे
कामना की वेलि नाँहि मंद - मंद हिलिहै।
नंदन - विपिन - सम - मानस - मनोरम मैं
मंजु - भाव - पारिजात-कुसुम न खिलिहैं।
'हरिऔध' कांत को अकात अवलोकि है तो
मृदुल - करेजो कुल - कामिनी को छिलिहै।
कोमलता कमल - वदन की न काम ऐहै
कनक लता मैं कमनीयता न मिलिहै॥ ५॥

सबला अबला

कवित्त—

सास औ ससुर मैं न नेह जो भयो तो कहा
दृग मैं सनेह-मयी जब महि सारी है।
माता और पिता के मनाये और माने कहा
मानवी को जब मंजु-मानवता प्यारी है।
'हरिऔध' मानै क्यों समाज-जीति मान-वारी
वाने जब समता की ममता पसारी है।
पूजि पूजि पद प्रेम-रंग-रँगे-प्रेमिन को
बिना पति पूजे पूजनीय होत नारी है॥ १॥

कैहौ सावधान ह्वै स्वतंत्रता-सुरा को पान
कौ लौं परतंत्रता कसैलो-रस चखिहौं।
हरिहौं गुमान मगरूरी-अविचारिन को
परम-अनारिन कौं नारी हूँ परखिहौं।
देखि 'हरिऔध' बंक-भौंह ना सकैहौं नेक
मुख ना कलंक-अंक-अंकित के लखिहौं।
बे-परद ह्वैहौं ना निवारि सारे-परदान
चादर उतारि लाज-चादर मैं रखिहौं॥ २॥

जुलमी-नरन के दुसह-जुलमन कौंहिं
आजु लौं सह्यो तो सह्यो अब नाँहिं सहिहै।
देखिहै न आँख कवौं फूटी-आँखि-वारन को
या हू को न सोच है कि कोऊ कहा कहिहै।
'हरिऔध' ढाहि ढाहि भीतन अभीत ह्वैहै
टूक टूक करि परदान को उमहिहै।

नाचिहै उघरि जो उघारन न मुख पैहै
बंद कौ लौं घरनी घरन मॉहिं रहिहै ॥ ३ ॥

सवैया—

प्रीति न कैहैं कबौं परदान ते नीति - पुरातन ना प्रतिपालिहै।
लाख करौ कोऊ पै कुल-लाज को लोयन-कोयन मॉहिं न लालिहै।
जो कहिहै 'हरिऔध' कबौं कछु सूल लौं तो तेहि के उर सालिहै।
घूँघट घालि लै घूँघट - लोलुप घूँघट - वारी न घूँघट घालिहै ॥४॥

पुष्प वर्षा

कवित्त—

लंबी लंबी - बतियाँ सुनी है लालसायें भरी
सुफल न लाये नेह - बीज देखे बोके हैं।
चूर चूर किये केते अरुचिर - चावन को
चूके बिना चित के चपल - भाव रोके हैं।
'हरिऔध' बाला है अचल लौं अचल ताहि
नाहि विचलाते चाल-मारुत के झोके है।
वार वार लाली अवलोकी है कपोलन की
लालन के लाल-लाल-लोयन विलोके हैं ॥ १ ॥

अखिल-छबीले हैं छबीली-छवि-अनुरागी
रस - मयी रसिका के रसिक बसेरे हैं।
मधु-मयी मधु की मधुरता पै मोहित ह्वै
मधु - लोभी करते मधुप - सम फेरे हैं।
'हरिऔध' कैसे नारि - समता करैगो नर
रूपसी मैं रत रूप - वारे बहुतेरे हैं।

लाल सब लोच-वारे-लोचन के लालची हैं
कामुक - सकल काम - कामिनी के चेरे हैं ॥ २ ॥

छबि के निकेतन हैं छबि के सहारे बने
तन मैं नवलता लसावति नवेली है।
मोहकता मिली जोहि जोहि मोहनी को मुख
गौरव गहाइ देत गरब - गहेली है।
'हरिऔध' नरता की नारिता सजीवन है
नारि के सनेह ही ते साहिबी सहेली है।
अलवेले याहि ते रहत अलबेले बने
अलवेलेपन मैं बसति अलबेली है ॥ ३ ॥

भामिनी के ओप-वारे भाल के बिमल भाव
तम - वारे मानस के मंजुल - अँजोर हैं।
घन-रुचि-रुचिर चिकुरवारी-कामिनी के
कामुक - निकर - कमनीय - तन - मोर हैं।
'हरिऔध' सकल - सरस - चित चाव-साथ
सरसा के कलित - रसों मैं सराबोर हैं।
चखन की कोर चितचोर की है चितचोर
चंद-मुख-वारे, चंद - मुखी के चकोर हैं ॥ ४ ॥

सवैया—

वंदी ललाम न कैहै लिलार को जो न वनी रहिहै मुख-लाली।
जो है विलासिता की जननी तो न कानन माँहि विराजिहै वाली।
वाजिहै ना पग - नूपुर हूँ यदि मानवता वनिहै मतवाली।
दूखित ह्वै है विभूखन ते तो विभूखित ह्वै है न भूखन-वाली ॥५॥

अधजल गगरी

कवित्त—

वालपन ही ते जो न वानरता वादि देति
लोग क्या न तारी दै दै वानर तो कहते।
दूर जो न करति बिपुल पसु की सी वानि
कैसे तो न पसुता-तरग ही मैं वहते।
'हरिऔध' गहते न गैल मनुजातन की
वहँके गरूर-वारे गौरव न लहते।
नारी को परखि कौन हरति अनारीपन
नारी जो न होति तो अनारी नर रहते ॥१॥

सच्चे जाति-हितैषी

सवैया—

हैं जनता को जगावत जागि कै पै नहीं जागि सकी मति सूती।
हैं अवनीतल के उपकारक छाँह नहीं कुल-भीति है छूती।
जाति रसातल जाति चली पै कहावत हैं जग मैं करतूती।
सारत काज सपूत समान हैं काहै सपूत की और सपूती ? ॥१॥

'वा' नरता को करेजो निकारिहौं नारिता की जर जो खनती है।
'वा' विधी के उर हूँ को विदारिहौं जो विधि-बामता मैं सनती है।
ए 'हरिऔध' क्यौं नहिं मानिहौं 'छूटी न' गाढ़ी अजौं छनती है।
तो सधवा करिहौं विधवान को जो सधवा, विधवा वनती है ॥२॥

नेता

सवैया—

जाति मैं वोअत आगि रहैं कुल मैं हैं विरोध की आग जगावत।
आग लगाइ कै दूर खरे रहि व्यौंत बुझावन के हैं बतावत।

हैं 'हरिऔध' बने अगुआ पर आग ही के उगिले सुख पावत।
हैं सुलगावत देस मैं आग तऊ मुँह मैं नहीं आग लगावत ॥१॥

नाम से काम बड़ी बडी बात बड़े कपटी तऊ उन्नत चेता।
चौंकत पातन के खरके पग फूँकि धरैं पै बनैं जग-जेता।
हैं धँसे जात धरातल माँहिं कहावत लोक मैं ऊरध-रेता।
जोरत प्रीति अनीति न छोरत नीति न जानत नाम है नेता ॥२॥

सच्चे वीर

कवित्त—

अपनी अधम-रुचि रुचि-कर-बेलि काँहिं
बालिका-रुधिर-धार ही सों सदा सींचिहौं।
तनिक न ह्वै हौं दुखी तिय-तन-तापन ते
देखि महा-पापन को नयन, न मीचिहौं।
नाम मेरो सुने नाक नरक सिकोरिहै तो
यमराज-दंड सौंहैं बनिहौं दधीचि हौं।
खोलिहै जो मुँह तो तुरंत ऐंचि लैहौं जीह
बोलिहै जो बाल-बिधवा तो खाल खींचिहौं ॥१॥

सवैया —

हैं मिटे जात पै आँखिन खोलत हैं बहे जात पै देत हैं खेवा।
हैं सग को कबौं बात न पूछत हैं ठग काँहि खिआवत मेवा।
है सनमान बिसासिन-नारि को हैं चली जात रसातल वेवा।
देस को सेवक दूसरो कौन है दूसरी कौन है देस की सेवा ॥२॥

ऊँची न कैसे रखैं अँखियाँ बने ऊँच हैं नीचन काँहि चपेटे।
औरन को किमि मान करैं जब मान मिल्यो मरजाद के मेटे।
माहुर हैं पै बने 'मधु-मान हैं, हैं फन साँप के फूल लपेटे।
कैसे न दूर बड़प्पन सों रहैं, हैं बड़े औ बड़े बाप के बेटे ॥३॥

सच्चे सपूत

सवैया—

पूत हौं, काहु को दास नहीं अपनो पद कैसे नहीं पहिचानिहौं ।
एक पढ़ो लिखो, मूढ़ है दूसरो, कैसे समान दुहून को जानिहौं ।
जो 'हरिऔध' भई मन की नहीं कैसे भला तो नहीं हठ ठानिहौं ।
बाप के मानन की कहा बात मैं बाप के बाप हूँ को नहि मानिहौं ॥ १ ॥

कोऊ नवीन नवीनता को तजि कैसे पुरातन-पंथ गहैगो ।
याको करै परवाह कहा लगि बाप जो वाहि कपूत कहैगो ।
ए 'हरिऔध' सपूत कहा करै कैसे भला अपमान सहैगो ।
बात के माने नहीं मन मानिहै बाप के माने न मान रहैगो ॥ २ ॥

का करै पूत बड़ो सुखिया जननी जो रहै दुखिया बनि भूखी ।
वाको भला कबौं कैसे मिले कछु दैव बनाइ दियो जेहि रूखी ।
बाप के भाग ही को यह भोग है जो नहीं पावत रोटियौं रूखी ।
जो मुख सूखो न देख्यो गयो कबौं सो सुख बात कहै यदि सूखी ॥ ३ ॥

साहब बहादुर

कवित्त—

सूट की सनक क्यों न सिर पै सवार होय
क्यों न कोट पतलून प्रीति होवै महती ।
नकटाई कालर गले न परि जाय कैसे
टोप बूट-चाट क्यों रहै न रुचि सहती ।
'हरिऔध' क्यों न बुरो मानैं जात पाँत-वारे
क्यों न होवै जनता अनेक बात कहती ।
साहब हमारे कैसे साहब बनहिं नाँहि
साहब बने ही जो पै साहिबी है रहती ॥ १ ॥

बाप को न मानैं सनमानैं जननी को नाँहिं
मेम कुल-बाला को बखाने उमहत हैं।
निज वेस तजि पर-बेस पै बिकाने रहैं
बोली हूँ बिरानी बोलि बोलि निबहत हैं।
'हरिऔध' कौन सी सपूती दिखरैहैं और
साहब हमारे साहिबी ही मैं रहत हैं।
पोटी दूहि दूहि कै पुनीत-परिपाटिन की
चोटी काटि काटि बात चोटी की कहत हैं ॥ २ ॥

सवैया—

सूट की चाट के चेरे रहे कबहूँ उतरी नहीँ बूट की बूटी।
सपति बानक-बंदिनी सी रही हैट के हाथ गई पति लूटी।
ए 'हरिऔध' बँधी मरजाद हूँ कोट के बंधन मैं परि टूटी।
कालर काल भई कुल-मान की नाक कटी नकटाई न छूटी ॥ ३ ॥

कच्चा चिट्ठा

सवैया—

काम ते क्यों न करैं मनमानते जे मन के गये दास गिने हैं।
कैसे नहीं तब ताने सहैं जब बानैं बुरी रहती दहिने हैं।
ए 'हरिऔध' है मूँछ बनी अथवा मुख के छबि-वारे छिने हैं।
या बिगरैल बिलासिनि हाथ सों बालम मूँछ के बाल बिने हैं ॥ १ ॥

चाहत के रसचाखन चाहहिं भूत के पूत चुरैल के चेले।
बानर है पहचानन चाहत पारस से मनि को मुख मेले।
का 'हरिऔध' कहै गति काल की केले समान कहाँहिं करेले।
छैल छिछोरे, छछूँदर हैं बने, बैल कहावत हैं अलबेले ॥ २ ॥

वज्र-प्रहार

कवित्त—

पाइ के बिजाति-पग-लेहन सरग-सुख
कैसे जाति-हित के नरक माँहि परिहै।
करि कै कुटिल-नीति-सरस-सुधा को पान
कैसे ना सुनीति की सुरा को परिहरिहै।
'हरिऔध' तोरत जो गगन-तरैया अहै
कैसे दृग-तारन में जोति तो बितरिहै।
कुल को कलंक अकलंकता को बानो अहै
हिंदू-कुल बिपुल-कलंक कैसे हरिहै॥ १॥

कैसे तो कपूत ह्वै सपूत-सिर-मौर ह्वैहै
भारतीयता के झूठे 'भाव' न दिखैहै जो।
देस प्रेम-पथ को पथिक क्यों कहैहै क्रूर
आपने समाज में न पावक लगैहै जो।
'हरिऔध' क्यों कुल-कलंक पैहै नेता-पद
काढ़ि के करेजो जाति को न कलपैहै जो।
आप हूँ पिसाई माँहिं परिकै पिसैगो खल
पिसे जात हिंदुन को औरो पीसि देहै जो॥ २॥

जा कुल के अहैं कैसे वा कुल के काल ह्वैहैं
गाज बनि आकुल-समाज पैं क्यो परिहैं।
कैसे भारतीयता बहाने भार-भूत रहि
जाति-भव-विदित-विभूति काँहिं हरिहैं।
'हरिऔध' नेता कहवाइ क्यो अनीति कैहै
रुधिर-पिपासित-उदर कैसे भरिहैं।

पास कै प्रपंचिन को पाइहैं पिसाई कैसे
हिंदुन को पीसि कै पिसान जो न करिहैं ॥३॥

वचन-वाण

कवित्त—

वे हैं मूढ़ जो न रूप - चंद छबि देखि मोहैं
नरक - अँधेरी काको कहाँ पै लखाति है।
जहाँ बाँकी परम - मधुर - झनकार होति
काको तहाँ कथा पाप - पुन्न की सुनाति है।
'हरिऔध' लोभ की लहर लहराति जहाँ
तहाँ जाति - पाँति, पाँति बाहर जनाति है।
पेटवारे कैसे तब पेट की न मानैं कही
बेंचि बेंचि बेटी जब पेटी परि जाति है ॥१॥

चावन की चारुता में चारुता रहति नाँहिं
भावन ते भावुकता करति किनारो है।
बिबिध-बिलास की बिलासिता बिलीन होति
रस-हीन बनत सकल-रस प्यारो है।
'हरिऔध' बिना धन रूप है बिरूप होत
सुंदर सनेह हूँ ना लहत सहारो है।
कैसे भरो पूरो छैल चाहहिं छबीली नाँहिं
कहूँ नाहिं पूछो जात छूछो हाथवारो है ॥२॥

मुँह-कौर छीनि छीनि भूखे नर-नारिन कौ
कैसे भरे पेटन को बारबार भरते।
कैसे देस-प्रेमिन के नैनन के सूल होते
कैसे जाति - प्रेमिन के चित ते उतरते।

'हरिऔध' कैसे दास बनते बिलासिता के
कैसे धन धनिक - बसुंधरा को हरते।
चित को बिदेसी भाव कैसे तो बिदित होत
जो न हम देसी ह्वै बिदेसी पट धरते ।। ३ ।।

सवैया—

तो कहा सीढ़िन पै चढ़िकै कियो चाव के साथ जो ऊँचे चढ़े ना।
तो कहा दूर भई मन - मूढ़ता मानवता ते गये जो मढ़े ना।
तो कहा कोऊ कियो गढ़िकै 'हरिऔध' गये यदि ठीक गढ़े ना।
तो कहा आगे बढ़े जो बढ़े नहीं तो कहा पूत - पढ़े जो कढ़े ना ।।४।।

सीस पै माँग वनी अवलोकिकै पौरुख पानिप खोइ परायो।
वाल बने अरु मूँछ मुँड़ी लखि बीर को बानो महा बिलखायो।
साहस कैसे विचारो करै नर मैं न रह्यो नर को सरमायो।
जाति सपूतन सूरपनो सब आँखिन मैं सुरमा ह्वै समायो ।।५।।

निराले लाल

दोहा—

वे जनमे हैं आप ही अथवा मिले भभूत।
कैसे मानैं बाप को हैं न बाप के पूत ।। १ ।।

क्यों न भला चाँटे सहैं हैं माई के लाल।
कैसे मुँह - लाली रहै बिना भये मुँह लाल ।। २ ।।

नामी नेता

दोहा—

रही नीति को सुधि नहीं भूली नीयत बात।
कैसे करैं अनीति नहिं नेतापन है जात ।। १ ।।

निकसै मुँह ते बात किमि जाति गई जब चेति।
बात रखन की लालसा बात बनन नहिँ देति ॥ २ ॥

जा नेता की मति हरत नेतापन अनुराग।
सो न परत जो नरक मैं तो है नरक अभाग ॥ ३ ॥

दिल के फफोले

दोहा—

कैसे तिनकी लालसा लहू-भरी नहिँ होय।
जिनकी मुँह-लाली रही कुल ललना को खोय ॥ १ ॥

ते किमि रखिहँहिँ जाति-पति कितनाँहू लैं कोंखि।
आँखिन के तारे छिने जिनकी गई न आँखि ॥ २ ॥

बेगानोपन लहि बने जो बेगाने माल।
कैसे हिंदू-हित करैं वे हिंदू-कुल-बाल ॥ ३ ॥

वे क्यों देखैं जाति-दुख देखि देखि दिन रैन।
द्वै द्वै अँखियन के अछत जिनकी अँखियाँ हैं न ॥ ४ ॥

इतनो हूँ समभत नहीं तऊ बनत है पूत।
जाको कहत अछूत हैं वामैं कैसी छूत ॥ ५ ॥

माननीय महंत

दोहा—

कैसे बनैं महंत नहिँ महि मैं महिमा-वान।
सकल दान चेली करति रखति रखेली मान ॥ १ ॥

मानत बात न काहु की सुख के साज अनंत।
जाय महंती या रहै मन की करत महंत ॥ २ ॥

वार-विलासिनि सों विलसि करि कमला सों हेत।
चाहत सरग महंत नहिँ यहीं सरग सुख लेत ॥ ३ ॥

सच्चे साधु

दोहा—

जो साधुन को भेस धरि करत असाधुन काम।
ताको जो मिलिहैं न तो काको मिलि है राम॥ १॥

जो योगी संयोग लहि तजि है योग प्रसंग।
तो गुरुता दिखराइहै कैसे गेरुओ रंग॥ २॥

वे कैसे नहि भूलिहैं ताड़ बिलोकि अपान।
जिनकी ताड़ी लगति है करि ताड़ी। को पान॥ ३॥

पावन जो करतो नहीं वाको संत-सुजान।
सुरा-मान होतो न तो सुरसरि-सलिल-समान॥ ४॥

कैसे काहू संत को तो सिर जातो घूम।
धूम-पान को नहिँ मचति जो धरती मैं धूम॥ ५॥

जो नव-जीवन-दायिनी गाँजा-चिलम न होति।
कैसे साधु-जमात मैं जगति ज्ञान की जोति॥ ६॥

जो न भोग को भूलतो योगी पी पी भंग।
कैसे होतो भाव-मय भव-भयावनो-रंग॥ ७॥

भंग तरंग

दोहा—

मतवाली कैसे नहीं वाकी कला लखाय।
जा कवि-मुँह-लाली रहति मद को लालो पाय॥ १॥

तो क्यों जय लहिहै नहीं कहि जय जय कवि कोय।
जो कविता पै विजयिनी विजया-देवी होय॥ २॥

छन हूँ छूटत है नहीं कूंड़ी सोंटा संग।
कविता सों गाढ़ी छनति गाढ़ी छाने भंग॥ ३॥

वा कवि मैं ही मिलति है कवि की सहज-उमंग।
जाकी कविता रंग में विलसति भंग - तरंग ॥ ४ ॥

धूरि साँहिं सुधबुध मिलै प्रतिभा होय अपग।
सुधा मयी कविता करत कवि - जन छाने भग ॥ ५ ॥

कवि - पुंगव कलि - काल मैं क्रूर हुँ को करि लेति।
कोन जड़ी - बूटी नहीं बूटी जन को देति ॥ ६ ॥

देवी होति चुरैल है देव - दूत यम - दूत।
भग - भवानी सों मिले नाना - भाव - भमूत ॥ ७ ॥

व्यंग बाण

दोहा—

जन को लूटत रहहिं लै दुगुनो - तिगुनो - व्याज।
अहैं महाजन करत हैं महाजनी के काज ॥ १ ॥

सोना ताँबा को करहि ताँबा सोना काँहि।
साहु कहावहिं पै सदा मूसि मूसि धन खाँहिं ॥ २ ॥

साहु साहु कहि होत है सब दिन साहु - बखान।
कतर - ब्योंत करि चोर हूँ के हैं कतरत कान ॥ ३ ॥

चाहत सरग - बिमान हैं दै दमरी को दान।
बनियन की छूटत नहिं बनियापन की बान ॥ ४ ॥

कौडी खात हराम की लेत राम को नाम।
कौन दूसरो पाइहै स्वर्ग - लोक - अभिराम ॥ ५ ॥

वीर-रस

स्थायी भाव—उत्साह

देवता—महेंद्र

वर्ण—कनक-कांति-निभ-गौर

आलंबन विभाव—रिपु अथवा रिपु का विभव एवं ऐश्वर्य्य आदि।

उद्दीपन विभाव—रिपुचेष्टा, उसकी ललकार, मारू-वाद्य, रण-कोलाहल, कड़खा गान आदि।

अनुभाव—अंग-स्फुरण, नेत्र की अरुणिमा, युद्ध के सहायक उपादान—धनुष आदि की खोज, सैन्य-संग्रह आदि।

संचारी भाव—गर्व, असूया, उग्रता, धैर्य्य, मति, स्मृति, तर्क आदि।

विशेष

किसी किसी ने इंद्र को इस रस का देवता माना है। वीर-रस के प्रायः चार भेद माने गये हैं।

१—धर्मवीर, २—युद्धवीर, ३—दानवीर, ४—दयावीर। मेरा विचार है कि पाँचवाँ कर्मवीर भी माना जाना चाहिए।

धर्मवीर

वेद-शास्त्र के वचनों और सिद्धांतों पर अचल श्रद्धा और विश्वास आलंबन, उनके उपदेशों और शिक्षाओं का श्रवण, मनन आदि उद्दीपन विभाव, तदनुकूल आचरण और व्यवहार अनुभाव एवं धृति, क्षमा आदि धर्म के दश लक्षण संचारी भाव हैं। धर्मवीर में धर्म-धारण और धर्म-संपादन के उत्साह की पुष्टि है।

उदाहरण

कवित्त—

समय - सरसता निहारि सरसत जात
कूल - अनुकूलता बिलोकि उमहत है।
बार बार भरि भरि अमित-उमग माँहिं
तरल - तरंगिनी - तरंग मैं वहत है।
'हरिऔध' लोक-पति-लीला पै लुभानो मन
ललकि ललकि भाव लीनता लहत है।
वोलत रहत है सलिल-कल-कल माँहिं
कला - मयी - केलि मैं कलोलत रहत है॥ १॥

दरति रहति है दुरित के दुरंत - भाव
हरति रहति है मन मलिन - मलीनता।
करति रहति है अपार - उपकारन को
नासति रहति अपकारन की पीनता।
'हरिऔध' मोचति बिलोचन - बिपुल - मल
सोचति सदैव सदाचार - समीचीनता।
जनम सुधारि सारी धरनी उधारति है
धरम - धुरंधर की धरम - धुरीनता॥ २॥

पलित - जटा - कलाप कलित-पताका अहै
साध - भरी - साधना के सुंदर सदन की।
कानन की मुद्रा योग - मुद्रा की सहेलिका है
माला कर कज की क्रिया है मजु-मन की।
'हरिऔध' संत - जन - सहज - उपासना की
वोधिनी है पूत - विभा गैरिक - वसन की।

सुचि अनुभूति की प्रसूति है तिलक-रुचि
भव की विभूति सी बिभूति है बदन की ॥३॥

आपदा-सहित सारी अपकारिता निवारि
कनक - कनकता को कहत निकाम, ना।
वाकी वामता मैं अभिरामता - अमित भरि
तजत सकामता समेत धन - धाम, ना।
'हरिऔध' होत अविवेकी ना विवेक-वारो
रति ते विरति हूँ मैं गहत विराम, ना।
सारत है काम सारी-काम-वारी बातन ते
राखत न काम-मयी, कामिनी की कामना ॥४॥

मानस मैं सरिता सनेह की है लहरति
लोचन मैं लोक - प्रेम - रस निचुरत है।
कोमल - बयन मैं लसत है सुधा को सोत
चावन को चित - चारुता ते चुपरत है।
'हरिऔध' भावुकता - भरित - उदार - नर
भावन मैं भावना सुहावन भरत है।
लहि भूत - हित को प्रभूत - अनुभूत - पोत
बनि भाव - पूत भव - सागर तरत है ॥५॥

गमन करत मंद मंद है सु - पथ माँहि
अपुनीत - पंथ को न पग परसत है।
लोक हित - लोलुपता ललित - अयन - बनि
रस - वितरन को वयन तरसत है।
'हरिऔध' संत - जन वरद - करन माँहि
वसुधा - विमोहिनी - विभूति दरसत है।

उदाहरण

कवित्त—

समय - सरसता निहारि सरसत जात
कूल - अनुकूलता बिलोकि उमहत है।
बार बार भरि भरि अमित-उमग माहिं
तरल - तरंगिनी - तरंग में वहत है।
'हरिऔध' लोक-पति-लीला पै लुभानो मन
ललकि ललकि भाव लीनता लहत है।
वोलत रहत है सलिल-कल-कल मॉहिं
कला - मयी - केलि में कलोलत रहत है॥ १॥

दरति रहति है दुरित के दुरंत - भाव
हरति रहति है मन मलिन - मलीनता।
करति रहति है अपार - उपकारन को
नासति रहति अपकारन की पीनता।
'हरिऔध' मोचति विलोचन - विपुल - मल
सोचति सदैव सदाचार - समीचीनता।
जनम सुधारि सारी धरनी उधारति है
धरम - धुरंधर की धरम - धुरीनता॥ २॥

पलित - जटा - कलाप कलित-पताका अहै
साध - भरी - साधना के सुदर सदन की।
कानन की मुद्रा योग - मुद्रा को सहेलिका है
माला कर कंज की क्रिया है मजु-मन की।
'हरिऔध' संत - जन - सहज - उपासना की
वोधिनी है पूत - विभा गैरिक - वसन की।

सुचि अनुभूति की प्रसूति है तिलक-रुचि
भव की विभूति सी विभूति है बदन की ॥३॥

आपदा-सहित सारी अपकारिता निवारि
कनक-कनकता को कहत निकाम, ना।
वाकी वामता मैं अभिरामता-अमित भरि
तजत सकामता समेत धन-धाम, ना।
'हरिऔध' होत अविवेकी ना विवेक-वारो
रति ते विरति हूँ मैं गहत बिराम, ना।
सारत है काम सारी-काम-वारी बातन ते
राखत न काम-मयी, कामिनी की कामना ॥४॥

मानस मैं सरिता सनेह की है लहरति
लोचन मै लोक-प्रेम-रस निचुरत है।
कोमल-वयन मैं लसत है सुधा को सोत
चावन को चित-चारुता ते चुपरत है।
'हरिऔध' भावुकता-भरित-उदार-नर
भावन मैं भावना सुहावन भरत है।
लहि भूत-हित को प्रभूत-अनुभूत-पोत
बनि भाव-पूत भव-सागर तरत है ॥५॥

गमन करत मंद मंद है सु-पथ माँहिं
अपुनीत-पंथ को न पग परसत है।
लोक हित-लोलुपता ललित-अयन-बनि
रस-वितरन को वयन तरसत है।
'हरिऔध' संत-जन वरद-करन माँहि
वसुधा-विमोहिनी-विभूति दरसत है।

उदाहरण

कवित्त—

समय - सरसता निहारि सरसत जात
कूल - अनुकूलता बिलोकि उमहत है।
बार बार भरि भरि अमित-उमग माहिं
तरल - तरंगिनी - तरंग मैं बहत है।
'हरिऔध' लोक-पति-लीला पै लुभानो मन
ललकि ललकि भाव-लीनता लहत है।
बोलत रहत है सलिल-कल-कल माँहिं
कला - मयी - केलि मैं कलोलत रहत है ॥ १ ॥

दरति रहति है दुरित के दुरंत - भाव
हरति रहति है मन मलिन - मलीनता।
करति रहति है अपार - उपकारन को
नासति रहति अपकारन की पीनता।
'हरिऔध' मोचति बिलोचन - विपुल - मल
सोचति सदैव सदाचार - समीचीनता।
जनम सुधारि सारी धरनी उधारति है
धरम - धुरंधर की धरम - धुरीनता ॥ २ ॥

पलित - जटा - कलाप कलित-पताका अहै
साध - भरी - साधना के सुदर सदन की।
कानन की मुद्रा योग - मुद्रा की सहेलिका है
माला कर कज की क्रिया है मंजु-मन की।
'हरिऔध' संत - जन - सहज - उपासना की
बोधिनी है पूत - विभा गैरिक - वसन की।

सुचि अनुभूति की प्रसूति है तिलक-रुचि
भव की विभूति सी विभूति है वदन की ॥३॥

आपदा-सहित सारी अपकारिता निवारि
कनक - कनकता को कहत निकाम, ना।
वाकी वामता मैं अभिरामता - अमित भरि
तजत सकामता समेत धन - धाम, ना।
'हरिऔध' होत अविवेकी ना विवेक-वारो
रति ते विरति हूँ मैं गहत विराम, ना।
सारत है काम सारी-काम-वारी बातन ते
राखत न काम-मयी, कामिनी की कामना ॥४॥

मानस मैं सरिता सनेह की है लहरति
लोचन मैं लोक - प्रेम - रस निचुरत है।
कोमल - बयन मैं लसत है सुधा को सोत
चावन को चित - चारुता ते चुपरत है।
'हरिऔध' भावुकता - भरित - उदार - नर
भावन मैं भावना सुहावन भरत है।
लहि भूत - हित को प्रभूत - अनुभूत - पोत
वनि भाव - पूत भव - सागर तरत है ॥५॥

गमन करत मंद मंद है सु - पथ माँहि
अपुनीत - पंथ को न पग परसत है।
लोक हित - लोलुपता ललित - अयन - वनि
रस - वितरन को वयन तरसत है।
'हरिऔध' संत - जन वरद - करन माँहि
वसुधा - विमोहिनी - विभूति दरसत है।

प्रेम - बर - वारि बार बार बरसत नैन
उर मैं सुधा को मंजु - सोत सरसत है ॥६॥

लोक होत ललित तिलोक - पति - लाभ होत
ललक अलौकिक - बिलोचन लहत है।
रुचि होत रुचिर बिचार अति चारु होत
मानस महान - मोद लहि उमहत है।
'हरिऔध' भीने भव - रंग मैं बिभूति होति
भूत - हित - तरु प्रीति - भू मैं पलुहत है।
चित चाव भरे होति भावना प्रभाव - मयी
भाव - भरे, उर मैं 'अभाव' ना रहत है ॥७॥

जाकी कृति रतन - मयी है रतनाकर सी
जाकी कल - कीरति कलाकर सी सेत है।
लोक-पति की सी जाकी लोक-हित-चिंतना है
जाको चित, चेतना लौं रहत सचेत है।
'हरिऔध' सोई है धरा मैं धर्म - धुर-धारी
जाकी धनु - धारिता न रुधिर - उपेत है।
दान-धारा जाकी धाराधर लौं बरसि जाति
जो जन धरा - धर लौं धीरता - निकेत है ॥८॥

चित के मलिन भाव अमलिन होत जात
विमल - विलोचन के प्रेम - वारि चूये ते।
उचित।बिचारन के कंधे ना छिलन देत
उपचित बहु अविचारन के जूये ते।
'हरिऔध' धरम - धुरंधर मुदित होत
मोह - मद विनसे प्रमादिन के मूये ते।

छाये रहे उर मैं अवनि के अछूते भाव
वनत अपूत ना अछूत - जन छूये ते ॥ ९ ॥

छीन को विलोकि छीन, धन छीन लेत नाँहिं
वनि कै सचेत न हरत चित - चेत है।
औरन को दुख देखि परम दुखित होत
हरो भरो करत रहत हित - खेत है।
'हरिऔध' जीवन दै जीवन - विहीनन को
पूजनीय - जन जगती मैं जस लेत है।
रिस कै मसकि मीसि देत ना मसक हूँ को
दाँत पीसि पीसि काहू को न पीसि देत है ॥१०॥

हरत रहत है अहेतुक विकारन को
काहू पै कवौं न कोह करत कहर है।
मद - मान - मत्तता निवारत है वाको मद
प्रेम - पूत काम के फरेरे की फहर है।
'हरिऔध' मोह ते न मोहत महान जन
वाको मोह - रवि पाप - ताप - तम-हर है।
लोक - हित - लाभन पै ललकि लुभानो रहै
होति लहू - लोहित न लोभ की लहर है ॥११॥

आँखि फारि देखे आँखि काहू को न फोरि देत
आह भरे भुस खाल माँहिं ना भरत है।
जीह के हिलाये जीह काहू की न खैंचि लेत
मुँह खोले कंठ पै कुठार ना धरत है।
'हरिऔध' धीर-वीर वनत अधीर नाँहिं
धाक हित जेवरी न धूरि मैं वरत है।

एक टूक रोटी - हित बतिया दो टूक कहे
काहू को करेजो टूक टूक ना करत है ॥१२॥

कमनीय-रुचि को कलंकित करत नाँहिं
कोमलता कोमल हृदै की ना हरत है।
बनि बनि कीट ना बसत सुमनन माँहिं
पावक न भोरे-भोरे-भाव मैं भरत है।
'हरिऔध' लोभ-हीन ललित ललक-वारो
काहू के न अनुकूल - काल ते लरत है।
लाल लाल आँखें करि लाल ह्वै न काल होत
लहू नाँहिं लोक-लालसान को करत है ॥१३॥

वेद की बिभूति ते बिभूति-मान बनि बनि -
लोक - बंदनीय - बर - बिरद बरत है।
गौरव गहत गाइ गाइ गौरवित - गुन
ज्ञान - रवि पाइ उर - तिमिर हरत है।
'हरिऔध' धर्म-वारो सारो मन - मानो छोरि
मुनिन - मतन काहिं मनन करत है।
भारत के -भूत-हित भरे भाव - पंकज पै
मत्त मन भौंर भूरि - भावरैं भरत है ॥१४॥

महिमा महतन की मति को करति मंजु
संतन की संतता असंतता हरति है।
पावनता परसे अपावनता दूर होति
देव - रुचि दुरित - दुरतता दरति है।
'हरिऔध' मानवता भावुकता भूति बनि
भावन मैं लोक - हितकारिता भरति है।

धर्म - धुर - धारी के सुधारे लोक सुधरत
धर्म के उधारे सारी धरा उधरति है ॥ १५ ॥

क्रूर होत कंपित मथित मगरूर होत
पामरता दूर होति परम - नकारे की।
धरकति छाती है अधम - अधिकारिन की
दहलति दानवता दानवी - दुलारे की।
'हरिऔध' धरती अनीति-भरी धसकति
सुनि कै धुकार धर्म - ध्वनित नगारे की।
हाँक सुने बड़े बड़े हाँक-वारे हहरत
मानत न कौन धाक धर्म-धाकवारे की ॥ १६ ॥

सुरसरि - सलिल बनावत सुरा को नाँहिं
सुर बनि बनि ना असुरता पसारे देत।
विधि बाँधि बाँधि नाँहिं बाँधत अविधि बाँध
वंदित ह्वै वंदनीय-बानो ना बिगारे देत।
'हरिऔध' पूत-नीति-पथ को पथिक प्यारो
बातन ते तारे ना गगन के उतारे देत।
बारिद ह्वै बहुधा बरसि ना अँगारे जात
सुधा-मिस बसुधा पै बिस ना बगारे देत ॥ १७ ॥

दोहा—

अमल-आरसी-सम अहै विपुल - विमल - मन तौन।
पूत - भाव - प्रतिबिंब ते प्रतिबिंबित है जौन ॥ १८ ॥

द्रवत पसीजत जो रहत लहि परितापन काँहिं।
वाको उर नवनीत है या अवनीतल माँहिं ॥ १९ ॥

है वाके मुख-चद को चित अनुराग चकोर।
पर-हित-रुचि चोरत नहीं जाके चित को चोर ॥ २० ॥

लोचन-वारे को न क्यों सब थल लसत लखाहिं।
जगत-बिलोचन बसत हैं जब जन लोचन माँहिं ॥ २१ ॥

ललित-लुनाई जगत की दिन दिन होत रसाल।
लोने लोने नयन मैं बसे सलोने-लाल ॥ २२ ॥

क्यो सुधरति जो नहि लहति धरम-धुरंधर-सूरि।
तो कैसे उधरति धरा जो न धरति पग-धूरि ॥ २३ ॥

अति-पावन-पग-संत को जो नहिं परसत अंग।
पावनता कैसे लहति पतित-पावनी-गंग ॥ २४ ॥

बहु सजीवता दान करि जीव-विहीनन काँहिं।
सुधा बहावत संत-जन बहुधा वसुधा माँहिं ॥ २५ ॥

कर्मवीर

कर्तव्य-परायणता और कार्य-सिद्धि के सिद्धातो पर दृढ़ विश्वास आलबन, कार्यकारिणी शक्ति के सफल प्रयोगों का अनुधावन और चिंतन उद्दीपन विभाव, कार्य-सिद्धि के साधनों और प्रयोगों का समुचित व्यवहार अनुभाव एवं धृति, मति, गर्व, उग्रता आदि सचारी भाव हैं। कर्मवीर के कार्य-साधन में पूर्ण उत्साह की पुष्टि है।

उदाहरण

कवित्त—

बिपुल अलौकिक-कलान ते कलित बनि
रेलतार काज क्यों अकल्पनीय करते।
दामिनी क्यों कामिनी लौं सारति सदन-काम
कैसे दिवि-विभव दिवा-पति वितरते।

'हरिऔध' जो न कर्म्म बीरता धरा मैं होति
बारिधि को बाँधि कैसे बानर उतरते।
फिरते विमान-अनगन क्यों गगन माँहिँ
कैसे नग-निकर नगन ते निकरते ॥१॥

कैसे पृथु प्रथित वनत पृथिवी को दूहि
कैसे सातो सागर सगर-सुत सँवारे लेत।
कैसे पार करत पवन-पूत पारावार
गिरी कर-धारी कैसे गिरिवर धारे लेत।
'हरिऔध' जो न कर्म-बीर की बिरद होति
बार बार वीर कैसे बसुधा उबारे लेत।
दृगन के तारे क्यो सहारे होते साधन के
नभ-तल-तारे कैसे मानव उतारे लेत ॥२॥

कैसे मघवा के घन प्रवल विलीन होते
व्रज की वसुंधरा विभूति कैसे लहती।
करति सजीव क्यो सजीवन सी मूरि मिलि
दूर होति कैसे कौसलेस-विथा महती।
'हरिऔध' जो न करतूती-करतूत होति
साहसी सपूत की सपूती कैसे रहती।
कैसे धूरि-धारा को उधारि या धरातल पै
सुर-सरि-धारा सी पुनीत-धारा वहती ॥३॥

जल-निधि कैसे दान करत अपार - निधि
गाढ़ी कैसे गगन-विभूतिन ते छनती।
नाना कल केते लोक-यान क्यों जनम लेते
बीजुरी क्यो बिपुल-निराली-जोति जनती।

'हरिऔध' जो न करतूत होति मानव मैं
बायु बहु-बिभुता-बितान कैसे तनती।
कैसे रमा राजति बिराजित बिभूति माँहिं
रजमयी महि क्यों रजत-वती बनती ॥४॥

कैसे बास बनत असन को बिधान होत
बिबिध-सुपास के बसन कैसे सिलते।
दीपक क्यों दिपत दिखात तम-पुंज माँहिं
निकसति कैसे सुधा सागर-सलिल ते।
'हरिऔध' जो न काम धुन होति कामुक मैं
राख माँहिं कनक-कनूके कैसे मिलते।
कैसे मरु-भूमि फल-मूल-अनुकूल होति
धूल मैं क्यों परम अनूठे फूल खिलते ॥५॥

साधक की साध सारी साधना निकेतन है
सिद्धि बिना 'इति' है न साहसी के 'अथ' मैं।
संगिनी सफलता सफल करतूत की है
बिजय बिराजति है कर्म-समरथ मैं।
'हरिऔध' सारी बाधा बाधति अबाध गति
भू मैं बिचरत बीर बैठि 'भूति-रथ' मैं।
पार करि लेत है अपार-पारावार हूँ को
मानत न हार है पहार परे पथ मैं ॥६॥

काम-धुन-वारो कौन काम है न साधि लेत
वाको सारो काम किये साधना सरत है।
धरा मैं धँसत पैठि जात है पतार हूँ मैं
बिहरत नभ मैं दिसा मैं पसरत है।

'हरिऔध' संभव बनावत असंभव को
लोक को अलौकिक-बिभूति बितरत है।
बूझ-बल नागर करत है अनागर को
सूझ-बल गागर मैं सागर भरत है॥ ७॥

तोरि दैहै पवि को मरोरि दैहै मेरु-दंड
मरुत महान मरु-महि की निवरिहै।
दूरि कै प्रखर पवनातप प्रकोप-ताप
अवरोधि पावक पयोधि पार परिहै।
'हरिऔध' बाधा परे साध-भरे साधन मै
कर्मबीर बाधक-अबाध-गति हरिहै।
दरिहै दिगंत-दंति-कुल को दुरंत-दाप
प्रबल-प्रहार कै पहार चूर करिहै॥ ८॥

भूरि-भाग-भाजन न भाजत सभीत बनि
बहि बहि भारन भरत भव-धाम है।
कसि कै कमर कौन समर करत नाँहिं
अजर अमर ह्वै रखत कुल-नाम है।
'हरिऔध' कर्म-बीर पीछे ना धरत पग
बीछे बीछे पथ पै अरत बसु-जाम है।
जमदूत-जोरा-जोरी किये हूँ जुरत जात
काल हूँ की छोरा-छोरी छोरत न काम है॥ ९॥

कैसे मुख-लालिमा रहति लोक-कामना की
काम की लगन कृति-कालिमा न खोती जो।
कैसे भव-सुख-लाभ-तरु पल्लवित होत
बीज-हित-कारिता के बीरता न बोती जो।

'हरिऔध' कैसे धरा धारति उधार-व्रत
धीर-मति धाम धाम का मल न धोती जों।
कैसे अवनी मैं बड़े कमनीय काम होते
काम-धुन-वारे मैं न काम-धुन होती जो ॥१०॥

दोहा—

तजत काज अपनो नहीं लहत बिजय को हार।
हार न मानत साहसी सिर पर गिरे पहार ॥११॥

परि कंटक-बाधान मैं होत चौगुनो चेत।
काज-कंज-सुमिलिंद बनि वीर-बृंद रस लेत ॥१२॥

जन निज बल ते बनि बली होत भूति को भौन।
किये भरोसो भाग को भागवान भो कौन ॥१३॥

पावन चरित सजीव-जन है जग जीवन-मूरि।
ताप निवारत कर-परस पाप हरत पग-धूरि ॥१४॥

करतूती-कर-तल परसि मुकुत कहावत पोत।
रजत बनति रज-राजि है कनक लौह-कन होत ॥१५॥

गुन-आगर-जन मनि लहत पहुँचत उरग समीप।
मोती ते गागर भरत लहि सागर की सीप ॥१६॥

दूर होत घर-घर तिमिर जगति जगत में जोति।
तेज-वत-तरवा परसि नवनी अवनी होति ॥१७॥

सवाल-बाहु-बैभव मिले सकल होत अनुकूल।
कटक-जाल कलित-कुसुम बनत रसाल बबूल ॥१८॥

दै अवित्त को वित्त बहु हरत कुपित को पित्त।
सचल बनावत अचल को परम-अविचलित चित्त ॥१९॥

मानस-बल बलवान-तन संकट पावत छू न।
नावक बनत मयंक-कर पावक बनत प्रसून ॥२०॥

युद्धवीर

शत्रु का प्रताप, पौरुष और ऐश्वर्य आदि आलंबन, मारू वाद्य और सैन्य कोलाहल आदि उद्दीपन, अंग-स्फुरण और नेत्र-लालिमा आदि अनुभाव, गर्व, उग्रता और धृति आदि संचारी भाव हैं।

युद्धवीर में बल, पौरुष प्रतापादिजनित उत्साह की पुष्टि है।

कवित्त—

धूरि मैं समैहैं गोले, ओले के समान गिरि
टूक टूक ह्वैहै तोप वार वार दनकी।
घोर घमासान बीरता की धूमधाम ह्वैहै
धीरता रही जो बनी धीरन के मन की।
'हरिऔध' विरद निबाहत विरदवारो
बात अविदित है न बात-भरे तन की।
वर-वीर छिति माँहिं छोरत अछूतो जस
सुधि हूँ न लेत छिदी छाती के छतन की॥ १॥

पीछे ना परैगो कबौं परम-उमंग भरो
रण-रंग-रँगो दंग करिकै पधारैगो।
वार वार धूआँधार कठिन समर करि
कीरति अपार या धरा पर पसारैगो।
'हरिऔध' वैरिन को उदर विदारि दैहै
लात मारि मारि आँत अरि की निकारैगो।
जाकी करतूत मैं लगी ना छूत एकौ वार
राजपूत-पूत भूत सिर को उतारैगो॥ २॥

उठो उठो वीरो चीरो अरिन-करेजन कौ
पीरो मुख परे बनी बात हूँ विगरिहै।

छटकि छटकि छाती छगुनी करैयन को
कौन आज उछरि उछरि कै कचरिहै।
'हरिऔध' कहै बीर-बृद ना अबेर करौ
हॉक ते तिहारी धीर हूँ ना धीर धरिहै।
पारावार - धार मैं उड़ैगी छार ऑच लगे
ठोकर की मार ते पहार गिरि परिहै ॥ ३ ॥

बहॅके बहॅकि सारी बहॅक निवारि दैहौं
बाल बाल बीनिहौं बलकि बने बलवान।
तमके तमकि तम हरिहौं तमारि सम
दात पीसिहैं तो दॉत तोरिहौं मरदि मान।
'हरिऔध' बैरिन की बीरता बिफल कैहौं
बादिन पै बदिकै बगारिहौं बिखीले बान।
मुँह जो बनैहैं तो पकरि मुँह तोरि दैहौं
ऑखिजो दिखैहैं तो निकारि लैहौं ऑखियान ॥ ४ ॥

बिदित पुरारि - बज्र बज्रता बिलोप कैहै
बिकराल - काल की करालता को खलिहै।
चक्री के प्रबल - चक्र कॉहिं चूर चूर कै है
कालिका - कृपान की कृपानता को छलिहै।
'हरिऔध' कोऊ रन - बॉकुरो उमग भरि
बक करि भौंहैं सत्रु सौंहैं जब चलिहै।
खंड खड करिहै पिनाकी के पिनाक कॉहिं
ठोकि भुज - दड यम - दंड हूँ को दलिहै ॥ ५ ॥

बीर - कुल-चाल ह्वै न सहिहौं त्रिकाल मॉहिं
लोक-प्रतिकूल की अकल्पित-कुचाली को।

खलन की खाल खींचि लैहौं खलता के किये
बाल बाल बीनिहौं विरोधी-बल-शाली को।
'हरिऔध' कर मैं कराल - करवाल गहि
अरि-कुल काल ह्वै रिझैहौं मैं कपाली को।
मानव अमंडनीय - मुंडन को काटि काटि
मुंडन की मालिका पिन्हैहौं मुंडमाली को ॥ ६ ॥

पातक को पल पल प्रबल - प्रसार देखि
जा दिन अपार - बिकरार रूप धरिहौं।
करिकै प्रकंपित पताल के प्रवासिन को
गरल सहस्र - फन फूँक लौं बितरिहौं।
'हरिऔध' दिपत-दिगंत मैं दवारि भरि
प्रलय - प्रभाकर लौं व्योम मैं बिचरिहौं।
ज्वाल पर ज्वालामुखी लौं वमन करि
सारी मेदिनी को ज्वाल-माला-मयी करिहौं ॥ ७ ॥

बाल बाल बिने पै मनोवल न जाको जात
सोई बलवान गयो सबल बखानो है।
सोई साहसी है जो समर मैं सपूती करै
रोम रोम माँहिं जाके साहस समानो है।
'हरिऔध' बाहु - बल विजय - बधावरो है
सूरन की सूरता अमरता बहानो है।
ह्वै बो ना अधीर धीर - धीरता को वैभव है
ह्वै बो ना अ-वीर वीर वीरता को बानो है ॥ ८ ॥

परम अकुंठित विरोधिनी स - कंठता की
कुलिस सी कठिन कठोरता मैं ढाली है।

अंग-भंग-निपुन तरंगित तरंगिनी सी
भरित - उमग रन - रंग - मतवाली है।
'हरिऔध' वैरि-उर-विवर-बिहारिनी है
काल को कराल रसना सी कपवाली है।
लहू-लाली-भरी के कपाल-माली-आली अहै
बीर-करवाल काल - व्याली किधौं काली है ॥ ६ ॥

पग जो न दैहैं साथ पंगु तो बनैहौं तिनैं
कर जो न कैहैं कही लुंचता सकारिहौं।
बार बार ताको छत विछत बनैहौं छेदि
जाति-दुख-छत जो न छाती मैं निहारिहौं।
'हरिऔध' जाति-हित जीहौं जाति-हित कैहौं
प्रतिकूल भये रोम रोम मैं उखारिहौं।
विमुख बनैगो तो न मुख रहि जैहै मुख
रस जो न राखिहै तो रसना निकारिहौं ॥१०॥

कचन विहाइ काँच पै जो मोहि जैहै मन
तो मैं ताको मानवी विमोह सब हरिहौं।
वासना सतैहै तो बसैहै नाँहि वासना की
विचलित चाव ते बचाव कै उबरिहौं।
'हरिऔध' जाति पीसि पेट पालिहौं ना कबौं
आँखि जो फिरी तो आँखि-माँहि धूर भरिहौं।
चूक पर चूक जो निबोरी हित होति जाति
रसना निगोरी को तो टूक टूक करिहौं ॥११॥

एक बूँद रुधिर रहैगो जौ लौं गात माँहिं
देस-अनुराग-ताग तब लौं न तोरिहौं।

अपनी विभूति को बचैहौं बाल बाल बिने
खाल के खिचे हूँ रक्त अरि को निचोरिहौं।
'हरिऔध' पैहौं दिव्य हार हारहूँ के भये
वजर परे हूँ सिद्धि छूटी गाँठ जोरिहौं।
छाती के छिले हूँ मोरिहौं ना छमता ते मुख
रोम रोम छिदे जाति-ममता न छोरिहौं ॥१२॥

फुंकरत देखि फनि-पति को न भीत होत
देव सेनापति की दुरंतता दरत है।
दबत न देखि भूरि भैरवता भैरव की
संयमिनी - नाथ दंड - पानिता हरत है।
'हरिऔध' मानत धरा-पति को धाक नाँहिं
सौंहैं परे नाक-पति हूँ को निदरत है।
करवाल गहे ना डरत लोक - पाल हूँ ते
वीर - वर विकराल काल ते लरत है ॥१३॥

करिकै समर धूआँधार धीर वीर नर
वार वार अरि को पछारि, है उछरतो।
काटत फिरत गज-बाजि की कतार काँहिं
पीर भीर - भार मैं सँभारि, है उभरतो।
'हरिऔध' तार बाँधि बाँधि तीखे तीरन को
भीरु-भावना मैं, है भभर-भूरि-भरतो।
हनित कटार पार होत है करेजन के
वार पर वार तरवार की है करतो ॥१४॥

बड़े - बड़े वीरन को पकरि पछारि देत
भारी - भारी - भीरन हनत पल - भर मैं।

रोम रोम छिदे छनौ छोरत उछाह नाँहिं
छत लगे हाथी को उछारत अधर मैं।
'हरिऔध' करि कै धरा को शर-धारा-मयी
मुड - माला देत मुड-मालिका के कर मैं।
कसि कै कमर बनि अमर अमर - सम
सूरमा करत सूरमापन समर मैं ॥१५॥

रन की बिभीषिका ते भीत कबहूँ ना होत
रन - रंग - रँगो - बीर बीरता बरत है।
काल - दड गहि दड देत है उदड काँहि
बरि - बड - दल को बिहंडि बिहरत है।
'हरिऔध' मारतंड - मंडल - समान बढ़ि
तामसिक - मंडली को तामस हरत है।
खड - खड - परम - प्रचंड भुज - दंड करि
रुंड - मुड - मुड मैं वितुड लौं लरत है ॥१६॥

दोहा——

पवि - समान तोरत रहत करिवर - कुभ - अपार।
काहु गदा - धर - करन को गुरु - तर गदा - प्रहार ॥१७॥

लोक - लाल - प्रतिपाल - रत कुल - कलक - नर - काल।
कामद - कल्पलता सरिस है नृपाल - करवाल ॥१८॥

जिअत न जो नर - केहरी नर - केहरि - व्रत धारि।
कदाचार - करि - कुंभ को कैसे सकत विदारि ॥१९॥

गरजि गरजि जो वीर - वर करत न बारिद काज।
पर - अकाज - रत कु - जन पै कौन गिरावत गाज ॥२०॥

भू-मंडल मैं जो नहीं होत वीर-भुज-दड।
दंडित करत उदंड को तो काको कोदड ॥२१॥

जो काली - रसना - सरिस होति न बीर - कृपान ।
रुधिर - पान - रत - नरन को रुधिर करत को पान ॥२२॥

बीर - भाव मैं भूति को होतो जो न उभार ।
तो, को करतो भूत - हित को हरतो भू - भार ॥२३॥

परति भार मैं काहि लखि भार - भूत - जन - भीर ।
उबरति कैसे बसुमती जो न उबारत बीर ॥२४॥

किमि दुरंत - नर - दव - दही - मही लहति रस - सोत ।
जो न बान - धारा - बलित बीर - बारि - धर होत ॥२५॥

लाला प्रानन को परत लहत न कोऊ त्रान ।
जब दामिनि लौं समर मैं दमकति बीर - कृपान ॥२६॥

दयावीर

दीन, आर्त्त और दुःख-दग्ध जन आलंबन, आर्त्त स्वर, करुण-क्रन्दन, दुःख-पूर्ण वर्णन और हृदयद्रावी विनय आदि उद्दीपन, मृदु भाषण, उदार आश्वासन, दुःख दूरीकरण चेष्टा आदि अनुभाव, एवं चंचलता, उत्कंठा और धृति आदि संचारी भाव हैं। दयावीर में चित्ताद्रंता संभूत उत्साह की परिपुष्टि है।

कवित्त—

ताको सुर-तरु के समान है फलद होत
मूठी नाज काज जो तिगूनो तरसत है।
परम प्रवंचित अकिंचन - कु - धातु काँहि
फली - भूत पारस - समान परसत है।
'हरिऔध' दीनन को दीनता तिमिर हरि
ससि के समान ह्वै सरस सरसत है।
बार बार जन - बिटपालि पै बरद - बर
बारिद - समान बारि - धार बरसत है ॥ १ ॥

बिभा देत भानु सुधा स्रवत सुधा-कर है
बरसत बारि-धर वर बारि-धार है।
सरस बनावत रसा को है बिपुल-रस
मंद मंद बहति मनोरम-बयार है।
'हरिऔध' बगर बगर मैं बगरि भूरि
करति बिनोदित बसंत की बहार है।
छहरि छहरि जात तारन-कतार हूँ मैं
कृपा-पारावार की कृपालुता-अपार है॥ ८॥

दोहा—

तृन-तरु-हित बसतो न जो प्रभु-दयालुता माँहिँ।
पाहन तो न पसीजतो तजि पाहनता काँहिँ॥ ९॥

जो न दया-निधिता लहे सरसत दया-निधान।
कैसे जीवन को करत जीवन जीवन-दान॥ १०॥

सुख-मय नहिँ होतो दिवस रस-मय होति न राति।
जो न दया-मय की दया दया-मयी दिखराति॥ ११॥

जो न दया-निधि की दया घेरति बन घन-घोर।
कौन दूबरी दूब पै बरसत बारि-अथोर॥ १२॥

ब्रज-ललना लोनी-लता कैसे होति ललाम।
दया-बारि ते सींचतो जो न बारि-धर-स्याम॥ १३॥

दानवीर

याचकगण और दानपात्र आलंबन, कर्तव्यज्ञान, कलित-कीर्ति-धवलिमा, दानपात्र की पात्रता आदि उद्दीपन, अकृपणता और सर्वस्वदान एवं औदार्य आदि अनुभाव और हर्ष आदि संचारी भाव हैं।

दानवीर में दान करने के उत्साह की पुष्टता है।

कवित्त—

कंचन - समान है अकिंचन - जनन काज
पर - हितकारिता सरस मंजु रस है।
कौमुदी है सब सुख-साधना कुमोदिनी की
कामुक निमित्त काम - धेनु को दरस है।
'हरिऔध' दीनता-धरा की है परम - निधि
कु-दिन - कु-धातु काँहिं पारस - परस है।
जीवन - विधायिनी है अवनि - उदारता की
तेरी दान - धरा सुधा - धारा ते सरस है॥ १॥

पलुहति कैसे उपकार की कलित - वेलि
सुफल उदारता - लता हुँ कैसे लहती।
भूरि - दुख-धूरि की दुखदता क्यों दूर होति
जीव - दया - सरिता सरस कैसे रहती।
'हरिऔध' कैसे अकिंचनता- तृनावलि मैं
लसति हरीतिमा - विभूति - वती - महती।
दीन - तरु होत क्यों हरित हित - वारि लहे
दीनता धरा पै जो- न दान-धारा वहती॥ २॥

दीन-दुख दुसह-दवारि बर-बारिद, है
दारिद-अपार-पारावार पूत-बेरो है।
भवन है बिपुल-उदार-उर-भावन को
चारु-भूत-चावन को रुचि-कर-खेरो है।
'हरिऔध' पर-हितकारिता-बिकास-भूमि
लोक-उपकारिता को लसित-बसेरो – है।
चेरो अहै दया-मान-बिगलित-मानस को
तेरो दान दया - मंजु - आनन - उँजेरो है ॥ ३ ॥

अबिभव माँहिं है बिराजत बिभव बनि
भाव ह्वै कै बिपुल अभाव मैं बसत है।
रस है अरस मैं बिभा है बिभा-हीनन मैं
सुख ह्वै कै असुखीन माँहिं निवसत है।
'हरिऔध' भोजन ह्वै भूखे की हरत भूख
नीर ह्वै पिपासित-गरे मैं प्रविसत है।
दीनता निवारि, कै अदीन सब दीनन को
दिन दिन दानिन को दान बिलसत है ॥ ४ ॥

सींचन को बंस-बिरदावलि-दलित-बेलि
गात को रुधिर बारि-धारा लौं बहैहौं मैं।
तन बेंचि बेंचि रोम रोम ते निवाहि पन
वंचित-समाज-वंदनीयता बचैहौं मैं।
'हरिऔध' धन-बारि बधन-निवारि पैहौं
सिर दै दै साँची-देस-बंधुता दिखैहौं मैं।
जीवन-बिहीन को सजीवन बनैहौं जूझि
जाति-हित जीवन हूँ दान करि दैहौं मैं ॥ ५ ॥

तेरो पद ऊँचो पद ऊँची पदवीन को है
दारिद-दुरित को दरन तेरो दर है।
तेरो प्यार दाता है अपार-अधिकारन को
विपुल-विभूति को विधाता तेरो वर है।
'हरिऔध' तौ मन मृदुलता-निकेतन है
तेरो उर अतुल उदारता को घर है।
फलद दयालुता तिहारी कल्प-बेलि-सी है
कामधेनु - कामद तिहारो कांत-कर है ॥६॥

तो सों कौन दूसरो द्रवत पर-दुख देखि
तोसों कौन दानी को दयालुता-निकेत है।
याचकन कॉहि कौन करत अयाचक है
कंचन बरसि जात कौन चित-चेत है।
'हरिऔध' रंकन को करत कुबेर कौन
सकल अकिंचन की कौन सुधि लेत है।
काने सनमाने दीन-जन जानि दीनन को
जाने अनजाने को खजाने खोलि देत है ॥७॥

धन, जन, असन, वसन, वासनन देइ
दानवीर दीनन की दीनता दरत है।
हीर-हार मंजु-मनि-मोतिन की माल देत
भूर-भव-बिभव भवन मैं भरत है।
'हरिऔध' राजी है करत वर-बाजी देइ
साजी धेनु-राजि दै अधेनुता हरत है।
लावत 'अबार' न वराकन-उवारन मैं
बार बार वारन-कतार वितरत है ॥८॥

दिन दिन रतन-बखेरन की बानी हेरि
रतन - समूह - आकरन मैं अरो अहै।
धरनि मैं धन, भूधरन मैं छिपे हैं नग,
मुकुत अगाध-अबुनिधि मैं परो अहै।
'हरिऔध' तेरी दान - बीरता बखान सुने
भभरि कुबेर भूरि - भीति ते भरो अहै।
कनक - अपार बार बार बितरत देखि
सोने को पहार एक कोने मैं खरो अहै ॥९॥

घनता तिहारी ही रसालता की अवलोकि
घन - माला घूमि घूमि नभ मैं घिरति है।
रवि की किरिन विकसित ह्वै वसुधरा पै
तेरी गुरुता ते गौरवित ह्वै गिरति है।
'हरिऔध' तेरी ही दमक को दमामो दै दै
दमकत दामिनी दिगत मैं फिरति है।
लहि कै तरनि लौं तिलोकतम - हारी तेज
तारावलि तेरी दानधारा मैं तिरति है॥१०॥

दोहा—

जगतीतल मैं कौन है दानी जलद-समान।
जो जीवन हित करत है अपनो जीवन दान ॥११॥

बायु सहत, छीजत, दहत, गरत गॅवावत मान।
तव हूॅ जलधर जगत को करत रहत जल - दान ॥१२॥

दानी सॉसत हूॅ सहे दान देइ जस लेत।
सहि पाहन वनि वनि विफल सफल विटप फल देत ॥१३॥

जो न सुधा - निधि लेत सुधि बनि बनि दया - निधान ।
सरस - सुधा तो करत को वसुधा तल को दान ॥१४॥
वा सम कौन दयालु है अवनी - तल मैं आन ।
पर - दुख देखि द्रवत रहत तो नवनीत - समान ॥१५॥
वा सम दानी कौन जो गात उघार निहारि ।
बस न चलत हूँ देत है अपने बसन उतारि ॥१६॥
साँचो दानी सरस - उर अहै घन - सरिस कौन ।
ऊसर मैं सर ते अधिक रस बरसत है जौन ॥१७॥
मान गुमान कबौं नहीं होत दान अनुकूल ।
बिन फूले फल देत है गूलर - तरु को फूल ॥१८॥

रौद्र

स्थायी भाव—क्रोध

देवता—रुद्र

वर्ण—अरुण अथवा रक्त

आलंबन—शत्रु अथवा वह पुरुष जो जाति और देश का द्रोही हो—कदाचारी और कपटाचारी व्यक्ति आदि—

अनुभाव—भ्रूभंग, अधरदशन, ताल ठोंकना, डाँटना, ललकारना, रोमांच, स्वेद, मद, परुष-भाषण आदि—

संचारी भाव—गर्व, चपलता, मोह, अमर्ष, उग्रता, आवेग आदि—

उद्दीपन—शत्रु की चेष्टायें और उसका व्यवहार, उसका आस्फालन, अस्त्र-शस्त्र-प्रहार और आक्रोश देशद्रोही, जाति-शत्रु और कदाचारी पुरुषों का कार्य्य-कलाप और उनकी कूट नीति आदि—

विशेषता

इस रस में उद्दीप्त क्रोध की प्रबलता और पुष्टता होती है।

उदाहरण

अहंभाव

कवित्त—

कब लौं अभाग तू बनाइहै अभागो मोहि
जो न भागिहै तो तोको पौरुख दिखैहौं मैं।
काढ़ि हौं कचूमर पकरि मुँह लाल कैहौं
चाल चलिहै तो बाल बाल बीनि लैहौं मैं।

एरे क्रूर मानि है कही ना 'हरिऔध' की तो
धूर माँहिं तोको चूर चूर कै मिलैहौं मैं।
पसुता दिखैहै तो पिसान करि दैहौं पीसि
मसक समान मूढ़ तोको मीसि दैहौं मैं ॥ १ ॥

सामने जो ऐहै महा बिकराल - काल हूँ तो
लोहा लेइ तासों ताल ठोंकि ठोंकि लरिहौं।
गरजि गिराइहौं गुमान मगरूरिन कौ
तरजि तिलोक - पति हूँ को तेह हरिहौं।
'हरिऔध' धाइहौं कँपाइ दिगदंतिन कौ
बड़े बड़े धीर - धुर - धारिन कौ धरिहौं।
वैरिन की अखियाँ बनैहौं वारि - धारा - मयी
धूरि - धारा - मयी मैं वसुंधरा कौ करिहौं ॥ २ ॥

दून की जो लैहै ताप दैहौं तिगुनो तो ताहि
बहँके बहँक - बानि काँहि बहकैहौं मैं।
कीच जो उछारि है तो पकरि पछारि दैहौं
पीछे जो परैगो तो न पीछे पाँव नैहौं मैं।
'हरिऔध' करिकै बिरोध का विरोधी कैहै
वाको अवरोध वारि - धारा मै बहैहौं मैं।
बल जो दिखाइहै बिलाइहै बल्ले सम
बैर - बलि - वेदिका पै वाको बलि दैहौं मैं ॥ ३ ॥

उत्तेजिता बाला

कवित्त—

बीजुरी विलसि घन - अंक में जो कैहै केलि
तो मैं ताको फूटी-आँखि हूँ ते ना निहारिहौं।

सारी वारि-बूँदन को बारिधि मैं बोरि दैहौं
बसुधा ते बरखा बयारि को निकारिहौं।
'हरिऔध' बैर करिहैं जो मो बियोगिनी ते
तो मैं मोर - कुल को मरोरि मारि डारिहौं।
आदर न दैहौं कबौं कादर - पपीहन कौ
बजमारे - बादर को उदर बिदारिहौं ॥ १ ॥

मंजुल - रसाल मजरीन को बिथोरि दैहौं
रसना - बिहीन कैहौं कोकिल - नकारे को।
कुसुम - समूह की कुसुमता निवारि दैहौं
मारि दैहौं गुजत - मिलिंद - मतवारे को।
ए हो 'हरिऔध' जो सतैहैं दुख दैहैं मोहिं
बिरस बनैहौं तो सरोज - रस - वारे को।
अतक लौं सारे-सुख - तत को निपात कैहौं
अत करि दैहौं या वसंत बजमारे को ॥ २ ॥

पवि-प्रहार

मनहरण

कवित्त—

कैसे तो रसातल पठाइ दैहौं तोको नाँहि
ताड़ित जो तोते होत भारत अवनि है।
तू जो वार वार वार करत हितून पै तो
मेरो कर कैसे ना कटारी तोहि हनिहै।
'हरिऔध' कहै एरे कुल के कलक जो तू
तमकि तमकि जाति - नेहिन पै तनिहै।
मेरी वंक - भौं तो तेरी वकता नसैहै क्यों न
मेरो लाल-नैन क्यो न तेरो काल बनिहै ॥ १ ॥

एड़ी और चोटी को पसीनो करि एक जो तू
खोटी है करत क्यों न दाँत कोट कैहौं मैं।
रोटी के निमित्त पेट काटि लेत औरन के
ऐसी छोटी बातन ते कैसे ना घिनैहौं मैं।
'हरिऔध' तू जो जाति-पीठ की चमोटी बन्यो
कैसे तो न बार बार पोटी दूहि लैहौं मैं।
मोटी-मोटी-बाहैं बदो-मोटैं जो बनति हैं तो
एरे नर तेरी बोटी बोटि काटि देहौं मैं ॥ २ ॥

कमनीय - कामिनी मै कुल मैं कुलीनता मैं
कालिमा लगाइ क्यों कलंक मैं सनत है।
काहें बहु - आनन के सुनत अनैसे बैन
काहें अपकीरत - वितानन तनत है।
'हरिऔध' तोते जो पै हिदू हित होत नाँहि
हिंदू ह्वै कै जो तू जर हिंदू की खनत है।
काहें करवाल कालिका की ना परति तो पै
काहें तो न काल को कलेवा तू बनत है ॥ ३ ॥

कोऊ गिरि काहें तेरे सीस पै गिरत नाँहिं
धाक खोइ काहें तू धरा मै ना धँसत है।
काहें ना रसातल सिधारत रसा के हिले
काहे ना कपालिनी - कुफाँस मैं फँसत है।
'हरिऔध' हिंदू बनि हिदू - कुल-बाल होइ
हिंदू - गरो जो तू जेवरीन ते कसत है।
काहें तो प्रचंड - यम - दंड ना लगत तोहि
काहें तोको कारो काल - नाग ना डँसत है ॥ ४ ॥

सारी वारि-बूँदन को बारिधि मैं बोरि दैहौं
बसुधा ते बरखा बयारि को निकारिहौं।
'हरिऔध' बैर करिहैं जो मो बियोगिनी ते
तो मैं मोर - कुल को मरोरि मारि डारिहौं।
आदर न दैहौं कबौं कादर - पपीहन कौ
बजमारे - बादर को उदर बिदारिहौं ॥ १ ॥

मंजुल - रसाल मंजरीन को बिथोरि दैहौं
रसना - बिहीन कैहौं कोकिल - नकारे को।
कुसुम - समूह की कुसुमता निवारि दैहौं
मारि दैहौं गुंजत - मिलिंद - मतवारे को।
ए हो 'हरिऔध' जो सतैहैं दुख दैहैं मोहिं
बिरस बनैहौं तो सरोज - रस - वारे को।
अंतक लौं सारे-सुख - तंत को निपात कैहौं
अंत करि दैहौं या बसंत बजमारे को ॥ २ ॥

पवि-प्रहार

मनहरण

कवित्त—

कैसे तो रसातल पठाइ दैहौं तोको नाँहिं
ताड़ित जो तोते होत भारत अवनि है।
तू जो वार वार वार करत हितून पै तो
मेरो कर कैसे ना कटारी तोहि हनिहै।
'हरिऔध' कहै एरे कुल के कलंक जो तू
तमकि तमकि जाति - नेहिन पै तनिहै।
मेरी वंक - भौं तो तेरी वकता नसैहै क्यों न
मेरो लाल-नैन क्यो न तेरो काल बनिहै ॥ १ ॥

एड़ी और चोटी को पसीनो करि एक जो तू
खोटी है करत क्यों न दाँत कोट कैहौं मैं।
रोटी के निमित्त पेट काटि लेत औरन के
ऐसी छोटी बातन ते कैसे ना घिनैहौ मैं।
'हरिऔध' तू जो जाति-पीठ की चमोटी बन्यो
कैसे तो न बार बार पोटी दूहि लैहौं मैं।
मोटी-मोटी-बाहैं बदी-मोटैं जो बनति हैं तो
एरे नर तेरी बोटी बोटि काटि दैहौं मैं ॥ २ ॥

कमनीय - कामिनी मै कुल मैं कुलीनता मैं
कालिमा लगाइ क्यो कलंक मैं सनत है।
काहें बहु - आनन के सुनत अनैसे बैन
काहें अपकीरत - वितानन तनत है।
'हरिऔध' तोते जो पै हिंदू हित होत नाँहि
हिंदू ह्वै कै जो तू जर हिंदू की खनत है।
काहें करवाल कालिका की ना परति तो पै
काहें तो न काल को कलेवा तू बनत है ॥ ३ ॥

कोऊ गिरि काहें तेरे सीस पै गिरत नाँहिं
धाक खोइ काहें तू धरा मै ना धँसत है।
काहें ना रसातल सिधारत रसा के हिले
काहें ना कपालिनी - कुफाँस मै फँसत है।
'हरिऔध' हिंदू बनि हिंदू - कुल-बाल होइ
हिंदू - गरो जो तू जेवरीन ते कसत है।
काहें तो प्रचंड - यम - दंड ना लगत तोहि
काहे तोको कारो काल - नाग ना डँसत है ॥ ४ ॥

मानव की कहा ह्वैहैं कुपित अमानव हूँ
खग मृग मीनन को मंडली कँपावैगी।
तरु काल ह्वैहै फूल फल मैं समैहै सूल
दल दलि दैहै बेलि लता कलपावैगी।
'हरिऔध' कहै देस-द्रोही तू न पैहै कल
धाई धूरि-धारा असि-धारा सी सतावैगी।
भारत के कोटि कोटि कीट काटि काटि खैहैं
चींटे चोट कैहैं चींटी तोको चाटि जावैगी ॥ ५ ॥

दिनकर-किरिनैं करेजो तेरो वेधि दैहैं
चंद की कलायें तोको गरल पिआइहैं।
अंत तेरो करिहैं दिगंतन के दंति दौरि
धूरि माँहि तोको धरा-धरहूँ मिलाइहैं।
'हरिऔध' जो तू कुल-लाल ह्वै बनैगो काल
हिंदुन को तेरे दृग-लाल जो कँपाइहैं।
कारे-कारे-बारि-बाह ते तो पवि-पात ह्वै
नभ-तारे तो पै तो अँगारे बरसाइहैं ॥ ६ ॥

रेति रेति जाति-गरो कौलौं तू मनैहै मोद
चेति चेति कौलौं लोक-चित्त-चाव हरिहै।
काल बनि बनि काहू काँहि कलपैहै कौलौं
लाल ह्वैहै कौलौं तू लहू सों हाथ भरिहै।
मानत है काहे 'हरिऔध' की कही ना क्रूर
कालिमामयी तू कौलौं मेदिनी को करिहै।
कोऊ ज्वाला-मुखी फूटि कैहै टूक टूक तोहि
एरे महा-पापी तो पै वज्र टूटि परिहै ॥ ७ ॥

दिवि ह्वैहै अदिवि धनाधिप बराक ह्वैहै
सकल बिभूति अ-बिभूति पद पावैगी।
सुर ह्वैहै असुर सुराधिप-समन ह्वै है
काम - धेनु सारी कामधेनुता गँवावैगी।
कहै 'हरिऔध' एरे हिंदू कुल के कलंक
जाति काँहिं तेरी कूट नीति जो कँपावैगी।
ज्वाल-माला ह्वै है तो मयंक-कला केलि-मयी
तोको कल्प वेलि कल्प कल्प कलपावैगी॥८॥

तेरो नाम सुने नाक नीचता सिकोरि लैहै
तेरो मुख देखे महा-पातक सिहरि है।
पामरता पै है यम-यातना परसि तोहि
लोक-कालिमाहुँ को कलंकित तू करि है।
'हरिऔध' कहत पुकारि जाति-बैरी सुन
जाति बैर-विरद वहँकि जो तू बरि है।
गौरव तिहारो तो अगौरव-बिभूति ह्वैहै
कौरव-समान तू हूँ रौरव मैं परि है॥९॥

कैसे भला हिंदुन को कबहूँ अकाज हो तो
हिंदू ह्वै अहिंदू काज जो न करि जातो तू।
भीर क्यो परति क्यो भभरि-हिल भागि जात
नाना वैर-भावन ते जो न भरि जातो तू।
'हरिऔध' जाति तो अकण्टक न कैसे होति
कंटक-समान पंथ तें जो टरि जातो तू।
गरि जातो सरि जातो कतहूँ निकरि जातो
जरि जातो बरि जातो जो पै मरि जातो तू॥१०॥

दोहा—

गरल वमत बहकत रहत दहत हरत चित चैन।
कैसे लोने नैन मैं राई लोन परै न ॥११॥

कैसे ऐंची जाय नहिं क्यों न बनहि बदनाम।
जब चलि जीभ चलावतै रहति चाम के दाम ॥१२॥

संत बनेहूँ जो हरत काहू गर को हार।
काहें वाके सीस पै टूटि न परत पहार ॥१३॥

ते असत हैं सत नहिं क्यों न गहहिं करवाल।
जिनकी अँखियाँ लाल ह्वै बनहिं लोक-हित काल ॥१४॥

जो भिरि हैं करिहौं उभरि बीर भाव को अंत।
हौं बैरिन कौ तोरि हौं सकल - बिखीले - दंत ॥१५॥

बचि पै है बैरी नहीं परि सौंहैं करि सौंह।
हरिहै सारी बकता बंक भई मम भौंह ॥१६॥

भयानक

स्थायी भाव—भय

देवता—काल

वर्ण—श्याम अथवा कृष्ण

आलंबन—भयंकर दृश्य, घोर दर्शन जन्तु अथवा प्राणि विशेष, भीति-वर्द्धक स्थान आदि।

उद्दीपन—भयंकर दृश्यों का अवलोकन, भयजनक प्राणियों और स्थानों का दर्शन, उनकी चेष्टायें और उनके कार्य्यकलाप।

अनुभाव—विवर्णता, कंप, मूर्छा, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग आदि।

संचारी भाव—आवेग, मोह, त्रास, दैन्य, शंका, तथा मृत्यु आदि।

इस रस में इंद्रिय विक्षोभ के साथ भय की पुष्टि होती है। इसके पात्र कापुरुष और भीरु स्त्री आदि हैं।

विशेष

किसी किसी ने इस रस का देवता यमराज को माना है।

भय की विभूति

मनहरण

कवित्त—

याजन यजन बहु-साधन-विराग राग
व्रत उपवास काल-त्रास करतूति है।
साँसत-सहन नाना-सासन प्रतीति प्रीति
सहज-भयानक-विभावना प्रसूति है।

'हरिऔध' बिबिध - बिभीषिका थहर भरी
सकल - ससंक - भाव - गात-भूति है।
भभरे जनन की भभर भूत - प्रेम - भीति
भीरु - जन - अनुभूति भय की बिभूति है॥ १॥

भूत - प्रेत परम - भयावनी कुमूर्ति देखे
चैन से कबौं ना भूतहूँ को पूत सूतिहै।
फुँकरत फनि - गन फनिता बतैहै कौन
कालिका-करालता कहाँ लौं कोऊ कूतिहै।
'हरिऔध' काहि से गरल - कंठता है छिपी
काको ना कपाल-नैन-ज्वाल - अनुभूति है।
भैरव समेत भूत - नाथ की प्रभूत - भूति
भूरि - भय - भावना भयंकर - बिभूति है॥२॥

कहा अजगुत बक्र - दंत बिकराल - काय
कदाकार कोऊ भूरि - भीति उपजैहै जो।
कौन है बिचित्रता बिकल्पित बिपुल - मूर्ति
बनिकै भयंकरी बिभीषिका बढ़ैहै जो।
'हरिऔध' कछू ना अचंभौ तम-तोम - तरु
भैरव - बिभूति ह्वै अपार डरपैहै जो।
जहाँ तहाँ खरे क्यों दिखैहैं ना प्रभूत - भूत
भय - अभिभूत - मनभूत बनि जैहै जो॥ ३॥

बिभीषिका

कवित्त—

सूरता बिलोके सौंचे-सूर - कुल - केसरी की
बड़े - बड़े - साहसी समर मैं सकाने हैं।

वीरता - विकंपित भई है बाँके - बीरन की
वैरिन के वैभव वलूले लौं बिलाने हैं।
'हरिऔध' कर - करवाल - गहे केते भीरु
भीत ह्वै के गिरि की गुहान में सामने हैं।
धनु ताने केते हहराने केते थहराने
केते भहराने केते भभरि पराने हैं ॥ १ ॥

वासर बड़े हैं पै अवासर बनैंगे विधि
लोमसता चाव कौलौं लोमस दिखावैंगे।
चिरजीवी जेते हैं न वेऊ चिरजीवी अहैं
कैसे चिर - जीवन जगत जीव पावैंगे ॥
'हरिऔध' अमरावती न अमरावती है
सारे लोक काल के उदर मैं समावैंगे।
कौन है अमर ? है अमरता निवास कहाँ ?
एक दिन अमर - अमर मर जावैंगे ॥ २ ॥

प्रलय काल

कवित्त

सारे - लोक लोकपाल सहित विलोप ह्वै हैं
कुल - कला-निधि काल - गाल मैं समावैंगे।
तारकता तजि तजि तारक तिरोहित ह्वै
प्रलय - पयोधि मैं वलूले पद पावैंगे।
'हरिऔध' देव देव - लोक हूँ ढुरैंगे कहूँ
दिवि मै दिवा - पति न दिपत दिखावैंगे।
मिलि जैहैं सारे भूत ही न पंच भूत माँहि
एक दिन पंच - भूत भूत बन जावैंगे ॥ १ ॥

सिव की समाधि भई भंग भीम - नाद भयो
कँपे लोक - पाल धीर ध्रुव ना धरे रहे।
सहमे सुरासुर स-संकित दिगंत भयो
सारे पारावार ना प्रपंच से परे रहे।
'हरिऔध' प्रलय - बिभूति को बिकास देखि
भुवन - स - भूधर भयातुर अरे रहे।
भीत भये भूत भारी - भीरुता धरा मैं भरी
सित - भानु डरे भानु भभरे खरे रहे ॥ २ ॥

धाँय धाँय दहिहै धरातल मसान - सम
अगनित खानैं ज्वाल - माल-जाल जनिहैं।
पावक ते पूरित दिगंत हूँ दुरंत ह्वै है
दव के अधर मैं बितान बहु तनिहैं।
'हरिऔध' ऐहै ऐसो वार जब नाना लोक
लोक - पाल - सहित हुतासन मैं सनिहैं।
सूर ससि जारे जैहैं प्रलय - अँगारे माँहि
सारे तारे तपत - तवा की बूँद बनिहैं ॥ ३ ॥

डरपैहै घिरि घेरि दानव - समान घन
परम - प्रचंडता प्रभंजन दिखावैगो।
कर्न - भेदी - गरज कँपैहै दिग्गजन काँहिँ
काको विज्जु-व्यापक-प्रकोप ना कँपावैगो।
'हरिऔध' वारि - धर मूसल-समान-धार
वारि-निधि प्लावन लौं बिबस बनावैगो।
भूमि - तल निलय बनैहै भू - वलय माँहिँ
सारो - लोक प्रलय - सलिल मैं समावैगो ॥ ४ ॥

सारे - प्रांत प्लावन मैं परिकै विलीन ह्वै हैं

पवि - पात भये विनिपात ह्वै है जीवन कौ
प्रलय - प्रबलता ते जनता बिलावैगी।
'हरिऔध' प्रखर - प्रभंजन - प्रकोप कीने
बिदलित पूरी - पादपावलि दिखावैगी।
मिलि जैहै धूरि मैं धरा - धर बिधूनित ह्वै
धारा - धर - धारा मैं वसुंधरा समावैगी ॥५॥

ज्वाल - माला - बमन सहस-फन-सेस कैहै
काल - ज्योति ज्वलित - दिगंतन मैं जगिहै।
मदन - दहन को दहन - पटु खुलैगो नैन
दाहकता दाहक - त्रिसूल की उमगि है।
'हरिऔध' प्रबल - प्रलय - परिपाक भये
लोक-ओक पावक - बिपाक - पाक पगि है।
परम - प्रचंड - मारतंड उगिलैगो आग
अनल - अखंड महि - मंडल मैं लगि है ॥६॥

कूदि कूदि उछरि उछरि कै लगैहै आग
लाग कै लवर - व्योम - व्यापिनी उठावैगो।
दाहैगो अनंत - जीव - जंतु - यातुधान-दल
बरत - मसाल घर बार को बनावैगो।
'हरिऔध' करिहै दिगंत को दवारि - दग्ध
वसुधा-विभूति को विभूति कै दिखावैगो।
प्रलय - प्रकोप - पौन - पूत अति बंका-बीर
डंका दै दै नाना - लोक-लंका को जरावैगो ॥७॥

ज्वाल-माल जगे दग्ध ह्वै हैं जगती के जीव
घर बार बसन-बितान जैसो बरि है।

तृन-पुंज-सरिस दहत दिखरैहै मेरु
बन मैं भयंकरी-लवर फूटि परिहै।
'हरिऔध' बारहो-दिवाकर उदित भये
दुसह-दवारिता दिगंतन मैं भरिहै।
तूल-सम सकल-धरातल को तरु-तोम
तेल-सम तोय-निधि तोय-रासि जरिहै ॥८॥

नाचि नाचि जरति जमात मनु-जातन की
बारि ही मैं बरत रहत बारि-वारे हैं।
बिहग उड़त गिरि परत दहत जात
पसु-बृंद पावक मैं परि पचि हारे हैं।
'हरिऔध' कहाँ जाँय, कहा करैं, कैसे बचैं,
प्रलय-प्रपच ते प्रपंचित विचारे हैं।
अवनि गगन ही अहैं न उगिलत आग
सरित-पतीन हूँ मैं भरित अँगारे हैं ॥९॥

भानु ते भभरि भूरि-कपित-भयो है लोक
पवि - डर प्रलय-प्रकोप ते हिलत है।
द्रवी-भूत-धातुन को प्रवल-प्रवाह आइ
पल पल नाना-प्रानि-पुंज को गिलत है।
'हरिऔध' हाहाकार पूरति दिगत भयो
कहाँ जाय कोऊ कहीं त्रान ना मिलत है।
तारे ही गगन ते न गिरहिं सरारे-भरे
भूतल हूँ आग ह्वै अँगारे उगिलत है ॥१०॥

भभरि भभरि भागिहैं पै कहाँ जैहैं भागि
हहरि हहरि काँपिहै पै क्यों उबरि हैं।

कहाँ कै हैं माता पिता भ्राता क्यो बचैहैं काहि
आप ही जो प्रबल दवारि माँहिं परिहै।
'हरिऔध' कैसे तो विमूढ़ जन ह्वैहैं नाँहिं
सिगरे सदन जो बरूद जैसे बरिहैं।
धरती बनैगी जो पै जरती चिता-समान
कैसे तो न सारे जगती के जीव जरिहैं॥ ११॥

धसके, धरातल मैं धँसि जैहैं नाना जीव
ज्वाल माल लगे गेह धू धू धू धू जरिहैं।
परि परि पावक मैं विपुल - पहार-पंक्ति
प्रलय-पटाका ह्वै प्रचंड रव करिहैं।
'हरिऔध' बार बार भू पै बज्र-पात ह्वैहै
काल-पेट दहत - भुवन भूरि भरिहैं।
काँचे-घट-तुल्य सारे-लोक फूटि फूटि जैहैं
टकराये कोटि कोटि तारे टूटि परिहैं॥ १२॥

नभ-तल भू-तल पताल है दवारि भरो
दिवि है दहत है उदधि-वारि बरतो।
तारक-कतार परि पावक मैं छार होत
प्रानि - पुंज - प्रान है दुरंत - दव हरतो।
'हरिऔध' नाना - पुर - नगर-अगारन मैं
उलका निपात है अँगारन को भरतो।
कोपे काल प्रलय - अनल विकराल भयो
जगे ज्वाल - माल है जगत सारो जरतो॥ १३॥

कोऊ हाहा खात थहरात कोऊ भहरात
कोऊ परो दुसह दवारि मैं दिखात है।

तरु हैं जरत धू धू धू धू हैं जरत मेरु
धाँय धाँय बरत धरातल को गात है।
'हरिऔध' ठौर ठौर धधकत आग ही है
ज्वाल मैं जरति जीव - जंतु की जमात है।
महा हाहाकार है सुनात ओक - ओक माँहिं
प्रलय जराये लोक लोक जरो जात है ॥ १४ ॥

करको प्रहार तारकावलि को लोप कैहै
दिवि को दलैगो दिवा - पति को मिटावैगो।
नाना - अंग - चालन दिगंतन को कैहै चूर
ध्वंस कै धरातल को धूरि मैं मिलावैगो।
'हरिऔध' होत महा - काल को करालनृत्त
सहस - बदन - ब्याल - वैभव बिलावैगो।
लात लगे टूटिहै अतल - तल पत्ता - सम
पल में पताल हूँ को लत्ता उड़ि जावैगो ॥ १५ ॥

सृग - नाद सुने घोर - डमरू - डिमिक भये
कोपे महा - काल के सुरासुर सिहरिगे।
उच्छलत - बारिधि को बारि विचलित भयो
धसके धरा - तल धरा - धर बिदरिगे।
'हरिऔध' चौदहो भुवन भय - भीत बने
काँपे पच - भूत दसो दिग्गज भभरिगे।
कोल गयो डोल काठ मारिगो कमठ हूँ को
वैल बिललानो ब्याल - बदन बिहरिगे ॥ १६ ॥

हुँकरत वैल के बलूले लौं बिलाने लोक
फुँकरत फनि के अनत - ओक जरिगे।

प्रकटे त्रिलोचन - त्रिसूल ते दुरंत - दव
सारे प्रानी दावा मैं पतंग - सम परिगे।
'हरिऔध' कहै प्रलयंकर - प्रकोप भये
मरिगे अमर बारि - धार - वारे बरिगे।
गरे के गरल ते अँगारे झरे भूतल पै
नयन उघारे तारे पावक ते भरिगे ॥ १७ ॥

बाम देव बामता ते मर ह्वै अमर जैहैं
कोटि कोटि मनु - जात कीट जैसे मरिहैं।
धूरि मॉहिं मिलिहैं सुमेर से धरा - धर हूँ
बारिद - प्रलै के तेल - बिंदु जैसे जरिहैं।
'हरिऔध' त्रिपुरारि - नयन तृतीय खुले
तीनो लोक तूल के अंबार जैसे बरिहैं।
काल - कोप पौन के हिलाये ब्योम-तरु-तोम
फल के समान सारे तारे झरि परिहैं ॥ १८ ॥

लोकन की सत्ता औ महत्ता महा-भूतन की
प्रलय महान विकराल कर लूटैगो।
अतक-अनंत की अनंतता को अंत ह्वै है
टूक टूक ह्वैवे ते छपा - कर न छूटैगो।
'हरिऔध' हर के अकांड - तांडवो के भये
भांड के समान सारो ब्रह्मांड फूटैगो।
प्रबल प्रचंड - मारतंड खंड खंड ह्वै है
परम - उदंड - यम काल - दंड टूटैगो ॥ १९ ॥

प्रलय प्रकोप

दोहा—

रवि ससि रहि जैहैं नहीं बचि है नाँहिं अनंत।
अंत समय करिहै प्रलय अतक हूँ को अंत ॥ १ ॥
जरि जैहै सारो जगत बरि जैहै बनि घास।
उगे दिवाकर बारहो बहे पवन - उनचास ॥ २ ॥

नरक वर्णन

दोहा—

पग पग पै पग - वेधिनी पथ - पौरुख - गिरि गाज।
है कंटक - मय नरक - महि कुल - कटक जन काज ॥ १ ॥
पग पारत जरि बारि उठत तरफत हाहा खात।
अहै आततायीन हित नरक - अवनि अय - तात ॥ २ ॥
साँसत पै साँसत सहत पिसत दहत दिनरात।
जब कौरव से पातकी रौरव मैं परि जात ॥ ३ ॥
कौन नारकी बिन जिअत निज तन लोहू चाटि।
को काकी पोटी दुहत बोटी बोटी काटि ॥ ४ ॥
जरहिं बरहिं पल पल पिसहिं मिसहिं खाहिं तरवारि।
कौन यातना ना सहहिं नरक परे नर-नारि ॥ ५ ॥
काल - व्याल - मय - महि मिले दहत देखि सब ओक।
भागे भागे फिरत हैं नरक अभागे - लोक ॥ ६ ॥
गिरत परत सोनित बमत फूटत रहत कपार।
पापी पावत नरक मैं पल-पल प्रबल - प्रहार ॥ ७ ॥
जरत नरत को जीव है पै न होत जरि छार।
धरा आगि उगिलत रहत बरसत गगन अँगार ॥ ८ ॥

वीभत्स

स्थायी भाव—जुगुप्सा अथवा ग्लानि वा घृणा

देवता—महाकाल

वर्ण—नील

आलंवन—दुर्गन्ध युक्त पदार्थ, मास, रुधिर, चर्वी, विष्ठा, मूत्र आदि—

उद्दीपन—दुर्गन्धित पदार्थों में कीड़े पड़ना, उनपर मक्षिकादि पतन।

अनुभाव—थूकना, मुँह फेर लेना, आँख बद करना, नाक सिकोड़ना, रोमाच आदि।

सचारी भाव—मोह, मूर्छा, आवेग, व्याधि, आदि।

इस रस में ग्लानि और घृणा की परिपूर्णता होती है और इन्हीं भावों द्वारा यह पुष्ट होता है।

विशेष

इस रस में जुगुप्सा की पुष्टि और ग्लानि एवं घृणा की अधिकता होती है इस रस का पात्र उद्वेगमय मानस होता है।

युद्ध-भूमि

मनहरण

कवित्त—

काटि काटि ग्वात मुंड-माल में के मुंडन कौ
मास मेद मज्जा ते अघाइ उमहति है।
असित - कलेवर, डरावने विसाल - नेत्र,
चावि - चावि हाड़ विकरालता गहति है।

'हरिऔध' बाल बगरे हैं काल - जाल जैसे
बार बार अट्ट अट्ट हँसति रहति है।
शव-राशि-कढ़ी रण-भूमि रक्त - धारा माँहिं
शव पै सवार शव-वाहना बहति है ॥ १ ॥

कटी अँगुरीन ते सिँगारति रहति गात
आँत ते सँवरि भूरि-गौरव गहति है।
मेद मास मज्जा खाइ खाइ कै मुदित होति
स्वेद चाटि चाटि स्वाद सौगुनो लहति है।
'हरिऔध' कहै रण-भूमि-सरि-धारा माँहिं
विपुल-बिनोदित ह्वै भैरवी वहति है।
खिलति महा है गज-खाल को बसन धारि
लोहू को महावर लगाइ उमहति है ॥ २ ॥

खोपरीन खाइ कै बदन ते बमति ज्वाल
रुंड - मुंड - झुंडन विहंडि विहरति है।
पकरि कबंधन करति है रुधिर - पान
प्रचुर - करेजन चबाइ उछरति है।
'हरिऔध' जोरि जोरि जीह गज-वाजिन की
पान सम चावि मोद भावरें भरति है।
रण-भूमि माँहिं भूत-नाथ की बिभूति बनि
भूत-लीला भूतन की मडली करति है ॥ ३ ॥

कूकर-समूह अग भग कै भिरत भूरि
भरित-उमग काक आँखि काढ़ि खात है।
रुरुआ ररत भूत भीर है करत रव
भैरव-निनाद भरो भूतल दिखात है।

'हरिऔध' रण मैं लुठत है बिपुल-लोथ
पल पल शोणित प्रवाह अधिकात है।
घात माँहिं बैठि गीध आँत ऐंचि लेत
गात नोचि नोचि खात जम्बुक-जमात है॥ ४॥

सवैया—

काल कलेऊ बनावत लोक को कालिका मुंडन ठाट है ठाटति।
गीध-समूह निकारत आँत है त्यों करवार घने-सिर काटति।
ए 'हरिऔध' अरी रण-वाहिनी लोथते है धरनी-तल पाटति।
नाचति हाड़ चबाइ कै योगिनी चाट ते लोहू चुरैल है चाटति॥५॥

मानव-तन

कवित्त—

कीचर भरे हैं नैन नेटा भरी नासिका है
थूक औ खेखार लार पूरित वदन है।
नख ते विहीन अहै एक आँगुरी हूँ नाहिं
हाड़ को है ढाँचो रोम-संख्या अनगन है।
'हरिऔध' अंग अंग अहै चाम-आवरित
रक्त मेद मज्जा मास स्वेद को सदन है।
क्रूर-करतूत-भरो छूत-भरो खूत-भरो
मल-भरो मूत-भरो मानव को तन है॥१॥

स्मशान-भूमि

कवित्त—

कहूँ धूम उठत बरति कतहूँ है चिता
कहूँ होत रोर कहूँ अरथी धरी अहै।
कहूँ हाड़ परो कहूँ जरो अध-जरो बाँस
कहूँ गीध-भीर मास नोचत अरी अहै।

सौंहैं मुँह कैसे करैं है कलंक - मय गाथ।
लहू बने लोचन अहैं लहू भरे हैं हाथ ॥२॥
ताके चित की वासना तासु चाव कहि देत।
अगल बगल अवलोकि कै बगल सूँघि जो लेत ॥३॥
मैलो मुख मल वमत है जब कबहूँ समुहात।
भेद बतावत भीतरी स्वेद-गंध-मय-गात ॥४॥
बोलि अनैसे-बैन जो बरबस बनत बलाय।
तो मुँह मैं कीरे परैं तुरत जीह सरि जाय ॥५॥

शांत

स्थायी भाव—शम अथच निर्वेद

देवता—शांतिमूर्ति विष्णु

वर्ण—कुंद-पुष्प-कांति समान शुक्ल

आलंबन—संसार की असारता और अनित्यता का ज्ञान, परमात्मा के सत्य स्वरूप का अनुभव।

उद्दीपन—सद्गुरु प्राप्ति, सत्संग, पवित्र आश्रम, पवित्र तीर्थ, रमणीय एकांत वन, सच्छास्त्र अनुशीलन, श्रवण मनन आदि।

अनुभाव—रोमांच, पुलकावली, अश्रु-विसर्जन आदि।

संचारीभाव—धृति, मति, हर्ष, स्मरण, प्राणियों पर दया आदि।

विशेष

काम क्रोधादि शमन पूर्वक निर्वेद की परिपुष्टता को शांत कहते हैं, इसका आश्रय उत्तम पात्र है।

असार संसार

मनहरण

कवित्त—

मिलि जैहैं धूरि मैं धरा-धर धरा-तल हूँ
काल-कर सागर-सलिल को उलीचिहै।
बड़े बड़े लोक-पाल विपुल विभव-वारे
पल मैं विलैहैं ज्यों विलाति वारि-वीचि है।

'हरिऔध बात कहा तुच्छ-तन-धारिन की
कवौं मेदिनी हूँ मीच-भै ते आँख मीचिहै।
सरस-वसंत ह्वै बिरस सरसैहै नाँहि
बरसि सुधा रस सुधा-कर न सींचिहै ॥ १ ॥

ऐसी ही लसैगी हरिआरी हरे-रूखन मैं
ऐसी ही ललामता ललित लता लहि है।
ऐसोई करैगो कूजि कूजि कल गान खग
सुमन सुरभि लै समीर मद बहिहै।
'हरिऔध' एक दिन तू ही आँखि मूँदि लैहै
ऐसी ही रहैगी मोद-मयी जैसी महि है।
ऐसी ही चमक चारु - चाँदनी चुरैहै चित
ऐसोई हँसत मद मंद चंद रहिहै ॥ २ ॥

प्रान बिन ताको तजि भजति सदा की नारि
तरसत हुती जाको किन्नरी बरन को।
दाहत चिता पै राखि सुंदर सरीर वाको
जाकी पलिका को पावा हुतो सुबरन को।
'हरिऔध' देखत मसान माँहि ताको परो
जाकी धाक कपत करेजो भू-धरन को।
चौंर होत हुती जिन्हैं मसक निवारन को
तिन्हैं खात देखे नोचि गीदरन को ॥ ३ ॥

पूजित - सचीस-धनाधीस औ फनीसहूँ के
जगदीस ईसहूँ के सीस जो धरी रहै।
कामिनी के कंठ कुच करन चरन हूँ की
जाते जेवरन हूँ की सुखमा खरी रहै।

'हरिऔध' कल औ कलेस काल-कौतुक है
सदा नाँहिं एक ही सी काहू की घरी रहै।
धूरि-भूरि-भरी गरी छिन्न-करी भूपै कवौं
वस्तु हूँ अनोखी मंजु-माला-सी परी रहै॥ ४॥

आत्मग्लानि

कवित्त—

चल फिर न सकहिं परे हैं फेर माँहिं तऊ
वार वार फेरे पाप-पथ ते फिरे नहीं।
घरी घरी घर के घनेरे-दुख घेरे रहैं
तब हूँ रुचिर-रुचि घेरे ते घिरे नहीं।
'हरिऔध' आयु-भोग-भाजन भरत जात
चित-भीरुताते तऊ उभरि भिरे नहीं।
गई आँखि तऊ आँखि होति आँखि-वारन की
गिरे दाँत तऊ दाँत विख के गिरे नहीं॥ १॥

बड़े-बड़े-लोचन के लालची बनेई रहे
बिसर न पाई बात बेदी-बिकसी की है।
छी छी छी छी कहैं लोग तऊ है न छी छी सुधि
सुछवि न भूल पाई छाती-उकसी की है।
'हरिऔध' चूकि चूकि करहूँ न चूक चुकी
कसक सकी न कढ़ि कंचुकी कसी की है।
उकसि उकसि आज हूँ न कस मैं है मन
अकस न छूटि पाई काम-अकसी की है॥ २॥

निर्वेद

कवित्त—

मेरी नारि मेरो पूत मेरो परिवार सारो
मेरो गाँव मेरो गेह मेरो धन जन है।
मेरो मीत मेरो तात मेरो हित मेरो नात
मेरो मुख मेरो नैन मेरो यह तन है।
'हरिऔध' ऐसे नाना चावन को चेरो अहै
मोह-भरे-भावन मैं रहत मगन है।
छोरि छोरि हारे छोरे बंधन न छूटि पाये
मोरि मोरि हारे मोरे मुरत न मन है॥ १॥

सवैया—

चाह नहीं सुर पादप की तर वाँ के तरून के जो रहि जैयै।
प्यास पियूखहूँ. को न हिये 'हरिऔध' जो पूखन-जा लखि लैयै।
काम-दुघाहुँ सों काम कहा वह गो-धन जो अपनो धन कैयै।
त्यागिये राज तिहूँ पुर को अज-पूजित जो व्रज की रज पैयै॥२॥

मुख जोहत जो नित मेरे रहे उनको अब बैन सुनातो नहीं।
जिन सामुहें दीठ न कीनी कबौं उनको अब जोम जनातो नहीं।
'हरिऔध' कहा कहै औरन की सगहूँ लगतो नगिचातो नहीं।
अब तो जग-जीवन तेरे बिना जग आपनो कोऊ दिखातो नहीं॥३॥

आरस छोरि लहौं तुलसी-दल पारस पाइ पलौं न उमाहौं।
गावत वे प्रभु के गुन-पावन पावत मोद पलास की छाँहौं।
या जग मैं जकरे सँकरे परौं भाग छुटे 'हरिऔध' सराहौं।
साँवरे राज ते काज कहा हमैं रावरे पायन की रज चाहौं॥४॥

पाइ विभौ कबहूँ गरबात कबौं हित पेट के आतुर धावै।
मोद सों मत्त बनै कबहूँ अति चिंतित ह्वै कबहूँ अकुलावै।

भूलै कबौं 'हरिऔध' सनेह मैं सोक पगो कबहूँ बिलखावै।
या बिध बावरो जीव बनो रहै कैसे कबौं गुन रावरो गावै ॥५॥

का पदवी जन - मान बिभौ मिले जो पल मैं तजि संग पराहीं।
विद्या विवेकते काज कहा छल छोरिकै तोको न जो पतियाहीं।
तौ 'हरिऔध' दया - निधि साँवरे और कछू कबौं चाहत नाहीं।
काहू उपावन प्रीति बनी रहै भावन वा पद पावन माँहीं ॥६॥

विराग

दोहा—

थोरे मैं अवसर परे ओरे लौं गरि जात।
गोरे - गोरे - गात पै कत कोऊ गरबात ॥ १ ॥

बाहु हेरि बहकत वृथा बनि पर - सुख - ससि राहु।
सहसन के देखे कटी सहस - बाहु की बाहु ॥ २ ॥

कोऊ बल करि अबल पै कत बलकत इतरात।
लखे बलूले के सरिस बहु - बल - वान बिलात ॥ ३ ॥

सारी धरती मैं रही जासु धाक की धूम।
धूमिल सक्यो मसान करि तासु चिता की धूम ॥ ४ ॥

जाके धौंसे की रही महि मैं भरो धुकार।
धू धू धू धू जरि भयो सो छिति - तल की छार ॥ ५ ॥

तीन हाथ महि मै परो तिनको गात लखात।
जे अवनी - तल - पति रहे अवनी मैं न समात ॥ ६ ॥

का अनगन जन बाजि गज का धन लाख करोर।
मनुज लेत मुँह मोरि जब देखि काल - दृग - कोर ॥ ७ ॥

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

हिन्दी दासबोध

जिस तरह उत्तर भारत में गोस्वामी जी की रामायण का प्रचार राजा से लेकर रंक की झोपड़ी तक है, उसी तरह इस पुस्तक का प्रचार दक्षिण भारत में है। भगवान तिलक ने तो 'दासबोध' को संसार के सर्वश्रेष्ठ ग्रथों में माना है। मूल्य सजिल्द पुस्तक का ३)

भक्त और भगवान

सूर, तुलसी, कबीर, मीरा, रसखान, बिहारी, भारतेन्दु, सत्य-नारायण तथा अष्टछाप के भक्त कवि-पुंगवो के भगवान के प्रति जो अनुपम उद्‌गार हैं उनका इस पुस्तक में बहुत ही सुन्दर संकलन किया गया है। भक्तों के वास्ते तो यह अपूर्व पुस्तक है। मूल्य १।।)

बिहारी की वाग्विभूति

बिहारी हिन्दी के बहुत लोक-प्रसिद्ध कवि हैं। उनकी सतसई की पढ़ाई कई परीक्षाओ में होती है। पर बिहारी की विशेपताओ का सम्यक्‌ उद्‌घाटन करनेवाली हिंदी में कोई भी पुस्तक नहीं थी। इस पुस्तक से बिहारी-सम्बन्धी सभी बातों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा। मूल्य १।।।)

हिन्दी ज्ञानेश्वरी

महाराष्ट्र प्रान्त के प्रसिद्ध महात्मा श्री ज्ञानेश्वर जी ने भक्तों को भगवद्गीता का वास्तविक मर्म समझाने के लिए श्री शंकराचार्य के मतानुसार 'ज्ञानेश्वरी' नामक बहुत ही विद्वत्तापूर्ण और विशद टीका लिखी है। आज तक गीता पर जितनी टीकाएँ निकली हैं उनमें यह सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। मूल्य सजिल्द का ४॥)

भाषा-भूषण (सटीक)

अलंकार का ज्ञान प्राप्त करानेवाली यह सबसे छोटी और सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है। दोहों में लक्षण और उदाहरण दोनों दिए गए हैं इससे कंठस्थ कर अलंकार का ज्ञान प्राप्त करना सरल-सा है। मूल्य १)

हिन्दी-नाट्य-साहित्य

इस ग्रन्थ के आरम्भ में प्राय ५० पृष्ठों में संस्कृत-नाट्य-साहित्य की उत्पत्ति, विकास, नाटक तथा लक्षण-ग्रन्थों का संक्षिप्त इतिहास, रूपक-भेद, वस्तु, रस आदि पर एक पूरा प्रकरण दिया गया है। इसके अनन्तर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के पूर्व के नाटकों का इतिहास देकर भारतेन्दु जी की नाट्य-रचनाओं का विवरण आलोचना सहित क्रमश तीन प्रकरणों में दिया गया है। इसके बाद भारतेन्दु-काल के अन्य नाटककारों का विवरण एक प्रकरण में देकर वर्तमान-काल के प्रमुख नाटककार 'प्रसाद' जी की रचनाओं की ६० पृष्ठों में विवेचना की गई है। पुस्तक में नाटकों के इतिहास-सम्बन्धी समग्र ज्ञातव्य बातें दी गई हैं। मूल्य २॥

कहानी-कला

इस पुस्तक में कहानियों की रचना कैसे होती है, इसका आकर्षक ढंग से, एक-एक बात का प्रेमचन्द जी तथा 'प्रसाद' जी आदि प्रसिद्ध कहानी-लेखको की कहानियों मे से उद्धरण देकर वर्णन किया गया है। जो लोग कहानी लिखना सीखना चाहते हैं उनके लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है। मूल्य १॥)

वैदेही-वनवास

यह 'हरिऔध' जी की करुण-रस-प्रधान सर्वश्रेष्ठ रचना है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते आप करुण-रस के सागर में इतने निमग्न हो जायँगे कि आपकी आँखों से आँसू गिरने लगेंगे। लेखक ने एक-एक पंक्ति इसकी आँसू पोंछ-पोंछ कर लिखी है। ग्रंथारंभ में काव्य-संबंधी अनेक बातो का दिग्दर्शन कराते हुए लेखक ने २५ पेज की भूमिका भी लिखी है। सभी पत्र-पत्रिकाओं ने इस पुस्तक की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। सचित्र व सजिल्द पुस्तक का मूल्य २।)

श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस,
काशी।